ज्ञानामृत प्रवचन

प्रवक्ता–अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

(1)

मैं ज्ञानमात्र हूं, मात्र ज्ञानका ही परिणमन मुझमें संभव है, ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमन हो, यही मेरी रक्षा है, जिसकी निशानी है निर्विकल्प अलौकिक परम संतोषका अनुभव।

ज्ञानामृतपाने उद्यवन का ज्ञान–इस आत्माको आवश्यक है ऐसे ज्ञानामृतका पान करना कि जिससे अज्ञानजन्य संताप शांत हो जाय। जितना भी जीवको संताप है वह सब अज्ञान का फल है। जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा न समझना, उससे विपरीत समझना, इस बात में दुःख होना प्राकृतिक बात है। यदि दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं तो अज्ञान अन्धकार को दूर करें, सत्य ज्ञान का प्रकाश पाये तो वहाँ संताप नहीं ठहरते। तो ऐसा ज्ञाना मृत का पान बने। काहे के द्वारा? कटोरी गिलास से नहीं, किन्तु अपनी ज्ञानवृत्ति के द्वारा। ज्ञान में ज्ञान स्वरूप समा जाय यह ही है वास्तविक अमृत का पान। तो उस ही के प्रसंग में यहाँ इस प्रथम निबंध में चार बातों पर प्रकाश पड़ रहा है–मैं क्या हूँ, मुझमें क्या हो सकता है, मेरी रक्षा किसमें है, और मेरी रक्षा हो गई या रक्षा का उपाय पा लिया, इसकी निशानी क्या है? ये चारों परिज्ञान आत्म हित के लिए बहुत उपयोगी हैं। मैं कौन हूं, इतनी ही बात नहीं जानी गई तो फिर सखी किसको करता? मुझमें फिर क्या सम्भव है, जब यह ही परिचय न हो तो मैं अपने में पौरुष क्या कर सकता हूँ? किसमें मेरी रक्षा है, यह ज्ञात ही न हो तो रक्षा का उपाय कौन करेगा? और मेरी रक्षा का उपाय बन गया, मैं ठीक सही मार्ग पर चल रहा, इसका कोई चिह्न भी समझ में न आये तो कैसे यह संतोष करेगा और कैसे यह अपने ज्ञान पथ में बैठेगा? तो देखो ये चार बातें समझ लेनी बहुत उपयोगी हैं।

''मैं क्या हूँ'' प्रथम जिज्ञासा का सामधान–अब उन चार बातों में से पहली बात पर ध्यान दीजिए–जिज्ञासा हुई कि मैं क्या हूँ? मैं ज्ञानसात्र हूँ। मात्रका अर्थ है–केवल, सिर्फ याने जो मेरे में स्वभाव है बस वही मैं हूँ, इसमें निषेध किसका किया गया? जो विकारभाव हैं, नैमित्तिक भाव हैं, पराश्रित भाव हैं उनको मना किया गया कि ये मैं नहीं हूँ। अभेददृष्टि में तो यह निर्णय है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, पर कुछ भेददृष्टि से परखें तो इस ज्ञान के साथ ज्ञान के सहभावी अनेक गुण विदित हुए हैं। मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं दर्शनस्वरूप हूँ, चारित्र रूप हूँ, आनन्द रूप हूँ, सम्यक्त्वरूप हूँ, अनेक बातें समझी जा सकती है, पर वे सब अनेक बातें भी अभेददृष्टि से निरखने पर मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा ही समझाा जायेगा। भेददृष्टि में तो गुण अनेक हैं तो उन अनेक गुणों में से ज्ञानमात्र की ही भावना क्यों बनाई गई? इसका कारण यह है कि यदि हम अपने में किसी अन्य गुण स्प से अपने को मानकर चलें तो ज्ञान को छोड़कर अन्य गुण के जानने की बात नहीं आती। तो जाने बिना, अनुभवे बिना अन्य गुणोंको मैं क्या समझा सकूँगा? इसलिए सर्व गुणों में से ज्ञान गुणको ही एक छांट लें, और अपने को यह अनुभव करें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमात्र अनुभवने में आत्मा का सर्वात्मक अनुभव बन सकता है और यहां कोई पराधीनता भी नहीं बनती, क्योंकि ज्ञान के ही द्वारा जानना है और ज्ञान के ही रूप में सब गुणों से जानना है, इस कारण मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी बराबर दृष्टि बनी चली जाय। यह तो है प्रथम जिज्ञासा समाधान–अब दूसरी बात लीजिए।

''मुझमें क्या सम्भव है'' द्वितीय जिज्ञासा का समाधान–अब दूसरी बात लीजिए। मुझमें कौन सी बात सम्भव है? जब अपने को ज्ञानमात्र तका तो उस ही प्रकार से यह उत्तर आयगा। मुझमें मात्र ज्ञान का ही परिणमन सम्भव है। अपने को देखा जा रहा है ज्ञानस्वरूप। और कोई भी वस्तु परिणमे बिना रहती नहीं और मैं हूँ ज्ञानस्वरूप। तो मुझमें जो परिणमन बनेगा वह ज्ञानरूप परिणमन ही बनेगा। मेरे में ज्ञानपरिणमन ही सम्भव है। अन्य परिणमन मुझमें सम्भव नहीं। देखो जीव में भले ही विकार तो होते जाते हैं, पर यह तका जा रहा है इस विधि में कि मेरे में अपने आपसे ही अपने में परका आश्रय लिए बिना क्या संभव है? तो यह केवल जाननहारकी स्थिति सम्भव है। यहाँ विकारादिक सम्भव नहीं। तो दूसरा प्रश्न था, जिज्ञासा भी थी कि मेरे में क्या सम्भव है? देखो यह जीव मानता तो सब कुछ है कि मेरे में सुख भी आता है, दुःख भी आता है, आनन्द भी मिलता है, सर्व बातें समझ तो रहा है, मग रवह सब ज्ञान के उपयोग की करतूत है और वे मोहयुक्त उपयोग के विकार है। क्योंकि सबमें ज्ञानपरिणमन बना हुआ है। मुझमें दुःख है, इसका अर्थ क्या है कि मैंने परपदार्थों को अपनाने का विकल्प बहुत किया। यह ही तो कष्ट है, जीव में और है क्या? अपने अपने में देखो–हम आप सब जीव ये अपने में हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, इनमें कष्ट की क्या बात है? कहाँ से कष्ट आयगा? कष्ट क्या कोई बाहरी चीज है? जो किसी बाहरी पदार्थ से आये, बस एक ऐसा विकल्प किया कि जिससे मोह रागद्वेष विकल्परूप बन गया, ज्ञान के ऐसे परिणमन से ही कष्ट हो रहा, कष्ट कहीं बाहर की चीज नहीं, किसी बाहरी वस्तु से आता नहीं किन्तु अपने में उस प्रकार का विकल्प बनाया और कष्ट होने लगा। तो जो कुछ भी और–और आतें सोची जा सकती हैं वे सब ज्ञान के ही परिणमनस्वरूप हैं। तो यही बात अन्त में आयी कि मुझमें ज्ञान का परिणमन ही सम्भव है और कुछ सम्भव नहीं। यह जीव अज्ञानवश बहुत बड़े वैभव को अपनाता है और उसमें दुःखी होता है। जिस समय वैभव मिला हुआ है उस समय में भी यह जीव सुरक्षित नहीं है। उसके मोह के विकल्प में, राग के विकल्प में बरबादी कर रहा है यह प्राणी। तो जहाँ मोह है वहाँ क्लेश, राग है वहाँ क्लेश, द्वेष है वहाँ क्लेश। तो यह क्लेश की विडम्बना मेरे ज्ञान के परिणमन के माध्यम से ही तो बन रही है। तो ज्ञान का परिणमन ही उनमें सम्भव है। मुझमें अन्य बात सम्भव नहीं है।

''किसमें अपनी रक्षा है'' तृतीय जिज्ञासा का समाधान–अब तीसरी समस्या को निरखिये–तीसरी बात यह पूछी गई है कि मेरी रक्षा किसमें है? देखो यह जीव ज्ञान का परिणमन करने के सिवाय और कुछ नहीं कर पाता। भले ही हमारे विकार के निर्माण में परउपाधिका संग आवश्यक है और पर पदार्थ में उपयोग देकर हम अपने को कष्ट में ही डालते हैं। हम आप भगवान को पूजने रोज–रोज क्यों आते? सुबह हुआ, नहाया धोया, मंदिर में आते प्रभु भक्ति करते, सब लोग बड़ा शोरसा मचाते, सब अपनी–अपनी धुन में पूजा कर रहे हैं। अगर किसी की शोर से स्वयं को बाधा आती है तो वह खुद जोर से बोल बोलकर पूजा करने लगता है। कभी तो ऐसा गम नहीं खाते कि अरे वही तो पूजा है जो रोज–रोज करते, वही तो मन्दिर है, वही तो भगवान हैं। कभी ऐसा तो मन नहीं मानता कि आज न जावें दर्शन, पूजन करने। क्यों ऐसा करते? यों करते कि यहाँ शान्ति मिलती है। प्रभु के गुणों का स्मरण होता है। बाहर के मोह रागद्वेष के विकल्प वहाँ टूट जाते हैं सहज आनन्द प्राप्त होता है।

ते बात यह क्या हुई यहाँ? जिसका हम पूजन करते, ध्यान करते वह है विशुद्ध ज्ञान का परिणमन और यहाँ भी उनका चिन्तन करके 'ज्ञान का ही परिणमन चल रहा है। तो अपना ज्ञान–परिणमन सुधारने के लिए मन्दिर में हम आते हैं। देखो मन्दिर आने का

प्रयोजन समझ लो। लक्ष्य, प्रयोजन समझे बिना यह मन्दिर का आना भी आपके लिए बोझ ही कहलायगा, उससे मार्ग न मिल पायगा। तो इसका प्रयोजनन समझ लो। ज्ञान के परिणमन के सिवाय और कुछ कर सकते नहीं? जब ज्ञान का परिणमन ढंग से न हो तो क्लेश होता है, ढंग से हो तो शान्ति मिलती है। वह ढंग क्या है कि हम तो ज्ञान में ज्ञान स्वरूप को ही जानें। किसी भी पर पदार्थ में मोह रागद्वेष का लगाव न रखें, शान्ति मिल जाएगी। तो अब इतने से ही समझ गए होंगे कि हमारी रक्षा है तो ज्ञान का किस तरह परिणमन हो, उसमें रक्षा है कि ज्ञान ज्ञानका ज्ञानरूप से परिणमन करे, याने विशुद्ध ज्ञाता दृष्टा रहे इसमें मेरी रक्षा है। ज्ञात दृष्टा रहना, आनन्द स्परूपका उपयोग रखना वह एक ऐसा महान दृढ़तम दुर्ग है कि जहाँ कषाय बैरियों का प्रवेश नहीं हो सकता। तो मेरी रक्षा कहाँ हुई, मेरे ज्ञान का ज्ञान रूप ये ही परिणमन बने, बस यही मेरी रक्षा है। जगत में देख लो एक ओर से दूसरी ओर तक। जो भी दुःखी है वह मोह रागद्वेष रूप जीवन की वजह से दुःखी है और दुःखी भी प्रायः सब हैं। कोई कहे कि हम दुःखी नहीं होते, इस दूसरे का विकल्प हम लगा लेते हैं, तो अलग लगा क्या? कोई किसी पर कितनी करुणा करे, कितना भी कोई नाते रिश्तेदार समझाये, कितने ही मैत्री सम्बन्ध बढ़ाये, पर यह कभी नहीं किया जा सकता कि भाई तुम्हारा परिणमन मैं कर देता हूँ। सबका अपना–अपना परिणमन है और वह परिणमन ज्ञान द्वारा प्रकट हो रहा। सो ज्ञान का परिणमन है। अब यह ज्ञान का परिणमन ज्ञान रूप में ही रहे, ज्ञात दृष्टा रहे, ज्ञान भाव मेरा स्वरूप वही ज्ञान में बसे तो इस जीव को कोई कष्ट नहीं हो सकता। तो रक्षा अपनी इसमें है कि ज्ञान ज्ञानरूपमें रहा करे।

''अपनी सुरक्षा का चिन्ह क्या है?'' चतुर्थ जिज्ञासा का समाधान––अब चौथी बात सुनो, मेरा ज्ञान ज्ञानरूप में ही बर्त रहा है और अब मैं सुरक्षित हो गया हूँ। मेरे को अब किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। इसकी निशानी क्या है? कैसे समझें कि मेरी रक्षा हो गई? उसकी निशानी है ''निर्विकल्प अलौकिक परमसन्तोष का अनुभवन।'' मेरे को ज्ञान जगा है, मेरे ज्ञान में ज्ञानस्वरूप समाया है। इसकी पहिचान क्या है? खुद ही जान पायेंगे दूसरा न जान सकेगा। इसकी पहिचान है परमसंतोष का अनुभव। वह संतोष कैसा है? निर्विकल्प और अलौकिक। देखिये––भोजन करते समय जो सुख मिलता है वह सुख विकृत दशा है या अविकृत दशा है। विकृत दशा है। जो जो काम हम करते चले जा रहे हैं उन कामों में हमको लाभ कुछ नहीं है। अपनी रक्षा है अपने को संतोष मिलेगा तो निजस्वरूपका भान करें और उसमें ही मग्न होने का पौरुष बनायें। जब तक ज्ञान में ज्ञानस्वरूप समाया रहता है तब तक जीव को अलौकिक संतोष होता है। तो इस ही संतोष के अनुभव में सामर्थ्य है कि वह भव–भव के कर्मों को दूर करता है।

चर जिज्ञासाओं के समाधान में ज्ञानामृतपान की योजना––यहाँ अपने को समझने के लिए चार बातें कही गई हैं कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। उनका अनुभव बने कैसे? मेरे में मात्रज्ञान का ही परिणमन होता है, मेरे में किसी बाहरी चीज को आफत नहीं लगी। ज्ञान में ज्ञानरूप से ही परिणमन होता है। ज्ञान का परिणमन ही मुझमें सम्भव है––दूसरी यह बात समझें। तीसरी बात क्या समझें कि मेरी रक्षा किसमें है? लाखों करोड़ों का वैभव जोड़ लें, तो क्या इसमें मेरी रक्षा है? अच्छी पार्टी समागम जुट जाय तो क्या इसमें मेरी रक्षा है? मेरी रक्षा है मेरे ज्ञान में ज्ञानदेवता समाया रहे। ज्ञान का विशुद्ध सहजस्वरूप क्या है? ज्ञान ज्ञान में बतर्तता रहे, इस भाव में मेरी रक्षा है, और उसकी निशानी है निर्विकल्प सन्तोष का लाभ। तो इसका अधिकाधिक प्रयोग करते रहना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। मैं ज्ञान को ही कर सकता हूँ और ज्ञान को ही भोग सकता हूँ, ऐसी अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि हो तो यह

कहलाता है ज्ञानामृतका पान करना, जिससे कि यह जीव अमर हो जाता है। सब लोग कहते हैं और चाहते हैं कि मैं अमर हो जाऊँ, पर अमर होने की विधि यह है कि जो मेरा स्वरूप है उसका भान हो, यह मैं हूँ ऐसा परिचय हो, संतोष हो तो समझो कि हम ज्ञान परिणति में आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। सो ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमते रहने में अपनी अमरता है।

(2)

मुझमें खोटे से खोटा यही सम्भव है कि अज्ञानरूप (विकल्परूप) से परिणम लूँ, यो ज्ञानका अज्ञानरूपसे परिणम जाना ही मेरा विघात है, जिसकी निशानी है इन्दियविषय या नामवरी में चित्तका रमना।

विषय कषायके विकल्पों में आत्मप्रभुकां विघात––यहाँ यह विचार चल रहा है कि मुझमें खोटी से खोटी बात किसी भी प्रकार से हमको क्या बना सकती है? देखो जब कोई धैर्य की ओर बढ़ता है तो अधिक से अधिक मेरे पर क्या विपत्ति आ सकती है, क्या परिणमन हो सकता है? उसकी यह जीव कल्पना करता है और उसे मानकर उसे तुच्छ जानकर धैर्य लाता है। तो यहाँ विचारें कि मेरे में खोटी से खोटी बात क्या सम्भव है? खोटी से खोटी यह बात सम्भव है कि मैं विकल्परूप परिणमता हूँ। मेरे में खोट, कषायें आयी हैं, आप सब अपने–अपने में देखें कि मेरे में खोट कितनी कि मैं अज्ञानरूप परिणम रहा हूँ। जितने विकल्प हैं वे सब अज्ञान कहलाते हैं। तो इस ज्ञानका ऐसा यह सब कुछ परिणमन अज्ञान हो रहा है, बस यही मेरी हत्या है, मेरा विघात है सो जानें तो सही। देखो आज हैं इस भवमें और आर्तध्यान व रौद्रध्यान में समय गुजार दे तो भला बतलावो इस भवके लिए भी मैंने क्या पाया? तो अपने आपपर दया करके अपनी ऐसी परिस्थिति बनायें कि जहाँ ऐसी उमंग बने कि मैं अज्ञानरूप, विकल्परूप न परिणमूँगा। मैं तो जैसा शाश्वत जिस स्वरूप हूँ उस रूप से ही मैं रहूँगा। देखो सब संकट दूर हो जाते हैं। तो ज्ञानका अज्ञानरूप परिणमा लेना बस यही मेरा विघात है। हां, जैसे पहली विधि बतायी थी कि मेरी रक्षा किसमें है और उसकी निशानी क्या है? तो यहाँ एक यह बात खोज निकालें कि मेरी बरबादी किसमें है? और उस बरबादी की निशानी क्या है? मेरी बरबादी है अज्ञानरूप होने में। परको अपनाया, राग बनाया, यही बरबादी है। देखो मोह करना कितना सरल लग रहा है लोगों कों? कुछ अटक ही नहीं लगती। झट मोह करते हैं, वहाँ कुछ बीच में ध्यान भी नहीं है। कितना सरल जंच रहा है मोह, कितना सस्ता लग रहा है राग करनाख पर यह याद करना चाहिए कि मोह और राग करते समय में हम अपने आत्मा की अनन्त हिंसा कर रहे हैं। कहाँ तो ज्ञानस्वरूप भगवान वह आत्मा आनन्दनिधान, यह आत्मतत्त्व और इसको न जानकर बाह्य पदार्थों में रागद्वेष मोह करके हम अपना कितना विघात कर रहे हैं? नहीं मानने को तैयार होता यह मोही प्राणी। जैसे किसी छोटी बच्ची से कहा कि तू तो लड़का है तो वह झट कह उठती––हट मैं क्यों लड़का होऊँ? और किसी लड़के से कहो कि तू तो लड़की है तो वह झट कह उठता–हट, मैं क्यों लड़की होऊँ? तो जिस प्र्याय में है, उस पर्याय के खिलाफ अपने को मानने में वह तैयार नहीं होता। यह जीव मोह में रंगा है, राग में रंगा है तो यह मानने को तैयार नहीं होता कि मोह से ही मेरी बरबादी है, राग से ही मेरे लिए कष्ट है। राग और मोह छोड़े तो कष्ठ से छुटकारा होवे। जैसे कोई बच्चा खाने की चीज लिए है और उस पर दो–चार बच्चे उस चीज को छुड़ाने के लिए उस पर हावी हो रहे हैं तो वह बच्चा चिल्लाता है, रोता है, दुःखी होता है। पर वह बच्चा अगर अपनी मुट्ठी खोलकर उस चीज को बाहर फेंक दे तो उसके उस विषयक सारे कष्ट तुरन्त दूर हो जायें। फिर उसका वे उद्दण्ड बच्चे क्या कर सकेंगे? फिर कुछ प्रसंग ही नहीं। तो यह

जीव अपने अज्ञान भाव से मोह बसाये है, राग बसाये है, उसका कष्ट भोग रहा है और भीतर से वह कष्ट की जड़ को छोड़ना नहीं चाहता। सो दुःखी कौन हो रहा? यह खुद ही दुःखी हो रहा। यदि संकटों से छुटकारा पाना है तो अपना अज्ञानरूप परिणमन मत करो। जो बात जैसी है, खुद जैसे हैं, यह लोक जैसा है वैसा ही समझ लें। अगर नहीं समझ सकते तो इसमें विघात है, बरबादी है।

आत्मविघात की निशानी––जीव की बरबादी की मूल निशानी यह है कि इसका चित्त किसी इन्द्रिय विषय में जा रहा है या अपनी नामवरीके सोचने में जा रहा है। दो निशानी बरबादी की बतला रहे हैं। भीतर में बरबादी हो रही है, मैं अज्ञानरूप परिणम रहा हूँ, इसकी निशानी क्या है? इन्द्रिय विषयों में चित्त लगाना। स्पर्शन विषय सुहाये, खााने–पीमें रसीली चीजें सुहायें, सुगंधित तेल फुलेल लगायें, अच्छे–अच्छे रूप देखना सुहाये। अरे अच्छा–अच्छा कुछ नहीं है, कल्पना में जैसा आ गया सो अच्छा। अच्छे शब्द सुहायें, यह निशानी है इस बात की कि निरंतर बरबादी की बात चल रही है, अथवा नामवरी में चित्त जाय, मेरा ऐसा यश फैले, मेरी ऐसी कीर्ति हो, मेरे नाम पर धब्बा न लग जाए, मेरा खूब प्रक्ट गुण प्रकाश फैले, कुछ भी बात रखें, लोग मेरा नाम लेते रहें, मेरी बात सबके चित्त में जम जाये, यदि ऐसी धारणा है तो वहां कष्ट है। यह तो बरबादी की निशानी है। सो भाई कष्टों से छुटकारा पाना है तो सम्यग्ज्ञान बनाओ और उस ज्ञान के द्वारा अपना उपयोग निज सहज ज्ञान प्रकाश में रखो, कोई भी कष्ट हम में नहीं है।

(3)

अनादि अनन्त अहेतुक सहज चैतन्य स्वभाव के आश्रय में ही सम्यक्त्व का आविर्भाव है, पर या परभाव के आश्रय से तो अनर्थक विकल्प का ही प्रादुर्भाव है, अतः आत्म स्वभाव के आश्रय में ही आत्मा का कल्याण है।

सम्यक्त्व के आविर्भाव में आश्रेय तत्त्व–सम्यक्त्व का आविर्भव कैसे होता है यह बात बहुत ध्यान से, प्रमुखता से समझनी चाहिये। कुछ भी भाव उत्पन्न होने के लिये किसी न किसी का आश्रय होता ही है। यह उपयोग, कही न कही लगता ही है। तो जब उपयोग अपना व्यापार निरंतर करता ही रहता है, तो हमें इस व्यापार में ही यह समाधान पाना है कि उपयोग का कौन सा व्यापार सम्यक्त्व की उपत्ति कराता है? साथ ही यह भी जान लिया जायेगा कि उपयोग का कैसा व्यापार विकल्प उत्पन्न करता है, सम्यग्दर्शन का क्या स्वरूप है? निर्विकल्प, अखंड एक सहज चैतन्यस्वरूप आत्म तत्त्व में 'यह मैं हूँ' इस प्रकार की आस्था होना इससे विपरीत आशय का दूर हो जाना यह बात पायी जाती है सम्यक्त्व में। तब सम्यक्त्व एक निर्विकल्प तत्त्व है। तो निर्विकल्प तत्त्व का आविर्भाव विकल्प से नहीं हो सकता। इतना तो सीधा गणित जैसा उत्तर है। निर्विकल्पभाव का आविर्भाव निर्विकल्प तत्त्व के आश्रय से ही सम्भव है। तो यहां इतनी बात तो आ ही गई कि सम्यक्त्व का आविर्भाव निर्विकल्प भाव के आश्रय से होगा। अ बवह निर्विकल्पभाव क्या है? अत्यन्त निर्विकल्प भाव याने विकल्प हो विकल्प मिटे, ऐसी परिणति की भी बात नहीं कर रहे, किन्तु जो स्वतः अखन्ड है, निर्विकल्प है उस सहज भाव के आश्रय से सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। सम्यक्त्व है अपने आपकी परिणति। अपने आपकी कोई भी परिणति किसी परके आधार में नहीं बनती। हां, इतनी बात अवश्य है कि यदि विकाररूप परिणति है तो वह किसी पर का आश्रय करके बनता है यदि ध्यक्त विकार का प्रसंग हो। और व्यक्त विकार का प्रसंग नहीं तो मात्र वास्तविक निमित्त के सन्निधान में इस जीव में अव्यक्त विकार होता है। सो विकार तो अवश्य नैमित्तिक है, पर वह भी इस जीव की भूमिका में ही होता है। फिर यहां तो सम्यक्त्व की बात कह रहे हैं। समीचीनता, स्वच्छ आशय, विपरीत

आशय से दूर होना–यह होता है निज निर्विकल्प सहज चैतन्य स्वभाव के आश्रय से। मेरा निजस्वरूप क्या है? चैतन्यमात्र। सहज चैतन्यस्वरूप यह है मेरा स्वरूप। मेरे आश्रय से ही सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है।

सहज चैतन्य स्वभाव की अनादिनिधनता–यह सहज चैतन्यभाव कब से आया है जीव में? जबसे जीव है तबसे ही यह सहजभाव है। जीव कबसे है? कोई भी सतपदार्थ पहले न हो और बाद में हो, ऐसा कभी नहीं होता। जो है वह अनादि से है। तो यह अपने आत्मा का चैतन्य स्वभाव भी अनादि है। इसकी आदि नहीं है। इस समय से चैतन्यस्वभाव बना ऐसी यहां कुछ भी वार्ता नहीं है और जब यह चैतन्यस्वभाव अनादि है तो यह अनन्त भी है। जो सत् है, जिसकी आदि नहीं उसका अन्त नहीं। जिसकी आदि नहीं उसका अन्त कभी हो ही नहीं सकता। भले ही कुछ प्रश्न उठें कि देखो अज्ञानभावकी आदि तो नहीं, अनादि से अज्ञानभाव चला आ रहा है। उसका अन्त कैसे हो गया? मिथ्यात्व व कषाय कब से है? इसकी भी आदि नहीं। अनादि काल से जीव के साथ मिथ्यात्व और कषायभाव लगे चले आ रहे हैं, किन्तु उनका अन्त तो हो जाता है। तो ऐसी आशंका उठे तो उसका समाअनादिधान यों पाइये कि कोई भी अज्ञानभावअनादि से नहीं होता। मिथ्यात्वभाव, कषायभाव से नहीं होता। उसकी परम्परा अनादि से है। जैसे वर्तमान में जो क्रोणभाव जगा तो जो क्रोध भाव जगा क्या वह अनादि से है? आज जगा, किसी बाहरी पदार्थ का विचार करके जगा, उसका जो रूपक है, उसकी जो मुद्रा है वह तो अभी हुई है, इसी प्रकार अन्य–अन्य कषायें भी अनादि से नहीं हैं, लेकिन इनकी परम्परा अनादि है। कषायें अनादि से चली आ रही हैं। इसके बाद दूसरी कषाय, उसके बाद अन्य कषाय, इसी प्रकार मिथ्यात्वभाव भी अनादि परम्परा से चला आ रहा है, न कि जो मिथ्यात्वपर्याय है वह पर्याय अनादि से है, क्योंकि मिथ्यात्वपर्याय तो प्रत्येक क्षण नवीन–नवीन होती चली जा रही है, क्योंकि उस मिथ्यात्वके आशय में प्रभाव भी नया नया, नये–नये समय में बनता चला जा रहा है। तो कोई भी पर्याय अनादिसे नहीं होती। हां पर्यायों की संतति अनादि से है। यो यहां निज चैतन्यस्वभाव की बात कही जा रही है यह चैतन्यस्वभाव अनादि से है, सहजभाव है, एकस्वरूप है, अखण्ड है, ध्रौध्यांश वाली बात कही जा रही है। यह चैतन्यभाव अनादि है, और ऐसा अविचल निरखकर एक सहज भावका जब आदि नहीं है तो उसका अन्त भी कभी नहीं हो सकता। सारांश यह समझिये कि किसी भी सत् पदार्थ का आदि नहीं है तो उसका अन्त भी नहीं है। सत् अनादि अनन्त होता, तो सहजस्वरूप भी अनादि अनन्त होता।

सहज चैतन्यस्वभाव की अहेतुकता––जो अनादि अनन्त है उसका कोई कारण नहीं, वह तो स्वयं अपने आपसे है। जिन बातों में कारण होता है उनकी आदि है और अन्त है, जितनी कषायें मिथ्यात्व मोह आदिक विकार हैं वे सहेतुक हैं अर्थात् कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवद्रव्य में उस योग्य उपादान में किसी समय हुए हैं। यद्यपि ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि से देखा जाय तो ऋजुसूत्रस्य चूँकि एक समय की पर्यायको ही निरखता है, दूसरा कुछ देखता ही नहीं है, इसके मायने यह नहीं हैं कि दूसरा कुछ है ही नहीं। द्रव्य हैं, पूर्वकी पर्यायें हैं, उत्तर की पर्यायें हैं, सब कुछ होने पर भी ऋजुसूत्रनयका विषय तो एक समय की पर्याय है। तो जब ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि में तका जा रहा है तो पर्याय अहेतुक कही जाती है, क्योंकि पूर्व उत्तर का कुछ भी इस नयकी निगाह में नहीं है, लेकिन क्या अहेतुक है, इतना ही सत्य है? इसका एकान्त करे तो वह असत्य दर्शन हो जाता है। ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि से पर्याय अहेतुक है, लेकिन द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टि से जिस द्रव्य में पर्याय हुई है वह द्रव्य पहले भी है, बाद में भी है। और द्रव्य में पर्याय निरखोजो कि द्रव्यार्थिकनयके भेदरूप

व्यवहारनयकी दृष्टि से कहा जायगा कि पूर्व पर्याय संयुक्त द्रव्य वर्तमान पर्याय का उपादान कारण है और जो विकार वाली पर्याय है उसमें कोई पर उपाधिका संसर्ग निमित्त है तो परिणमन तो सहेतुक है, पर सहजस्वभाव सहेतुक नहीं, वह अनादि अनन्त है तथा अहेतुक है, ऐसे अनादि अनन्त अहेतुक सहज चैतन्यस्वभाव का जो भव्य प्राणी आश्रय करते हैं उनके सम्यक्त्वका आविर्भाव होता है।

परपदार्थ या परभाव के आश्रय से विकल्प का प्रादुर्भाव––अब इसकी विपरीत बात समझिये–जो पुरुष इस सहज चैतन्यस्वभाव आश्रय नहीं करता है तो किसका आश्रय कर रहा होगा? आश्रय तो जरूर है, वहां या तो पर पदार्थ का आश्रय है या परभाव का आश्रय है। पर पदार्थ का आश्रय तो कहलाता है व्यवहार से, परभाव का आश्रय होता है निश्चय से। यह निश्चय है अशुद्धनिश्चयनय। जो जीव किसी परपदार्थ का आश्रय कर रहा याने मकान, धन धान्य, स्त्री–पुत्र मित्रादिक बाह्य पदार्थ का आश्रय कर रहा है उस पुरुष के सम्यक्त्व का आविर्भाव नहीं होता, किन्तु विकल्प का ही आविर्भाव होता है। यहां एक बात और समझनी है कि जब–जब विकल्प का आविर्भाव है तब तब सम्यक्त्व की उत्पत्ति का सम्बंध नहीं है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति अखण्ड निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव की अनुभूतिपूर्वक होती है। पश्चात् भले ही अनुभव न रहे और सम्यक्त्व बना रहे, ऐसा हो सकता है, लेकिन प्रथम ही प्रथम जब सम्यक्त्व का आविर्भाव होता तो अखण्ड निर्विकल्प सहज ज्ञानस्वभाव, सहज चैतन्यस्वभाव का आश्रय करता हुआ यह जीव निर्विकल्प होते में सम्यक्त्व की उत्पत्ति पाता है। किसी भी पर पदार्थ का आश्रय किया जाय तो वहां विकल्प ही जगता है। जैसे लोग बाह्य पदार्थ का ध्यान रखकर जो कुछ वृत्ति करते हैं, विकल्प की ही वृत्ति करते हैं–इससे यह बात शिक्षा की मिलती है कि हम आपको अगर आत्मा का हित चाहिए तो पर पदार्थ और परभाव का आश्रय करना उचित नहीं है। यहां थोड़ी इतनी बात समझ लो कि भगवान वीतराग देव, परमात्मदेव यद्यपि ये पर पदार्थ हैं, व्यक्ति दूसरा है, लेकिन वह तो स्वच्छ है। जैसा स्वभाव है वैसा ही विकास है, इसलिए परमात्म प्रभु के सहज विकास का जो उपयोग करते हैं, उनकी भक्ति करते है तो पर पदार्थ के नाते से नहीं करते, किन्तु अपने ही सहजस्वभाव का वह दर्पण है, इस नाते से करते हैं। इसलिए भगवद्भक्ति में यह बात न कहना कि यह नोकर्म है या यह पर व्यक्ति होते से भक्ति हेय है। पर व्यक्ति के नाते से प्रभुता की भक्ति नहीं की जाती, किन्तु जो उस स्वरूप को समझता है वही तो स्वरूप की भक्ति करेगा। सो भले ही प्रभु दूसरा जीव है, फिर भी जैसे यहां लोग अपने मित्र, पुत्र रिश्तेदार का आश्रय करते हैं क्या समझकर कि यह मेरा रिश्तेदार है, यह मेरा पुत्र है, तो यहां कुछ परपदार्थ ही तो ध्यान में लाए गए। इस तरह परपदार्थों के ढंग से प्रभु का आश्रय नहीं किया जाता। प्रभु का आश्रय होता है तो अपने ही स्वरूपका दर्पण समझकर किया जाता है। तो जिसको आत्महित चाहिए उसका कर्तव्य है कि वह किसी परका या परभाव का आश्रय न करे, एक अनादि अनन्त अहेतुक अखण्ड सहज ज्ञानभाव चैतन्यस्वभाव का आश्रय करे।

स्वहित के अर्थी का तात्कालिक उद्यम–भैया! अपने आप कभी अपने में निरखिये––मेरा हित किसी पर या परभाव के आश्रय में नहीं है। जगत में मित्र परिवार रिश्तेदार लोक के वे कहलाते हैं जो किसी कषायभाव में सहयोग देते हैं। जो कषाय से निवृत्त होने में सहयोग पहुँचा सकता है वह अलौकिक आत्मा होता है। लौकिक जनों का प्रसंग तो एक मिथ्यात्व मोह कषायभावकी उत्पत्ति और वृद्धि में ही सहयोग देता है, सो वह सब सम्बन्ध बरबादी का कारण है और मोह कषायभावसे हटने की प्रेरणा जिससे मिले वह पुरुष अलौकिक है। उनको ही साधु संत ज्ञानी शब्द से पुकारा गया है। तो हमें आश्रय

किसका करना? निश्चय से तो अनादि अनन्त अहेतुक अखण्ड एक सहज स्वभाव का आश्रय करना है और व्यवहार में इस चैतन्यस्वभावके अनुरूप जहाँ विकास हो चुका है या जो जो पुरुष इस विकास में लग रहे हैं उन पुरुषों की भक्ति उपासना सत्संग करना है।

(4)

कृपालु अभूतार्थनय भूतार्थनयके निकट पहुंचाकर अपनी बलि दे देता, कृपालु भूतार्थनय अखण्डस्वानुभवके निकठ पहुंचाकर अपनी बलि दे देता, कृपालु स्वानुभव आनन्दधाममें परमविश्राम देकर कृतार्थ कर देता।

स्वानुभव के लिये भूतार्थनयका साक्षात् व अभूतार्थनय का परम्परया सहयोग––देखिये अपने आपके कल्याण की बात स्वानुभ से प्रकट होती है। हमारा अन्तिम पौरुष स्वानुभव है। जहाँ स्वानुभव जगता है वहाँ संकट नहीं ठहरते। भव–भव के बाधे हुए कर्म निर्जीर्ण होते, मोक्षका मार्ग स्पष्ट इसके होता है। परखा––स्वानुभवका अर्थ क्या? निज सहज चैतन्यस्वभावरूप स्वका अनुभव होना और बहुत सीधे सरल शब्दों में यों समझ लीजिए कि जैसे हम नाना पदार्थों का ज्ञान किया करते हैं, बाहर में रहने वाले पदार्थों का खम्भा, दरी, चौकी, भींत आदिकका जो ज्ञान किया जाता है तो इसका ज्ञान न होकर, इसका ज्ञान न कर एक ज्ञानस्वभाव का ही ज्ञान बना रहे, ऐसा ज्ञान अगर कुछ क्षण बना रहता है तो वही कहलाती है स्वानुभवकी दशा। जिस ज्ञान में ज्ञानस्वरूप ही समाया हुआ है अर्थात् जो ज्ञानव्यापार निज सहज ज्ञानस्वरूपका ही ज्ञान कर रहा है वह स्थिति कहलाती है स्वानुभवकी स्थिति। अब आप समझिये कि ऐसी परम अमृतमय स्वानुभवकी स्थिति क्या विकल्प द्वारा बनेगी? विकल्प द्वारा तो न बनेगी। मगर स्वानुभवसे पहले क्या निर्विकल्प दशा रहती? दोनों बातें समझनी हैं। स्वानुभव विकल्प द्वारा नहीं होता और स्वानुभव विकल्प के बाद होता है। तो स्वानुभव में पहिले निर्विकल्प दशा नहीं। सो इतना तो मानना ही होगा, फिर भी स्वानुभव से पहले कोई विकल्प रहता तो है ही, इस बात की मना नहीं कर सकते हैं। अब उस विकल्प में सोचना है कि वह विकल्प अगर विकल्प बढ़ाने वाला विकल्प है तो उसके बाद स्वानुभव नहीं होता और वह विकल्प विकल्प को समाप्त करने वाला विकल्प है तो उस विकल्प के बाद स्वानुभव होता है। ऐसा कौन सा विकल्प है जो विकल्प को समाप्त करने की पद्धति रखता है इस ही विकल्प को कहते हैं भूतार्थनय।

भूतार्थनय व स्वानुभव की निकटता––इस प्रसंग में ये दो नय हैं––अभूतार्थनय और भूतार्थनय। भूतार्थनय भी विकल्परूप है और अभूतार्थनय भी विकल्परूप है, मगर भूतार्थनय तो विकल्प समाप्त हो इस पद्धति से विकल्प करता है, यह पद्धति अभूतार्थनय में नहीं। अधिक से अधिक अभूतार्थनय का कला–कौशल है तो यह कि वह भूतार्थ की ओर पहुंचा दे, इस तरह की पद्धति रहती है। तो भूतार्थनयका विषय है अखण्ड अवक्तव्य एक सहजभाव। देखिये भूतार्थ और स्वानुभव––इन दोनों का क्षेत्र निकट–निकट है, पर सीमा जरूर पड़ी है भीतर। जैसे कोई दो खेत हों, हैं वे पास पास, मगर वे दो खेत कब कहलाते? जब कही बीच में थोड़ी बहुत भी सीमा हो। तो भूतार्थनय विकल्प है, स्वानुभव अविकल्प स्थिति है। मगर भूतार्थनयके निकट है स्वानुभव। भूतार्थनयसे जाना गया एक अखण्ड निज सहज ज्ञानस्वभाव। तब तक इस एक के परखनेका विकल्प है तब तक तो है भूतार्थनय की स्थिति और जहाँ इस एकका भी विकल्प नहीं रहता है, जहाँ ज्ञानमें निज सहज ज्ञानभाव एकदम अवगाहित हो गया वहाँ है स्वानुभवकी स्थिति। यों समझिये कि जैसे किसी इष्ट क्षेत्र में पानी भरना है तो उसके पास एक छोटी मेड़ लगा दी जाती है। मेड़ पर वह पानी पूरा रुका हुआ है। वह पानी रुका तो है, पर उस इष्ट क्षेत्र के निकट।

जैसे ही वह सीमा हटे, उन दो क्षेत्रों में भेद डालने वाली सीमा जैसे ही समाप्त हुई कि वह सारा जल इष्ट क्षेत्र में अवगाहित हो जाता है। ऐसे ही हमारा अभीष्ट है स्वानुभव। उस स्वानुभवमें यह सहल ज्ञानभाव अवगाहित हुआ है। तो उसके निकट अभी एक रूप विकल्प की सीमा में भूतार्थनय के आश्रय में वह सहजभाव छिपा हुआ है और भूतार्थनयसे इस सहजज्ञानभाव की परख है, ज्ञप्ति है, बस एक वह एकरूपता सीमा बनी है और जहाँ एकका भी विकल्प न रहा इस प्रकार से ज्ञान में सहज ज्ञानस्वभाव का अवगाहन हुआ, बस वही है स्वानुभव की स्थिति।

भूतार्थनयकी अनुपम कृपा––देखिये अब नयोंकी कृपायें परखते जाइये। अभूतार्थनय भी कृपाशील है, भूतर्थनय भी कृपाशील है और स्वानुभव तो कृपाशील है ही। इस आत्मा का उद्धार उपयोग एक स्वानुभव से होने में भूतार्थनयकी कृपा तो परखिये––इस भूतार्थनयकी कैसी अनुपम कृपा है कि इस भूतार्थनय अखण्ड स्वके अनुभव के निकट पहंचा दिया। और अखण्ड स्वके अनुभवके निकट पहुंचाकर अपना विनाश कर लिया। कोई दूसरे का उपकार मरकर भी करे तो उसको लोग कहते हैं कि बड़ा निरपेक्ष उपकारी है। अपना भी विनाश कर लिया, पर किया दूसरे का उपकार। तो भूतार्थनय जिसकी दृष्टि में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप––ये 9 तत्त्व भूतार्थनयसे जाने गए हुए हैं। तो ये सक्यक्त्व के कारण बताये गए हैं, स्वयं सम्यक्त्वरूप नहीं है। यद्यपि भूतार्थनय परिचय सम्यक्त्वके आविर्भाव के निकटकी अवस्था है और यह है भूतार्थनयकी स्थिति। तो भूतार्थनयकी अनुपम कृपा देखिये कि इस नयने इस उपासक को अखण्ड स्वके अनुभव के निकट पहुंचाया और अपने आपका विनाश कर लिया। स्वानुभव के समय भूतार्थनयकी दृष्टि नहीं रहती। भूतार्थनयसे भी अतीत है स्वानुभव। देखो स्वानुभव तो अनुपम कृपाशील है ही। भूतार्थनय की भी कैसी विलक्षण कृपा है?

अभूतार्थनय की अनुपम कृपा––अब थोड़ा अभूतार्थनयकी कृपा भी परखिये। अभूतार्थनय असत्य नहीं कहलाता वह एक उद्दण्डता है कि किसी प्रकार का अभूतार्थनय असत्य हो तो सारे अभूतार्थ को असत्य कह दे, यह एक अज्ञान की महिमा है। अभूतार्थनय तो ऐसा अनुपम कृपाशील है कि इसकी कृपा बिना तो यह भूतार्थ में नहीं पहुंच सकता और भूतार्थ में न पहुँच सके आत्मा तो स्वानुभव में भी नहीं पहुँचा जा सकता। अभूतार्थनयका अर्थ क्या है? अखण्ड एक सहज स्वभावका परिचय कराने के लिये उससे भेदपूर्वक जो भी वर्णन किया जाता है वह अभूतार्थ है। जो स्वयं निरपेक्ष न हो ऐसा अर्थ है अभूतार्थका। अभूतार्थ नयके बिना न कोई पढ़ सकता, न बाँच सकता, न समझ सकता, न सुन सकता, कुछ भी बात नहीं चल सकती। अभूतार्थनय अर्थात् भेदप्रतिपादक, गुणप्रतिपादक, पर्यायप्रतिपादक, अभूतार्थनय, इन्होंने 7 तत्त्व और 9 पदार्थों का ज्ञान कराया।

अब इन तत्त्वों का ज्ञान करके हम भूतार्थ पद्धति का सहारा लेते हैं तो हम और आगे बढ़ते हैं। आपको अगर पहले दो तीन कक्षाओं में किसी पटवारी ने पढ़ारा या छोटे मास्टर ने पढ़ाया और आप आगे बढ़ बढ़कर कालेज से एम० ए० पास हो हुए तो क्या आपको इन सबके प्रति कहना चाहिए कि अरे स्कूल फिस्कूल सब बेकार। उनसे क्या होता है? सीधे कालेज में जावो, बढ़िया तत्त्व तो यहाँ होता है ऐसा सबसे कहो तो वह सबका उपकार है या बरबाद करने वाला वचन है। ऐसे ही आप समझिये कि अगर हम अभूतार्थका आश्रय करके, उसका उपयोग करके 7 तत्त्व 9 पदार्थ की बात सीख गए और उसके बाद आगे बढ़ कर भूतार्थ से वहाँ एकत्व समझा गया तो क्या हम दुनिया भरको यह कहें कि अभूतार्थके निकट बिल्कुल मत जावो, वह भारी झूठ है, धोखा है, ऐसा कहने में हम क्या सबपर कृपा कर रहे हैं या सबका बिघात कर रहे हैं? सब अपनी–अपनी पदवी के अनुसार

बात है। सर्वप्रथम तो अभूतार्थनय से हमको पथ मिलता है और उसकी कृपा देखिये कि जब यह अभूतार्थ भूतार्थ में पहुँचा देता है तो वह स्वयं अपना विनाश कर लेता है। तो अभूतार्थ से भूतार्थ में आयें, भूतार्थ से स्वानुभव में आयें, यह है पद्धति एक स्वानुभव के पाने की।

(5)

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता कभी हो ही नहीं सकता अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के पर्यायरूप परिणमता नहीं, इस सम्यक् बोध में अहंकार और कायरता दोनों का परिहार है।

अहङ्कार व कायरता की परेशानी दूर करने की उपाय की जिज्ञासा––जीवों को अहंकार और कायरता ये दो प्रकार के भाव सताते रहते हैं। अहंकार से शान्ति नहीं और कायरता में शान्ति नहीं। अहंकारी पुरुष यद्यपि कुछ देखने में कर्मठसा नजर आता है। किन्तु वहाँ शान्ति का लेश नहीं, कायर पुरुष कायर ही दिख रहा है, सर्व अपराध, अन्याय, अत्याचारों को सह लेता है, किन्तु उसके अन्तर में रोष की अग्नि प्रज्वलित रहा करती है। तो संसारी जीवों को अहंकार और कायरता–इन दो भावों ने सता रखा है। ये दो भाव कैसे मिटें? कौनसा बोध मिले कि अहंकार और कायरता दोनों भाव समाप्त हो जायें? जरा इसकी खोज तो करो। भले ही कुछ उपाय समझ में आयेंगे––शरीर का बल बढ़ा लो, अपनी पार्टी बढ़ा लें, और–और प्रकार के साम, दाम, दंड, भेद रच लें, कायरता मिट जायगी। भले ही ऐसा कोई प्रयोग करें, लेकिन इसमें कायरता मलिनता नष्ट नहीं होती। और जिसे समझ रखा कि कायरता मिट गई, कुछ कुछ कर्मठ बन गया वहाँ वास्तव में कुछ भी कर्मठता नहीं है, थोड़ी देर को एक काल्पनिक शूरता ला दी : लेकिन फिर वही कायरता आ जाती है।

जैसे घर में रहने वाले लोग जब किसी खुशी का समाचार सुनते हैं, धन वैभव बढ़ाने या कुटुम्ब परिवार में कुछ तरक्की हो, कुछ भी बात सोचते हैं जो जरा वहां कुछ कर्मठसा और वीर धीरसा नजर आता है, लेकिन कुछ ही काल में जब इष्टवियोग हुआ या अन्य कुछ प्रतिकूलतायें आयीं तो यह प्राणी कायर बन जाता है। फिर लौकिक उपायों में कोई भी उपाय ऐसा नहीं है। कि जो इस जीवकी कायरता मिटा सके और इसका अहंकार बहुत कठिन है। जब कुछ पुरुष मिलकर किसी की बहुत बड़ी तारीफ करने लगते हैं तो वह नम्र बन जाता और अहंकार न हो, ऐसी वाणी बोलता, लेकिन क्या वहाँ यह बात सत्य है कि अहंकार न रहा हो? वह एक परिस्थिति है। किसी को चाहिए तो छाछ और देवे कोई दूध तो वह तो बड़ी शान्ति, समता गम्भीरता सब कुछ दिखायगा और चाहता हो दूध और छाछ दे तो पता पड़ जायगा कि इसमें कितनी धीरता है, गम्भीरता है? तो लौकिक बाहरी वार्ता से कुछ निर्णय नहीं बन पाता, इसके लिए तो तात्विक बोध चाहिए तब अहंकार और कायरता ये दोनों समाप्त हो सकते हैं।

परका अपने में अकर्तृत्व व खुदका पर में अकर्तृत्व, सुविदित होना अहंकार व कायरताकी परेशानी मिटने का उपाय–वह बोध क्या है जिसको पाकर अहंकार व कायरता मिट जाती है? कई प्रकारों में बोध मिलेगा, पर एक यह प्रकारदेखिये जहाँ वस्तुवों का सही स्वरूप जाना कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र सत् है, किसी भी पदार्थ की सत्ता किसी अन्य पदार्थ की कृपापर नहीं हुई। जो है सो अपने आप है, और जो है सो अपने में उत्पाद व्यय कर रहा है। तो इनसे यह ही निष्कर्ष तो मिला कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं होता। इसके मायने यह है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य के गुण का उत्पाद नहीं करता। और स्पष्ट समझना चाहें तो समझिये कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को पर्यायरूपसे नहीं

परिणमाता। जो परिणमेगा तो अपने स्वरूपसे परिणमेगा। जैसे कुम्हारने घड़ा बनाया, लोकव्यवहारमें ऐसा कहा जाता है वहां कुम्हारने अपने हाथका खूब व्यापार किया और उस व्यापार की प्रेरणा से उस व्यापारका निमित्त पाकर मिट्टी भी पसरी, बढ़ी, घढ़ा बना।

देखो देखनेमें कैसी प्रेरणा लग रही है कि उस मिट्टी को कुम्हार दबा रहा है, घसीट रहा है। जैसे हाथ चलाता वैसी मिट्टी बढ़ रही है। इसपर भी मिट्टी घड़ेरूप परिणमी तो क्या कुम्हारकी परिणति लेकर परिणमी? मिट्टी तो अपनी परिणति से घड़ारूप परिणमी। भले ही निमित्त संग बिना ऐसा नहीं परिणम सका, कुछ भी परिस्थिति हो, फिर भी परिणमा तो वह खुद खुद में ही। प्रत्येक द्रव्य अपने आपकी पर्याय पसे परिणमते हैं। कोई किसी का उत्पाद नहीं करता, कर्ता नहीं होता, अन्यकी पर्याय रूप से नहीं परिणमता, यह है एक बोध जिससे प्रेरणा क्या मिलती है कि कोई द्रव्य किसी दूसरे का कर्ता नहीं होता है। तो मैं क्या किसी द्रव्य का कुछ कर दूँगा? कुछ नहीं कर सकता। मैं अपने में अपना काम करता हूँ, किसी बाहरी पदार्थकी परिणति से नहीं करता हूँ। देखो निमित्त नैमित्तिक योग है, फिर भी देखते हैं एक द्रव्य की ओर नजर देकर तो जब कोई वस्तु किसी दूसरे का परिणमन करता नही तब यह बोध जग जाने पर अहंकार आयगा ही कैसे?

अहंकार की निष्पत्ति और विपत्ति––अहंकार आता है तब, जब यह कल्पना रहा करती है कि मैं इस पदार्थ को यों करता हूँ, यों कर दूँगा, सो जब परपदार्थ के विषय में करने की दम भरता है, यह जीव विकल्प करता है तो इसको अहंकार होता है––मैंने ऐसा किया, मैं ऐसा कर रहा हूँ, मैं ऐसा कर दूँगा, इस नरकके विकल्प में इस जीव के अहंकार भाव जगता है और जैसे–जैसे अहंकार होता है वैसे–वैसे अहंकारके फल में क्लेश ही मिलता है, शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि अहंकार विकारी भाव है, विषम भाव है। विकारी भाव में निराकुलता कहाँ से आये? समस्त विकार आकुलतारूप ही होते हैं। इतना भी तो अन्तर नहीं पड़ता कि राग करने से दुःख होता। यों कहो कि राग ही खुद दुःख है, इतना अन्तर नहीं कि राग करो तो उससे दुःख होता। अरे यह राग हो दुःखरूपताको लिए हुए है। पहले समयमें राग करें, अगले क्षणमें दुःख हो ऐसा नहीं होता। जब ही अंतरंग में राग भाव आता है उसी समय इस जीव को क्लेश होता रहता है। जब अहंकार भाव आया तो इस जीव को कष्ट ही होता है। अपने ज्ञानस्वभाव से हट गया, किन्हीं बाह्य असार विकल्पों में लग गया और उसका अहंकार बन गया। बड़ों–बड़ोंका भी अहंकार न टिक सका। रावण जैसे अहंकारी भी इस धरती पर न टिक सके, बड़े–बड़े धीर वीर पुरुषों को भी आखिर इस भवसे जाना पड़ा। तो हम आप किस बातका अहंकार करते हैं?

देखिये शिक्षा लेनी है तो जहाँ चाहे ले सकते हैं। सड़कसे जब गुजरते हैं और बहुतसे सूअर मिलते हैं, किसी का पेट मलसे भिड़ा, किसीका मुख, किसीके कान, तो उन्हें देखकर एक अहंकार तो मिट जाता है, किस बात का अहंकार कि ऐसी पर्याय यदि मिल गई तो फिर क्या हाल होगा? आज हम आप मनुष्य हैं तो जैसा चाहे विकल्प बनाते हैं। न होते मनुष्य, ऐसी स्थितियोंमें होते तो वहाँ अहंकारकी क्या बात थी? जगतके जीवोंकी दशाओं का परिचय मिले तो उससे बहुत शिक्षा मिलती है।

चारों अनुयोगों से आत्महिकी शिक्षाके प्रसंग में प्रथमानुयोगकी उपयोगिताका दिग्दर्शन––आचार्यों संतोंने जो चार अनुपयोगों में ग्रन्थों का निर्माण किया तो यों ही फोकट बात न समझिये। उनसे बड़ा बल है, कहीं ऐसा एक एकान्त न बनायें कि कोई एक यही अनुयोग या द्रव्यानुयोग, बस यही–यही देखो, यही पढ़ो, यही सुनो। अरे उसके शब्द रट गए तो कहो ठठेरे के कबूतर जैसे बन गये। उसके शब्दोंसे भीतरके परिवर्तन नहीं हो पाये, कषाय जैसीकी तैसी जग रही और कहो कषाय दबी रहती है तो जब कषाय उगलती है

तो तेज उगलती है। तो एक पक्ष ही तो मत पकड़ो। अरे सभी अनुयोगोंका आदर करे। सभी प्रथमानुयोगके ग्रन्थ पढ़नेसे, चरित्र पढ़ने से एक उत्साह जगता है। हम आप लोग धर्मपालनके प्रसंगमें उत्साहक्यों नहीं कर रहे कि हम चारों प्रकारके अनुपयोगोंका उपयोग नहीं करते। जब कोई चरित्र पढ़ते मान लो श्रीराम का चरित्र पढ़ते हैं और उनकी निरखते हैं, अन्तमें सब कोई कैसे–कैसे अलग हुए, कैसे निर्वाण पाया, तो वहाँ अपनी बुद्धि ठिकाने आती है कि अरे हम उद्दण्डता न करें, अन्याय न करें, अपने आत्मा की सावधानरूप रखै, ऐसी एक शिक्षा मिलती है। अरे इस जीवनमें न मिला लाखोंका धन तो उससे इस जीवका बिगाड़ क्या? थोड़े ही में गुजारा कर लेना है। जो गृहस्थ धर्मका पालन करता है वह बड़ी शान्ति समृद्धिमें बना हुआ है।

करणानुयोग के अध्ययन की उपयोगिता का दिग्दर्शन––करणानुयोगकी जब अध्ययन करते हैं तो करणानुयोगी की बहुत बड़ी विशेषता है। प्रभाव डालने के लिए याने दुनियाका कितना बड़ा क्षेत्र है, लोक कितना बड़ा है यहाँ सर्वत्र उत्पन्न हुए, यह कितनासा प्रेम क्षेत्र. हैं, यह किसने सिखाया? करणानुयोगने। काल अनादि अनन्त है और कैसे–कैसे कालको रचनायें बनती हैं, इतना काल मोह राग में गंवाया, यह किसने सिखाया? करणानुयोगने। जीवकी दशायें कैसी–कैसी विचित्र होती हैं, एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक नरकादिक गतियोंमें कैसे–कैसे जीव होते हैं, यह बात किसने सिखायो? करणानुयोगने। अब जरा उनका प्रभाव देखिये––जब ज्ञान आता है कि यह सारा लोक क्षेत्र बहुत बड़ा है। जैसे अभी आजके विज्ञानसे भी समझिये तो कहाँ अमेरिका, कहाँ रूस, कहा क्या, और कितना बड़ा हिन्दुस्तान और आगमसे समझे तो 343 घनराजू प्रमाण लोकमें आजकी यह परिचित दुनिया लोकके आगे समुद्रके बिन्दुके बराबर है। इतने सारे लोकमें हम कहाँ–कहाँ नहीं पैदा हुए और कहाँ–कहाँ नहीं पैदा हो सकते हैं! एक इस थोड़े से क्षेत्र का ही मोह करने से इस जीवको क्या मिलता है? जिस जगह पैदा हुए कुछ थोड़ी सी जगह, जिसके अंदर में हुए कुछ घन–सम्पदाका क्षेत्र मिले तो उससे क्या पूरा पड़ता है? यह तो एक पूर्व पुण्य की परिस्थिति है जो प्राप्त हुई है। इसका कोई भरोसा है क्योकि यह सदा साथ रहेगा?

लोकका परिज्ञान करने से वैराग्य में, ज्ञानमें कितनी वृद्धि होती है? अच्छा कालका आप परिचय बनाओ। कितना बड़ा कला है? अनादि अनन्त, याने बड़ा भी न कहो, बड़े की भी कुछ सीमा होती है कि इतना बड़ा। मगर यह तो अनन्त है, अनन्तको हम बड़ा नहीं कह सकते। जिसकी सीमा नहीं, जिसका अन्त नहीं वह तो अनन्त है। तो अनादिकालसे कितना समय हमने गुजार डाला और आगे हमारा कितना समय गुजरेगा? इन सारे समयों के बीच अगर 50–60 वर्ष की यह जिन्दगी पायी है तो यह तो समुद्र के बिन्दुके बराबर भी नहीं बैठता। इतनेसे समयके लिए नाना विकल्प कषायें मचाकर अपने आजके भवको बरबाद कर देना, निष्फल गंवा देना, यह तो उचित नहीं है। कालका जब परिचय होता है तो इस जीव को बहुत शिक्षा प्राप्त होती है। जीवों की दशाओं का परिचय देखो। जीवस्थान मार्गणा आदिक विधियों के अनुसार एकमें दूसरे को घटाकर इस जीव की दशाओं का परिचय पाते हैं। कैसी–कैसी जीव दशायेंह"? आज हम मनुष्य हैं, कभी पेड़–पौधे भी थे, निगोद भी थे। तो यह बात निश्चित है कि हम आज मनुष्य न होते, पेड़–पौधा होते, कीड़ा–मकोड़ा होते तो आज ये कष्ट काहे को भोगने पड़ते? वहाँ तो उन तुष्छ भवों जैसे कष्ट भोगते। यहाँ हैं तो यहाँ मनुष्यभवमें नाना विकल्प बना–बनाकर कष्ट भोगे जा रहे हैं तो जीवकी दशाओं का परिचय होनेसे ज्ञान और वैराग्यकी वृद्धि होती है।

चरणएानुयोगकी उपयोगिता का दिग्दर्शन––अच्छा चरणानुयोगकी बात देखो––वह सबक सिखा रहा है कि हे भव्य प्राणी, जो तेरे में विकार व्यक्त होते हैं, जिन विकारों में तू

झुंझला जाता है, संतप्त हो जाता है। जानता है ना कि ये व्यक्त विकार बनते किस तरह हैं? जगत के इन दृश्यमान पदार्थों में उपयोग जोड़ते हैं तो ये विकार प्रकट होते हैं। तो तू इनमें उपयोग मत लगा। यही तो चरणानुयोग की शिक्षा है कि तू उपचरित निमित्त में अपना उपयोग मत जोड़। उपयोग न जुड़े इन बहि रंग कारणों में, इसके लिए त्याग की विधि बतायी गई हैं। यद्यपि किसी बाह्य वस्तुका त्याग करनेपर भी किसी के उसका विकल्प रह सकता है, मगर गधा को मिश्री मीठी नहीं लगती तो इसके मायने यह तो नहीं कि मिश्री मीठी ही नहीं होती। यदि किसी अज्ञानी को त्याग की बात नहीं जचती है तो इसका अर्थ यह न होगा कि त्याग निष्फल होता है और त्यागका कोई अर्थ नहीं है। पूजामें पढ़ते ही हैं कि ''जो संसार विषे सुख होता तीर्थङ्कर क्यों त्यागे?'' संयम की आराधनाकी तीर्थङ्करोंने, इन बाह्य वस्तुओं का त्याग किया, तो विधि तो यही है कि बाहरी आश्रयभूत पदार्थोंका त्याग करें, कुछ न कुछ लाभ है ही। सम्यग्ज्ञान सहित त्याग है तो मोक्षमार्गका लाभ है। सम्यक्त्वरहित त्याग है तो भी सद्गतिका तो लाभ है। तो चरणानुयोग यहाँ सिखाता है कि तुम्हारा व्यक्त विकार इन बाहरी पदार्थों के आश्रय से होता है, इसमें उपयोग जोड़ने से होता है तो तुम इनमें उपयोग मत जोड़ो और सामने रहे जाय और उपयोग न जोड़े, यह कठिनाई लगती है ना, तो हम उनका त्याग करें।

द्रव्यानुयोगकी उपयोगिता दिग्दर्शन––द्रव्यानुयोगके दो विषय हैं––अध्यात्म और न्याय। न्याय भी द्रव्यानुयोगकी बात कहता है, न्यायसे श्रद्धा पुष्ट होती है। जहाँ युक्तियोंसे वस्तुका स्वरूप समझा वहाँ उसकी समझ बड़ी दृढ़ हो जाती है। केवल आगम के आधारसे वस्तुस्वरूपको माना जाय तो वहाँ पुष्टता नहीं जंचती। यद्यपि आगममें शङ्का न करनी चाहिए। पर यों ही ऊपरी वचनमात्र श्रद्धा भी न करनी चाहिए, यह बात उसके बनती। कि जिसने प्रयोजनभूत तत्त्वों को अनुभवसे परख लिया कि यह वास्तविक तत्त्व है, सही स्वरूपमें है, उस ही को सर्व आगमके प्रति आस्था होती है, फिर भी अगर युक्तिबल से वस्तुका स्वरूप समझ लिया जाय तो उसकी श्रद्धा और दृढ़ हो जाती है। तो द्रव्यानुयोगका भेद जो दार्शनिक शास्त्र है उसका परिचय इस जीवकी श्रद्धाकी दृढ़ता के लिए है और अध्यात्मशास्त्रसे अपने आपके उपयोग द्वारा अपने आपमें परीक्षा करे, परख बनावे। वह तो बहुत ही एक पक्का निर्णय देता कि वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। देखो सुनी बात सही होती कि झूठ? सही कम होती झूठ ज्यादह होती और सुनी बातसे देखी हुई बात सच होती कि नहीं। सच होती, मगर कभी–कभी देखो हुई बात भी झूठ होती है। किन्तु अनुभवमें आयी हुई बात सही है, उसे कोई नहीं डिगा सकता।

अनुभूत विषय में श्रुत और दृष्टि से भी अधिक पुष्टता––जैसे सुनी हुई बात तो झूठ होती है, यह सबकी समझमें है। बात कुछ हो, सुनाई कुछ गई, उसने दूसरेको सुनाया तो कुछ और बढ़ाकर सुनाया, उसने सुनाया तो और बढ़ाकर सुनाया, ऐसे ही अलग–अलग कानामें बात गई तो वह झूठ–झूठ बढ़ती चली जाती है। सुनी हुई बातका कोई विश्वास भी नहीं मानता। कहते हैं ना अरे तुम्हारे सुनी हुई बात है कि देखी हुई बात है? तब वह कहता है कि भाई देखी हुई तो नहीं है, सुनी जरूर है। तो उसे सुनकर ही वह अप्रमाण बता देता है। अच्छा यह बताओ––देखी हुई बात क्या सभी सच होती हैं या झूठ भी निकलती हैं।

जरा एक दो कथानकोंसे देखो। देखी हुई बात कैसे झूठ? कोई पुरुष अपना एक तीन वर्षका बालक छोड़कर बाहर धन कमानेके लिए चला गया। और 13–14 साल बादमें आया और आकर घमें घुसा और देखा तो वह माँ तो अपने बेटके साथ सो रही थी और वह पुरुष यह समझ रहा था कि यह तो किसी परपुरुषके साथ सो रही है। देखने में आया

ऐसा, मगर वहाँ देखो विकारका कोई लेश नहीं उस माँ के और सुनो गुजरात प्रान्तका एक किस्सा है। एक राजाने किसी गरीबका उपकार किया तो गरीब तो बड़ा उपकार मानमे हैं, वे घरके सारे उसका बड़ा उपकार मानते। अब राजाके पापका उदय आया, सो उसका राज्य छिन गया, तो गरीब बनक रवह इसी धुनमें घूम रहा था कि मैं कैसे अपना राज्य वापिस लूँ? तो उसने एक सेना जोड़ी, कुछ बल लगाया, कुछ लड़ाई ठानी, लेकिन वह विजय न पा सका। और जाड़े के दिन होनेसे उसको ठंड लग गई। ठंडसे त्रस्त हुआ राजा जैसे मानो निमोनिया हो गया, बहुत परेशान हुआ, तो उस गरीब के घर के पास से गुजरा। उस समय पुरुष तो न था पर उसकी स्त्री घरमें थी। तो उस गरीब स्त्रीके पास कोई विशेष साधन तो था नहीं ठंडसे बचानेका सो उस गरीब स्त्री ने कहा कि यहाँ ठंडसे बचानेका और कोई उपाय तो है नहीं, पर हाँ हमारे शरीर की गर्मी तुममें पहुँच जाय तो इस तरह भी तुम्हारी सर्दी का रोग दूर किया जा सकता है। तो उस समय बीचमें तलवार लगाकर वह स्त्री और राजा दोनों एक साथ सो गए। अब उस स्त्री का पुरुष आता है और देखता है तो उसको देखकर उसे बड़ी शड्का हो जाती है। उसे देखी हुई बात सच तो लग रही है, लेकिन थोड़ी ही देर में उसने परखा कि यहाँ तो विकारका रंच भी काम नहीं। यह बेचारा तो मर ही रहा है और आड़में तलवार लगा ली। तो ऐसी कितनी ही बातें देखनेको मिलेंगी जो दिखती कुछ हैं और वहाँ बात कुछ है। अच्छा तो सुनी बात भी झूठ हो सकती, देखी बात भी झूठ हो सकती, पर अनुभवमें आयी हुई बातको देखो––कोई एक पुरुषके दो स्त्रियाँ थीं, छोटी स्त्रीके तो बालक था और बड़ी के बालक न था तो उसे ईर्ष्या हुई और अदालत कर दी कि यह बच्चा तो मेरा है। अदालत में युक्ति से भी उस बड़ी स्त्रीने बताया कि देखो पतिका जो धन है उसमें स्त्रीका भी हक होता ना? और सभी लोग कहते है कि यह बालक इस पतिका है, तो जो पतिका धन है उसमें स्त्रीका भी हक है। यह मेरा बालक है। तो राजाने उसके न्यायकी तारीख दे दी। इतने में ही उसने उसका न्याय सोच लिया। और पहलेसे ही सिपाहियों को समझा दिया। अब वे दोनों स्त्रियाँ आयीं, लड़का भी साथ था, तो बड़ी स्त्री कहती है कि यह लड़का मेरा है और छोटी स्त्री कहती है कि यह लड़का मेरा है। तो वहाँ राजाने यह निर्णय दिया कि देखो लड़का पतिका है, पतिके धनपर स्त्रीका बराबर हक होता है, इस लड़केके दो टुकड़े बराबर बराबर कर दो और एक–एक टुकड़ा दोनों स्त्रियों को दे दो। तो सिपाही लोग नंगी तलवार लेकर उस लड़के के दो टुकड़ें करने के लिए तैयार हुए कि छोटी स्त्री बोल उठी––महाराज यह मेरा लड़का नहीं है, यह इसीका है, इसीको दे दो और उधर बड़ी स्त्री खुश हो रही थी––अच्छा न्याय हो रहा। तो अनुभवने बता दिया कि जो स्त्री मना कर रही उसका है यह बालक, बड़ी स्त्रीका नहीं है। तो अनुयोगोंकी चर्चावोंमें हम सर्वत्र लाभ पाते हैं। हमें आर्षपर, आगमपर आस्था होनी चाहिए और सब तरहसे हम अभ्यास बनाये तो हम अपने ज्ञान और वैराग्य का संतुलन ठीक रख सकते हैं।

वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचय में अहंकार व कायरता दोनोंका विनाश––यहाँ चर्चा चल रही है कि जगतके प्राणी अहंकार और कायरता––इन दोनों बातोंसे परेशान हैं। कोई उपाय है क्या ऐसा कि ये दोनों बातें समाप्त हो जायें। उस उपायमें बताया जा रहा है कि हम वस्तु के सही स्वरूपको जान लें, अहंकार खत्म हो जायगा। जितने लोग दिख रहे हैं ये कोई वास्तविक चीज हैं क्या? जो दिखनेमें आ रहे वे केवल जीव नहीं हैं, वे न केवल पुद्गल हैं, न केवल जीव हैं, न केवल कर्म हैं, किन्तु जीव, कर्म और शरीर––इन तीनोंका यह पिंडोला है। जैसे कि बिस्तर में दरी, गदेला, रजाई रहती है, ऐसे ही ये सब भोले–भोले मनुष्य भी बिस्तर बने बैठे हुए हैं। इनमें कोई सही पदार्थ है क्या कि ये जीव हों या शरीर

हों या कर्म। इन तीनका पिण्डोला है, ये मायारूप हैं। इनको निरखकर या ऐसा अपना स्वरूप समझकर कि मैं यह हूँ, अहंकार बन जाता है।

मैं धनी हूँ, गुणी हूँ, ज्ञानी हूँ, साधु हूँ, अमुक पक्षका हूँ, अमुक सम्प्रदायका हूँ, ऐसी भीतरमें वासना जगी तो अहंकार हो गया। और यह समझमें आया कि यह तो मैं कुछ नहीं हूँ। शरीर में शरीर है, कर्ममें कर्म है, मुझमें मैं हूँ। ऐसा निराला चैतन्यस्वरूप मात्र, इसमें दूसरा कोई वास्ता ही नहीं रखा, और यह मैं चैतन्यस्वरूप मात्र किसी परसे कुछ वास्ता ही नहीं रख सकता। तो मैं बाहर में कुछ कर ही नहीं सकता, यह ज्ञान जगता है तो उसके अहंकार न बन सकेगा। तो जैसे अहंकार मिटानेका उपाय है वस्तुस्वातंत्र्यका परिचय, ऐसे ही कायरता मिटानेका उपाय भी है वस्तुस्वातंत्र्यका परिचय। भले ही निमित्तसन्निधानमें विकार परिणाम होते, मगर इन विकारपरिणमनोंरूप परिणमने वाला तो यह मैं हूँ, दूसरा नहीं है। और सामान्यतया जब यह बोध हो जाता है कि मैं किसीका कुछ नहीं कर सकता तो दूसरे भी मेरे में कुछ नहीं कर पाते। बात तो दोनों ही जगह है। अन्य–अन्य पदार्थ अपनेमें अपना परिणमन करते हैं। जब कोई दूसरा मेरे में कुछ कर ही नहीं पाता तो अब यह कायरता क्यों जगेगी, कायरता उस परिचयमें होती है जहाँ यह बात समझ रहा हो कोई कि यह मेरा बिगाड़ कर देगा, यह मेरेको विपत्तिमें डाल देगा, किन्तु ऐसा है ही नहीं। कोई दूसरा मुझे विपत्तिमें नहीं डाल देता, मैं ही खुद क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि के परिणामों में रहता हूँ, इसकी आस्था रखता हूँ, खुद अपने आप दुःखी होता रहता हूँ, मेरेको कोई दूसरा दुःखी नहीं कर सकता। तो जब दूसरेके द्वारा मेरा कुछ नहीं किया जा सकता है, यह बोध होता है, तो वहाँ कायरता नहीं टिक सकती।

जगतके सब जीव इन दो अवगुणोंसे परेशान हैं–अलंकार भाव होना और कायरताका भाव होना। जो वस्तुस्वरूपको सही समझता है, क्षमा वही पुरुष कर सकता है। कायर पुरुष क्षमा भी नहीं कर सकता। अहंकार पुरुषके तो मोहविष चढ़ा हुआ है ना। उसको तो यह दम है कि मैं इस सारे विश्वका तोड़–मरोड़ कर सकता हूं। मेरेमें ऐसी माया है कि मैं सारे विश्वको तोड़–मरोड़ कर देता हूं। जो इतना अहंकार रखता हो वह दूसरे जीवोंके प्रति क्षमा का भाव कहाँ से ला सबता है? इसी तरह से जो कायर बन गया हो––मैं क्या कर सकता हूं दूसरे करते हैं सब कुछ, मेरा भी वही करता है सब कुछ, मैं किसी लायक नहीं हूं, ऐसा जिसने बोध बनाया हो उसकी कायरता कैसे मिट सकती है? तो देखो यह परिचय कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको कुछ करता नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुणमें उत्पाद कर नहीं सकता, और कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायरूप परिणम नहीं सकता। ऐसा जिसको परिचय हुआ है वही पुरुष अहंकार और कायरता––इन दोनों अवगुणोंको दूर कर सकता है।

(6)

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भोक्ता कभी हो ही नहीं सकता अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके पर्यायको कभी भी अनुभवता नहीं, इस सम्यक् बोधमें मिथ्या संतोष न रहकर सत्य संतोष होता है।

परका मुझमें अभोक्तृत्व व खुदका परमें अभोक्तृत्व के परिचयसे सत्य संतोषका लाभ––प्रत्येक जीव चाहता है कि मेरेका वास्तविक सन्तोष मिले। जितना भी ये जीव परिश्रम करते हैं संतोषके लिए करते हैं। संतोषमें इसके शान्तिकी समझ है। सो तो ठीक है, संतोष होना चाहिए, पर वास्तविक संतोष है क्या? इसपर तो विचार करो। संतोष आता कहाँसे? इस पर भी तो कुछ ध्यान दो। क्या किसी बाहरी पदार्थसे मुझमें संतोष आ सकता है? किसी भी अन्य पदार्थसे मेरेमें न द्रव्य, न गुण, न पर्याय, न किसी प्रकार का भाव प्रभाव

कुछ भी नहीं आता है। मैं ही स्वयं इन बाहरी बातों का आश्रय करके इनपर दृष्टि देकर अपने आप में कल्पनायें मचाता हूं और कल्पनामें संतोष दुःख पाया करता हूं। तो इतना तो निश्चित है कि जो मेरेमें आता है वह मेरे से ही आता है, किसी बाह्य वस्तुसे नहीं आता। और यह भी निश्चित है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमय हूँ, ज्ञानकी वृत्ति जगे यह ही मेरा काम है, ज्ञानकी वृत्ति जगे यह ही मेरा अनुभव है। संतोषका सम्बन्ध अनुभवसे है। जिस प्रकारका अनुभव बनेगा उसके अनुरूप संतोष और असंतोष प्रकट होगा। शान्ति किसी बाहरी वस्तुसे नहीं, संतोष भी बाहरी वस्तुसे नहीं, किन्तु अपने आपके अनुभवके आधारपर संतोष और असंतोष है। ज्ञान सच्चा बनायें, मैं क्या अनुभव कर सकता हूँ? मैं किसी बाहरी पदार्थ का अनुभव नहीं कर सकता।

बाह्य तो बाह्य ही है, पर ही है, उनसे मेरा संबंध नहीं, फिर अनुभव जैसी घनिष्टता उसमें आ ही कैसे सकती है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भोक्ता नहीं, मैं भी किसी अन्य पदार्थका भोक्ता नहीं, दूसरा भी कोई मेरा भोक्ता नहीं। मेरा अनुभव मेरेसे मेरी पर्याय में पर्यायका होता है। मैं अन्य किसीकी पर्यायको नहीं अनुभव सकता। मैं अपनी ही पर्याय को अनुभव सकता हूँ। एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यकी पर्यायका भवन ही नहीं है फिर अनुभवन कैसे हो? भवन और अनुभवन कोई अलग बात नहीं है। जो पर्यायका होना है उसे कहते हैं भवन और उस पर्यायके अनुसार ही सुख–दुःख आदिक कुछ भी होता है उसे कहते हैं अनुभवन। तो मैं किसी द्रव्यमें अपना भवन नहीं कर सकता, दूसरे द्रव्यका मुझमें कुछ होता नहीं। इसलिए कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको भोग नहीं सकता, जब ऐसा बोध जगता है तो इस बोधमें जीवको सत्य संतोष मिलता है।

मात्र खुदके ज्ञानस्वरूपको भोगनेकी श्रद्धामें सत्य संतोषके मार्गकी उपलब्धि––मैं किसी दूसरे पदार्थको भोग ही नहीं सकता। मैं ज्ञानको भोगता, अज्ञानको भोगता। जब अज्ञानभाव जगता तब विषयकषायके परिणाम बनते हैं, तो यह जीव उन विषयकषायके अनुकूल अपने में सुख–दुःख प्राप्त करता है। और सुखका भोगना, यह भी मेरे लिए सत्य संतोषकी बात नहीं। विषयोंका भोगना, इसमें तो संतोष नजर आता ही नहीं, सुख–दुःख दोनोंसे परे केवल अपने सहज आनन्दका अनुभव जगे तो इस अनुभवमें संतोष प्राप्त होता है। लोकव्यवहारमें लोग सोचते हैं कि मैंने भोजन भोगा, कपड़े भोगे, और और विषय भोगे, लेकिन जो विषयभूत पदार्थ हैं जब उनरका मेरेमें भवन ही नहीं, परणिमन ही नही ंतो मैं उनको भोग कैसे सकता? हाँ उनका आश्रय पाकर, विषय बनाकर अपनी कषायके अनुकूल जो कल्पना जगती है मैं उस कल्पनाको भोगता हूं। तो जब मैं किसी बाह्य पदार्थको भोगता ही नहीं, मात्र कल्पनाओंको ही भोग सकता हूँ तो अपना कल्पना ऐसी बनाये ंना, विचार ऐसा बनायें कि जो अपने सहजस्वभावके दर्शनमें बाधा न दे। यही तो एक जीवनपर विडम्बना है कि ऐसी खोटी कल्पना विचार बन जाता है कि जिन विचारोंमें भटककर यह जीव अपने स्वभावके दर्शनका स्वयं बाधक बन जाता है। स्वभावका दर्शन यही है एक अलौकिक लाभ। अपने–अपने स्वभावका दर्शन नहीं होता तब जीवमें व्याकुलता रहती है और अनेक पदार्थोंका विषय बना–बनाकर यह अपनेमें संतोष बनाये रहता है। तो चाहिए जीवस्वभावका दर्शन। यह बात यों साध्य है कि जब हम यह निश्चय कर लें कि मैं किसी पदार्थको नहीं भोगता, केवल अपने आत्माके स्वरूपको ही भोगता रहता हूं तो इस जीवको उसमें स्वाभावदर्शनकी रुचि उत्पन्न होती है, और जहाँ स्वभावका दर्शन है वहाँ इस जीवको सत्य संतोष प्राप्त हो जाता है।

(7)

प्रत्येक द्रव्य अपने आपकी परिणतिसे अपने आपमें अपने आपका कर्ता है अर्थात् स्वयं ही स्वयंमें स्वयंकी परिणतिसे स्वयंके पर्यायरूप परिणता है, इस सम्यक् बोधमें अनधिकृत्य अधिकार की दुर्वासना समाप्त हो जाती है।

अनधिकृत्य अधिकार जमानेके आशयकी विडम्बना–इस जीवको एक संकट और लगा हुआ है कि जिसमें अपना अधिकार नहीं है उसमें अपना अधिकार समझता है। यह एक बहुत बड़ी विडम्बनाका कारण बन गया। किसी भी बाहरी पदार्थमें मैं कुछ परिणमन कर दूँ, इस सम्बन्ध में मेरा क्या अधिकार है? सर्व पदार्थ स्वतंत्र सत् हैं, अपना–अपना उत्पाद व्यय लिए हुए हैं। सबके अपने–अपने भाव हैं, सबका अपना–अपना परिणमन है, मेरा तो किसी बालकपर भी अधिकार नहीं, मैं जैसा चाहूं वैसा चले ऐसा कभी हो नहीं सकता, क्योंकि वह स्वतन्त्र पदार्थ है। यह तो परस्परका मन मिलेका सौदा है। पुत्रने समझा कि मैं आज्ञा मानता रहूं पिताकी तो मेरेको बड़ा सुख मिलेगा, आराम मिलेगा, इसलिए पुत्र पिताकी कोई बात मान लेता है। पिता सोचता है कि यह पुत्र ठीक रहे, चले, इसको देखकर मेरेको बड़ा सुख मिलेगा और यह मुझे कभी सुख–शान्ति देगा, कुछ भी कल्पनायें बनाता है, उन कल्पनाओंके आधारपर पुत्रसे प्रीति करता है और कभी–कभी परस्परकी स्वार्थपूर्तियों के प्रसंग में कोई समझ बैठता है कि मेरा तो इसपर अधिकार है और अधिकार वास्तव में है जरा भी नहीं, और मानता है अधिकार। बस सबसे बड़ी विडम्बनाका मूल कारण यह हुआ, तो यह अनधिकृत पदार्थमें अधिकार माननेकी खोटी वासना जब तक समाप्त नहीं होती तब तक यह जीव समता शान्तिके मार्ग में प्रवेश नहीं कर सकता। तो चाहिए यह कि यह बात समझमें आ जाय कि मेरा किसी भी पर पदार्थ में कुछ भी परिणमन कर देनका अधिकार नहीं है।

अनधिकृत्य परपरिणमनपर निजका अनधिकार समझनेपर अनेक संकटोंसे छुटकारा–किसी भी पदार्थका परिणमन करनेका मेरा अधिकार क्यों नहीं है, यों कि प्रत्येक द्रव्य अपने आपका कर्ता है, मैं किसीको करता नहीं हूँ। भले हो कुछ योग मिल जाय ऐसा पुण्य योग कहो, किसी भी प्रसंगकी बात समझ लीजिए। मैंने कहा और आपने माना, एक योग जुड़ गया, तो मैंने कहा इसलिए आपने माना, यह कभी सम्भव नहीं। आप मानते हैं अपने आपमें अपना विचार बनाकर अपनी सुख साताके लिए और मैं करता हूं तो अपनी कल्पनाके अनुकूल अपने में अपनी कुछ बात समझ कर करता हूँ। एकका दूसरे के प्रति कुछ भी कर्तृत्वका सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अपने आप अपनेमें अपना परिणाम करता है।

देखो विषय पर्यायों में निमित्तनैमित्तिक भावको मेटा नहीं जा सकता, लेकिन निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी पदार्थ तो अपनमें अपना ही परिणाम करता है। इससे और अधिक विकट उदाहरण क्या पायेंगे कि तबला बजाने वाला तबलेपर कितनी जल्दी अंगुली मटकाता है और उसके अनुकूल उसमें से आवाज निकलती है, लेकिन अंगुलियाँ मटक गई, अंगुलियोंका सम्पर्क हो गया तो बात तो है वह अलग और उसमें जो आवाज निकलती है वह है एक अलग चीज। तो जो उस तबले में आवाज निकली सो वह भाषावर्गणाकी स्वतंत्र पर्याय है। यह पर्याय बन रही है तो अपनी परिणतिको लिए। उस शिल्प की प्रतीक्षा नहीं करता। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है और उस शिल्पी के हाथ ठोके बिना आवाज भी नहीं निकलती, इतना होने पर भी आवाज अपनेमें स्वतंत्र है। आवाजकी परिणति होनेके लिए किसी दूसरे द्रव्यकी अपेक्षा नहीं बन रही। याने दो द्रव्योंकी मिलकर एक परिणति नहीं होती। वहाँ केवल एक स्कंध ही अपनी परिणति को बनाता रहता है।

तो आप देखो परमार्थ दृष्टिसे तो किसी का किसी दूसरे पर कुछ अधिकार भी है क्या? कोई द्रव्य किसीको करता नहीं। कोई द्रव्य किसी में गुणका उत्पाद करता नहीं। स्वयं ही स्वयंकी पयार्यरूप परिणमता है। ऐसी सर्वपदार्थों की बात अनादिसे अनन्तकाल तक बनी हुई है। जब ऐसा यह सारा जगत है, किसीका किसी से मेल नही तब ऐसी परिस्थिति में हम अनधिकृत्यपर अधिकार जमायें यह अज्ञानता है। और भीतरमें ऐसी हठ होनेपर फल व्याकुलता है। इसलिए सर्व जगत के पदार्थोंका सही स्वरूप जानें, सर्वकी स्वतंत्रताको परखें और अपनी स्वतंत्रताकी आस्था बनाकर अपने आप अपनेको निरखकर अपना ही विशुद्ध परिणमन बनाते हुए अपनेको संकटोंसे मुक्त करें।

(8)

प्रत्येक द्रव्य अपने आपके अनुभवनसे अपने आपमें अपने आपका भोक्ता है अर्थात् स्वयं ही स्वयंमें स्वयंकी संभूतिसे स्वयंके पर्यायको अनुभवता है, इस सम्यक् बोधमें अनधिकृत्य रमणकी विडम्बना मिटकर सत्य संतृप्ति होती है।

परके भोक्तापनकी बुद्धि में मिथ्यासंतोषका संताप–जगत में जीवोंको एक विडम्बना यह लगी है कि वे मिथ्या सन्तोष में अपने आपको गर्क बनाये रहते हैं। जहाँ वास्तविकता नहीं विपरीत परिणमन है, विपरीत कल्पनायें हैं और उसमें वे अपना आराम समझते हैं, यह हमारी विपरीत संतोषमें चित्त लगानेकी बात कैसे मिटे? रोज–रोज विषयसाधन बनाते हैं, खाते हैं, खाते समय अच्छा लगता है। कल्पनायें जगती हैं, मानते हैं कि हम सुखी हो रहे, दुःख है मुझमें, व्याकुलता है मुझमें, इसकी परख उन्हें नहीं बन पाती, इस भोगोपभोगके प्रसंग में यह ज्ञान नहीं हो पाता कि हममें अशान्ति बसी है। अशान्तिको शान्ति समझा ली तो फिर अशांति से कैसे दूर हो सकते? दुःखको जो सुख समझ ले वह दुःखसे कल्पित सुखसे कैसे विरक्त हो सकता है? फल यह होता है कि उन अज्ञानकी चेष्टाओंमें लगे रहते हैं और अपना जीवन खो देते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपनी–अपनी पर्यायके अनुभवमें पड़ा हुआ है। खुदको ही भोगने वाला है, खुद ही स्वयं की पर्याय अनुभवता है, खुद ही में निजके भवनका अनुभवन होता है। तो मेरेमें किसी दूसरे की बात तो नहीं आ सकती, विषयका अनुभवन तो नहीं बन सकता। मैं अपने में अपनी कल्पनाको ही तो अनुभव कर सकता हूं, सो कल्पनायें मेरा स्वरूप नहीं है। ये कर्मकृत उपद्रव हैं, इनमें तृप्त होना यह जीवके लिए भलाईकी बता नहीं है।

प्रभुवत् अपना स्वरूप जानकर, निहारकर अन्तः प्रसन्न होनकी भावना–आनन्द पावो। जैसा प्रभुका स्वरूप है ऐसे ही स्वरूपको बनाकर आनन्द पावो। यह स्वरूप बनाया नहीं जाता, किन्तु अपनी स्वरूपदृष्टि करते–करते और स्वरूपदृष्टि जैसे दृढ़ हो उसके अनुरूप अपना व्यवहार बनाकर अपने स्वरूपमें मग्न हों, वहाँ वह शुद्ध पर्याय प्रकट होती है। प्रभुदर्शन में यह ही तो निरखना चाहिए कि हे प्रभो! मेरा कहीं भी कुछ भी आनन्द नहीं, कुछ भी संतोष नहीं, कहीं भी शान्ति नहीं। शान्ति तो है जैसा आपका स्वरूप है इस स्वरूपमें शान्ति है। यह स्वरूप मेरेको कैसे प्रकट हो, यह ही बात एक समझने की है, अपनेमें अनुभवनेकी है, अपनेको ऐसा स्वतंत्र अनुभवना हो तो ऐसा ही स्वभाव है मेरेमें तो सर्व बाह्य भावोंसे पर्यायोंसे दृष्टि हटाकर एक अपने आपके स्वभावमें दृष्टि लगायें। मैं सबसे निराला अविकार शृद्ध तत्त्व हूं। तो जब अपने आपके स्वरूपमें दृष्टि जगती है तो इस जीवको सत्य संतोष प्राप्त होता है और तक जो यह क्षोभ संताप करता आया है उसकी विडम्बना सब समाप्त हो जाती है। देखो सम्यग्ज्ञानमें ही कल्याण का मार्ग मिलेगा, अज्ञानमें कल्याणका मार्ग नहीं मिल सकता। इस जीनके साथ एक ज्ञान तो सदा रहता ही है पर ऐसी एक अशुद्ध परिस्थति है कि अनेक अवगुण भी इसपर लदे हुए चले जा रहे हैं। क्रोध,

घमंड, छल, कपट, ईर्ष्या, तृष्णा, आशा, प्रतीक्षा आदिक अनेक अवगुण इस जीवपर लदे हुए हैं। देखो गुण तो है एक ज्ञान और अवगुण लद गए अनेक, लेकिन ज्ञानमें ऐसा बल है कि यह ज्ञान अपने को संभाल ले तो ये अनेक अवगुण होकर भी इस ज्ञान की दृष्टिमें क्षणमात्रमें ध्वस्त हो सकते हैं, पर जिसको कुटेव ऐसी पड़ी हो कि अज्ञानसे ही प्रीति जगे, ज्ञानमें रुचि न जगे, उस जीवको संतोष अथवा शान्तिका मार्ग कैसे मिल सकता है? अपना स्वरूप देखो, अपने अन्दरमें अपनी सारी विधि समाई हुई है। हम अपनी विधिसे अपने आपपर अपने बलसे अपनेको सुखी और संतुष्ट बना सकते हैं। दूसरे की आशासे, दूसरेकी प्रतीक्षासे, दूसरे की कृपासे हम संतोष नहीं पा सकते। हमें संतोष मिलेगा तो अपनी कृपासे मिलेगा। मेरा वही तो स्वरूप है जैसा प्रभुका स्वरूप है। जाति तो एक है। बिरादरीकी पंगत हो और उसमें गरीब भी आया हो, धनिक भी आया हो तो पंगतकी दृष्टिसे तो दोनों की समानता है। बिरादरी तो एक है, ऐसे ही प्रभु और मैं जातिमें तो एक ही हूँ, वह भी चेतन हैं, मैं भी चेतन हूँ। जो स्वरूप उनका है सो स्वरूप मेरा है। कुछ अन्तर पड़ गया गरीबी अमीरीका। प्रभु तो अमीर हैं और यहाँ हम जगतके सब जीव गरीब हैं। उनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्तशक्ति प्रकट हुई है। मेरे में यह सब निधि दबी पड़ी हुई है। वह अपने स्वच्छ स्वरूपका अनुभव किया करता है। और जगतके ये प्राणी अपने मोह कषायका अनुभव किया करते हैं। ऊपरी वृत्तिमें अन्तर है, पर अन्तः स्वरूप तो एक समान है। हम प्रभुके स्वरूपको देखकर अपने स्वभावका भान करें और अपने को प्रभुके स्वरूपके निकट ही ले जायें। मेरेको तो यह अविकार स्वभाव निरखना है, अन्य बातसे, अन्य घटनासे मेरेको कुछ प्रयोजन नहीं। अपनेमें अपनेको देखो और अपनेको सुखी अनुभव करो।

सहजस्वरूपके अवगमसे परमसंतोषका लाभ––यहाँ ये चार बातें समझनी हैं––2 विधिरूप और 2 निषेधरूप। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका ही कर्ता है। मैं अपनेको ही करता हूँ। कोई पदार्थ किसी दूसरेको नहीं करता, मैं किसी दूसरे को नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ अपने आपको ही भोगता है, मैं अपने आपको ही भोगता हूँ। कोई किसी दूसरे पदार्थको नहीं भोगता, मैं किसी दूसरेको नहीं भोगता। इन तथ्योंके समझने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मैं स्वयं अपने स्वरूपमात्र हूं, अपने स्वभावमें तन्मय हूँ। यह ही स्वभाव मेरेको दिखे, इस ही में मेरा अनुभव जगे, इस ही में मेरा वास्तविक कल्याण है। अगर कल्याण चाहिए तो एक ही निर्णय है कि बाहरी पदार्थोंका आश्रय तजकर एक अपने आपके स्वरूपका आश्रय लें, अपनेको अनुभव करें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही ज्ञान हूं। यह ज्ञान मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मेरा अभेद भाव है, ज्ञान ही सर्वस्व है। ज्ञानमें इस स्वरूपमें किसी दूसरी चीजका प्रवेश नहीं । हाँ यह ज्ञान ही बिगड़ जाय। कल्पना करने लगे तो अपनी कल्पनासे यह जीव अपनेमें आकुलता पाता है, पर मेरे ज्ञानमें किसी दूसरे प्रवेश नहीं, इस कारण मुझपर किसीका भार नहीं। अपने विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको देखो और अपनेको भाररहित अनुभव करो। मेरेको करनेको कुछ पड़ा हीं नहीं बाहरमें और अन्दरमें कुछ करनेके लिए कोई जरूरत भी नहीं। वस्तु है उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। तो स्वभावसे ही अपनेमें उत्पाद करता रहेगा, तो स्वयं सहज जैसा जो कुछ मेरेमें उत्पाद हो सा होता रहे, मेरेको बाहरमें करनेका कुछ नहीं पड़ा है। कष्ट मेरेमें है ही नहीं, मेरा स्वरूप तो आनन्द है। जो मेरेमें मेरे कारण मेरे ही सत्त्वसे परके सम्बन्ध बिना हुआ करे सा मेरी निधि है। मेरेमें सहज आनन्द है, वह आनन्द मेरे में मेरे से ही प्रकट होता है। मेरे में कष्टका कहीं काम नहीं। जब कष्ट ही नहीं मेरे स्वरूपमें तो असंतोष किस बातका हो? असंतोष होता है परका ख्याल बनानेसे। अरे परसे मेरेको कभी कुछ मिल ही नहीं सकता, तो उसका ख्याल बना बनाकर में अपना

जीवन कष्ट ही कष्टमें क्यों गुजारूँ? मैं परसे रहित हूँ, कष्टसे रहित हूँ, स्वयं सहज आनन्दमय हूं, ऐसा स्वरूपका दर्शन रहा करे तो इस जीवको परमसंतोषका लाभ होता है।

(9)

प्रत्येक द्रव्य अपने आपका ही स्वामी है, स्वयं ही स्वयंके स्वभावरूप है, किसी भी एक वस्तु का अन्य समस्त परवस्तुओं में अत्यन्त अभाव है, स्वतन्त्रताके सम्यक् बोधमें ममता मिट कर क्षमता प्रकट होती है।

सर्व आकुलता व विडम्बना का मूल ममताभाव––जीवकी आकुलताकी निष्पत्तिमें एक ममताका बहुत बड़ा सहयोग है। ममता मायने ममकार, जो मेरा नहीं है उसका मानना कि यह मेरा है, ऐसे भावको कहते हैं ममकार। मेरा क्या–क्या नहीं है? ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त, मेरे चैतन्यस्वरूपके अतिरिक्त समस्त तत्व, समस्त भाव, सर्व परभाव उनमें से कुछ भी मेरा नहीं है, फिर उनको समझें कि मेरा है, बस यहींसे विपत्ति प्रारम्भ हो जाती है। लोकव्यवहारमें भी देख लो। जब तक किसी पदार्थके बारेमें मेरा है ऐसा विकल्प नहीं होता तब तक आनन्द है, शान्ति है, चैन है और जब यह भाव बन जाता है कि यह मेरा है बस तभीसे अशान्ति होती है। कई जगह ऐसी घटनायें होती हैं कि जिसके केवल एक ही बच्चा या बच्ची हो और कदाचित् उसका वियोग हो जाय तो यह कहते सुना गया कि इससे तो न होता तो अच्छा था, उसका ख्याल न आता, वेदना न होती। हुआ और चला गया। उसकी वेदना है। तो जब तक नहीं था तब तक आकुलता तो न थी, सुख चैनसे रहते थे और जहाँ हुआ कि आकुलता हुई बस वहींसे शान्ति छूट जाती है। जैसे कहते हैं सगाई, तो सगाई मायने स्वकीयता, स्वकाई मायने अपना हो गया––यह इस प्रकार की कल्पना आनेका नाम है सगाई। देखा एक गुरुजी के पास शिष्य आता था पढ़ने, एक दिन वह नहीं आया तो गुरु जी ने पूछा––बेटा तुम कहाँ रहे? कल नहीं पढ़ने आये थे? तो शिष्य ने कहा महाराज मेरी सगाई हो रही थी। तो गुरुजी बोले––अब तुम अपने गाँवसे गए। ..... कैसे? सगाई होने के बादस बस दिमाग में ससुरालका गाँव ही घूमता रहता है और जिस गाँवमें रहते उसका कुछ भान नहीं। फिर कुछ दिन बाद वह शिष्य न आया, फिर गुरुजी ने पूछा––बेटा तुम पढ़ने क्यों नहीं आये थे। तो शिष्यने कहा––महाराज–मेरी शादी हो रही थी, तो गुरुजी ने कहा अब तो तुम अपने घसे भी गए। .....कैसे? बस ससुरालके घर वाले ही सब कुछ दिखाई पड़ते, साला, साली, सास–ससुर वगैरा। वहाँ फिर अपने घर के लोगोंको भूल जाते। फिर कुछ दिन बाद वह शिष्य न आया। क्यों नहीं आये थे? ..... महाराज विदा कराने गये थे तो कहा––अब तुम अपने माता पितासे भी गए। जब स्त्री घर आयी तो माता पिताकी कौन परवाह करता? एक स्त्री ही उसके चित्तमें बसी रहा करती है। तो देखिये विडम्बना सगाई से शुरू हुई और बिदा तक हुई। यहाँ बिदाका अर्थ समझो शान्तिकी बिदाई बिदाई नाम वियोगका है। तो मालूम होता है कि शान्तिकी बिदाईका नाम है बिदा। बिदा हो गई मायने शान्तिकी बिदाई हो गई अशान्तिकी मिलाई हो गई। तो सर्व आपत्तियों की जड़ ममताभाव है।

दुःख मेटनेके उद्यमियोंको ज्ञानार्जनके उपायको करनेका संदेश––लोग दुःखी होते हैं और दुःखको मेटने का बहुत पौरुष करते हैं। अरे जहाँ हम अनेक पौरुष करते हों दुःख मिटाने के लिए वहाँ जरा भीतरमें एक ज्ञानका पौरुष भी तो बनावें कि जगतमें मेरा कहीं कुछ नहीं है, शान्ति मिल जायगी। अभी जिसको जितना धन–वैभव मिला है वह उसमें खुश थोड़े ही है। कोई अपनेको सुखी नहीं समझता, और इससे मान लो एक कष्ट ही मिलता है। जितना धन आज मिला है उसका 16वां हिस्सा ही मानलो मिला होता तो क्या उससे गुजारा न चलता? चलता ही है, देख लो अपनेसे कम धनिकोंको और मान लो आज

जितना धन है उससे 16 गुना अधिक धन हो जाय तो क्या सुखी हो जावोगे? अरे आपसे 16 गुना अधिक धन जिनके पास है उन्हें देखलो सुखी हैं कि नहीं? वे भी तो दुःखी नजर आते। तो वे दुःखी क्यों हैं? यों कि अपने से अधिक धनिकोंपर उनकी दृष्टि रहती है। उससे अधिक धन प्राप्त होनेकी निरन्तर आशा बनाये रहते हैं यही कारण है कि उन्हें सन्तोष नहीं हो पाता। तो सर्वक्लेशोंकी खान ममताभाव है। क्लेश दूर करना चाहते हो तो ममताविनाशक ज्ञानार्जनके उपायको मत भूलो। ऐसा ज्ञान बनाओ जिससे ममता दूर हो। तभी आकुशलता दूर होगी अन्यथा आकुलता दूर नहीं हो सकती। देखते भी तो हैं––जैसे कोई पहले खोमचा ही फेरता था या किसी छोटी दुकानपर नौकरी ही करता था, समय गुजरा, बड़ा धनिक हो गया, लखपति करोड़पति हो गया। इतना होनेपर भी वह चैन नहीं मानता। हायरी ममता डाइन, तूने इस जगतके प्राणीको कुचल डाला, मार डाला, चबा डाला। और दुःख किस बातका है? इस लोकके इस गाँवके किसी जगहके एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तकके आदमियोंको देख लो, कोई साधुसंत ही बिरला ऐसा है जो सुखी मिलेगा, बाकी सबने दुःख ही दुःख पाये।

कल्पनाजन्य ममतासे क्लेशकी निष्पत्ति––जब दुःख आता है तब तो सोच लेते हैं कि अब मैं किसी विडम्बनामें न पड़ूँगा और जैसे ही दुःख कम हुआ कि फिर वही विडम्बना शुरू हो जाती है। एक आदमी नारियल के फल तोड़नेके लिए नारियल के पेड़पर चढ़ तो गया और नारियलके फल भी तोड़ लिये, अब जब उतरनेको हुआ निगाह नीचे किया तो काँप गया, डर गया हाय अब गिर गया तो क्या होगा? तो वहाँ वह विचार करता है कि यदि मैं राजी खुशीसे नीचे उतर गया जो 100 ब्राह्मणोंका भोजन कराऊँगा। खैर कुछ नीचे खिसका, मानो करीब आधी दूर आ गया तो फिर सोचा कि 100 को तो नहीं, पर 50 को जरूर खिलाऊँगा, कुछ और नीचे उतरा तो फिर सोचा कि 50 को तो नहीं, पर 25 को जरूर खिलाऊँगा। इस तरहसे वह ज्यों ज्यों नीचे उतरता गया त्यों त्यों कम करता गया। और जब बिल्कुल ही नीचे जमीनपर उतर आया तो सोचा––अरे क्यों ब्राह्मणोंको खिलाऊँ। उतरा तो मैं हूँ, मैं तो अब एक भी ब्राह्मणको न खिलाऊँगा तो हर एक विडम्बनामें आप यही बात पायेंगे। समस्त परेशानियोंका कारण ममतापरिणाम है। देखो जीवन तो बिताये जा रहे हो धनके उपार्जनमें, सुखमें, मौजमें, मगर यह न समझो कि हमारा जीवन सही चल रहा है। कभी भी कोई कष्ट आ धनके, कुछ भी बता आपपर गुजर जाय तो आप दुःखी हो जाते हैं। मानो आपने आज सुबह कोई चीज खरीद ली और शामको ऐसा सुनने में आया कि उसका भाव सवाया या डयोढ़ा बढ़ गया तो वहाँ आप यह ख्याल बनाते कि इसमें तो हमें 10 हजार रुपये का लाभ हुआ है, बस वहाँ आप उस प्रकारके ख्यालसे ही सुख मानते और मान लो यह खबर मिल जाय कि उस चीज का भाव गिरकर कम रह गया तो वहाँ आप ऐसा ख्याल बनाकर दुःखी होते कि अरे इसमें तो इस हजारका टोटा पड़ गया। यों सुख दुःखकी बात आपके ख्यालके आधारपर चलती रहती है। यहाँ सुख दुःख माननेनका कोई निश्चित आधार (साधन) तो नहीं है। न जाने ऊँट किस करवट बैठ जाय, न जाने कौन सी बात विचारमें आ जाय और यह जीव क्लेश मान बैठे। तो उन सब क्लेशोंका कारण है ममतापरिणाम। क्लेशोंसे बचना है तो इस ममतासे दूर पहले होना चाहिए।

ममता विनाशका उपाय सबकी निजनिजस्वामिताका परिचय––अच्छा अब जरा वह उपाय बताओ कि जिससे ममता दूर हो जाय। कैसे ममता दूर हो? चीजको बिगाड़ दो, चीजको छोड़ दो, दूर देशमें पहुंच जावो, कहीं उपायोग बदल लो, अनेक उपाय करलो तो भले ही कुछ थोड़ी ममता दबसी जाय या न भी दबे, किन्तु ये उपाय ममता दूर करने के नहीं हैं, तो फिर क्या उपाय है ममता दूर करने का? अरे ममतासे उल्टा चलें तो ममता दूर

हो जायगी। ममतामें क्या बात है कि यह मेरा है, तो अब क्या आशय बना लें कि यह मेरा नहीं है बस ममता दूर हो जायगी। यह मेरा नहीं है––यह आशय कैसे बने? तो यह मेरा नहीं है यह आशय बनेगा यह मेरा नहीं है ऐसी समझके द्वारा। वह समझ कैसे आयगी? बस अपनेको व ममताके विषयभूतको भिन्न–भिन्न जान लें, मैं जुदा हूँ, ये जुदे हैं, बस ऐसा भाव बन जायगा कि ये मेरे नहीं हैं। देखो किसीके भरोसे मत बैठो कि कोई दूसरा मुझे सुखी शान्त कर देगा? खुदका ही ज्ञान बल बढ़ाना पड़ेगा तब शान्त हो सकेंगे। वह बल क्या है? यही ज्ञानबल जरा समस्त पदार्थों को जिसका जैसा स्वरूप है उसी स्वरूपमें जरा समझ तो लो प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। सबकी सत्ता उसकी उसमें ही है। किसीका कोई दूसरा मालिक नहीं है। संसार है, बंधन है। योग जुड़ता है, बच्चे हैं, बच्ची हैं, स्त्री है। लोग समझते हैं कि ये मेरे हैं, इन पर मेरा अधिकार है और वास्तविकता यह है कि कुछ भी मेरा नहीं है। किसी पर मेरा अधिकार नहीं। तो ऐसा जब सही बोध हो तो ममता जायेगी कैसे? तो यह ही सम्यक बोध करना, प्रत्येक द्रव्य अपना ही स्वामी है। कोई किसी का स्वामी नहीं है। स्वामी शब्द सबसे ही तो बना। जो जिसका स्व है, जो जिसका निज स्वरूप है वह उसका स्वामी है। कोई पदार्थ किसी अन्यका स्वामी नहीं है।

एकका अन्य समस्तमें अत्यन्ताभावके परिचयसे––अब जहाँ–जहाँ ममता जगती हो उस–उस पदार्थके बारेमें अपनी तर्कणा बना लें कि यह मेरा कैसे लग सकता है? कुछ भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कुछ भी नहीं लगता, प्रत्यके पदार्थ खुद ही खुदके भावरूप है, स्वरूप रूप है, स्वभावरूप है। कोई किसीके स्वरूपसे नहीं है। यह तो वस्तुका स्वरूप ही है। यह बात तो किसीने बनायी नहीं, हाँ बतायी है। प्रभुने, बतायी है ज्ञानियों ने। बनता कुछ नहीं है। जो पदार्थ है सो है, वह नष्ट नहीं होता। जो नहीं हैं सी नहीं है। हालांकि इन शब्दोंमें नहीं बता सकते कि जो नहीं है सो कुछ नहीं है बताओ जरा। अरे बताओगे तो वह है ही बन गया। सत्का विनाश नहीं, असत्का उत्पाद नहीं। भगवद्गीतामें भी लिखा है कि सत्का कभी विनाश नहीं होता। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' जो है उसका विनाश नहीं, जो नहीं है उसका उत्पाद नहीं। तो अब बतलावो कौन किसका है? किसी पदार्थका कोई दूसरा मालिक नहीं, खुद ही खुदके स्वरूपका मालिक है। जब ऐसी बात है तब फिर जगतमें कोई कुछ मेरा कैसे हो सकता? जब नहीं हो सकता तो फिर ममता कहाँ ठहरे? ममताका पिता है अज्ञान। अज्ञानसे ममता जगती है। जहाँ सही ज्ञान हो गया वहाँ ममता का क्या काम? तो पहला ज्ञान यह बनायें कि प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक जीव, प्रत्येक अणु, परमाणु सब एक दूसरे से जुदे जुदे हैं किसीका कोई मालिक है ही नहीं। धर्म किसे कहते, योग किसे कहते? बस ऐसा सम्यग्ज्ञानमें ही उपयोग बना रहे, जो बात जिस तरह मिल सकती है उसे उस तरह पाना चाहिए। तो हाँ बनाओ ममताविनाशक ज्ञान। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका स्वामी है। खुद ही खुदके भावरूप है। एक पदार्थका अन्य समस्त पदार्थोंमें अत्यन्ताभाव है, त्रिकाल अभाव है। न एक दूसरे रूप कभी हुआ, न अब है और न कभी हो सकेगा। भले ही विकार परिणमनों का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर कोई भी पदार्थ किसी पदार्थकी पर्यायरूप नहीं परिणमता। एकका दूसरे में अभाव है। एकमें दूसरेका अभाव है। सर्व अपना–अपना स्वरूप लिए हुए अपनी सत्ता से रहते हैं। यों सर्व पदार्थ स्वयं हैं, स्वतंत्र हैं, ऐसा जब समीचीन बोध बनता है तो उनको ममता ठहर नहीं सकती। ममता मिटी कि सारे संकट दूर हो जाते है।

अपना ज्ञान किसी भी अनात्म पदार्थमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके बाह्यमें उपयुक्त हो तब कष्ट होना प्राकृतिक ही बात है, क्योंकि आत्मकुलकी बान छोड़कर यह सब अकृत्य ही तो किया जा रहा है।

अपना उपयुक्त कर्तव्य––यह भावना जिज्ञासा बनती है जब कभी भी कि अपने को क्या करना चाहिए, अब क्या करें? यह बात मनमें आती है कि क्या करना उपयुक्त है? तो इसका संक्षिप्त उत्तर यह हो सकता है कि अपने कुलके अनुरूप काम करना उपयुक्त है। अपने बड़प्पनके अनुरूप जिस वंश में उत्पन्न हुए उसके अनुकूल अपने को काम करना है। लौकिक विधिमें सब कुछ समझमें आ रहा होगा। जब कोई महापुरुष, कुलका बड़ा कोई पुरुष, बड़े घरका आदमी जब कोई हल्का काम करने पर उतारू होता है तो लोग समझाते हैं कि अरे भाई तुम क्या कर रहे हो? अपने पुरखों को तो तको। अपने कुलको तो देखो। यही बात जरा अपने दिमागमें लावो कि हे आत्मन्! ब्तला तेरा कुल क्या है? कुलके मायने संतान। जिसकी संतति में बराबर प्रवर्तन हो उसका नाम है कुल। तो मैं किस संतति में रहता हूँ। मैं रहता हूँ अपने चैतन्यकी संततिमें। मैं था कहीं वही चैतन्य, मैं हूँ यहां वही चैतन्य, मैं होऊँगा आगे यही चैतन्य। मेरा कुल है चैतन्य। जैसे लोग कहते है कि यह कुलका दीपक है, यह वंश चलाने वाला है, तो मेरा कुल है चैतन्य। उस कुलका दीपक कौन? यह मैं स्वयं। जैसा अपनेमें सहज भावरूप हूँ वह हूँ मैं दीपक इस चैतन्यकुलका। इस चैतन्यवंश की पवित्रता बनाओ। मायने मैं रागद्वेष मोह तजकर मात्र ज्ञाता दृष्टा रूपसे रहूँ तो यह ही है मेरी पवित्रता। जहाँ यह पवित्रता हुई वहाँ चैतन्य कुल भी पवित्र बन गया। तो क्या करना? अपने कुलके अनुरूप काम करना। मेरा कुल है चैतन्यस्वरूप। मेरा अनुरूप काम है ज्ञाता द्रष्टा रहना, जाननहार रहना, देखनहार रहना।

मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें प्रसन्नता––जैसे कि कोई अयाजबघर में चीज देखने जाता है तो वह केवल जानने वाला रहता है। किसी चीजको छूता नहीं हैं। छुवे, पकड़ रखे किसी चीजको तो वहीं गिरफ्तार हो जाता है। तो ऐसे ही जगतमें जितने जो कुछ पदार्थ हैं उन समस्त पदार्थों को केवल जानते रहें, देखते रहें, उनमें से किसीको छुवें नहीं, न राग करें, न द्वेष करें, न मोह करें। बस जानते देखते रहें। भला अपने–अपने अनुभवसे सोचो तो जरा। आपको अपना बच्चा तो बहुत प्रिय लगता, और पड़ौसके गैरके और अन्य लोग उतना प्रिय नहीं जंचते, तो यह अन्तर जो आपके ह्रदयमें बना है। बतलावो यह मलीमसताका आशय है कि नहीं? जब अपने एक शुद्ध धर्ममार्ग में चलते हैं ऐसी जब आपमें इच्छा जगे उस समय आप परख लें कि जब घरके बच्चे भी भिन्न जीव हैं, बाहरके बच्चे भी भिन्न जीव हैं, भिन्नतामें सब समान हैं। जैसे भिन्न गैर लड़के वैसे ही भिन्न घर के लड़के, पर देखो परिस्थिति है ऐसी कि अपने घरके बच्चों का पालन करना चाहिए। घर के बच्चों की चिन्ता भी रखनी पड़ेगी। यह तो गृहस्थीकी व्यवस्था है कि प्रत्येक गृहस्थ अपने घरके बच्चों को सबको सुरक्षित रखे तो व्यवस्था ठीक रहेगी। यह बात तो अलग है, मगर उसके आगे जो कदम बढ़ायेगा उसको अपना मानना, उसमें चित्त लगा रहना, यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा जो भीतर में आशय जग गया, इसकी तो जरूरत नहीं गृहस्थी में। ये क्यों अधिक काम किए जा रहे हैं, कहीं भी जरूरत नहीं। सत्य श्रद्धान बनावें, मेरा मात्र मैं ही हूं, मेरा जगतमें अन्य कुछ नहीं। श्रद्धा सही रहेगी, कल्याण होगा। जहाँ कि कोई विडम्बना हो, घटना हो, चिन्ता हो, खोटी स्थिति हो, किसी की परवाह मत करो, मेरे में कुछ खोटापन नहीं, सब बाहर बाहरकी बातें हैं, उनसे मेरा क्या सम्बन्ध? अपने भीतर के स्वरूप को देखो और अपनेमें अपने स्वभाव की उपासना करके प्रसन्न हो जावो, निर्मल हो जावो। सारे संकट दूर हो जायेंगे।

अपने चैतन्यकुल की बान न छोड़ने में ही शान्तिपथका लाभ––तो देखो कब विडम्बना बनती है, जब अपना ज्ञान किसी अनात्म पदार्थमें लग गया। जो मेरा कुछ नहीं हैं उसमें उपयोग जुड़ गया है, उसमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि रख रहा, यह मेरा अच्छा, यह मेरा बुरा, इस इष्ट अनिष्ट बुद्धिने कैसी दुविधा डाल दी कि जैसे मकड़ी जालमें फंसी रहती है ऐसे ही यह पुरुष इष्ट अनिष्ट बुद्धि रखने वाला पुरुष अपने आपकी कल्पनामें ही अपना जाल पूरता है और अपने ही उस जालमें घिरा रहता है। जाल पूरने कोई दूसरा नहीं आता। खुद ही जाल पूरता है और खुद ही जालमें घिरा रहता है, तब यह जीव जब ऐसी योग्यता रखता है तो कषाय से प्रेरित होकर अनेक बाह्य पदार्थोंमें अपना दिल फंसाये रहता है। उस समय कष्ट होता है तो प्राकृतिक बात है। जब हमारा उपयोग हमारे ही ज्ञानसमुद्रसे अलग हो गया तो वह तो तड़फेगा ही। जैसे कोई मछली अपने निवास जलसे अलग हट गयी तो वह तो तड़फेगी ही, और तड़फ तड़फकर मरण कर जायगी। तो जो कष्ट होता है वह क्यों होता है? यों कि हमने इन बाहरी पदार्थोंमें अपना उपयोग फंसा लिया। क्या किया वहाँ? हम अपने आत्मकुलकी बान छोड़ बैठे। मेरा कुल चैतन्यस्वरूप है। मेरी वान है ज्ञातादृष्टा रहना, पर अपने कुलकी बान छोड़कर हम अकृत्यमें जा फंसे। अकृत्य क्या है? जो मेरेकी करने योग्य नहीं सो अकृत्य है। जो मेरे द्वारा किया ही नहीं जा सकता और उसमें करनेको विकल्प बनाया वही है अकृत्य, जो कभी मेरा नहीं हुआ, न है, न होगा, उसमें यह बुद्धि बनी कि यह मेरा है, बस यही कहलाता है अकृत्य। तो अपने कुलकी बात छोड़कर हम अकृत्यमें पहुंचे तो यह मेरा चूँकि कुल विरुद्ध आचरण है, सो हममें कष्ट होना प्राकृतिक बात है। यदि ऐसे कष्ट न चाहिएँ तो अपने चैतन्यकुल की बान मत छोड़ें। जो हमारे पुरखोंने किया––पुरखा कौन? ज्ञानी संत, आचार्य, भगवान, जो कुछ उन्होंने किया उस ही रास्ते पर हमको चलना है तो हम अपने में शान्तिका पथ प्राप्त कर सकते हैं।

(11)

अपना ज्ञान बाह्य पदार्थको भिन्न, असार, विनश्वर, अशरण जानकर, ज्ञानस्वभावको स्वयं सार, ध्रुव व शरण जान बाह्य पदार्थोंसे हटाकर ज्ञानको ज्ञानरूपको परिणमानेमें उद्यत हों, तब शान्ति होना स्वाभाविक है।

कषायके लगावमें क्लेश का संताप––यह प्राणी अनादिकालसे कषायों से परेशान होकर अशान्त होता चला आया। इसकी अशान्ति का कारण कषायका अनुराग है। यह कषायको छोड़ना नहीं चाहता, सो कषायकी ज्वालामें संतप्त रहता है। कौन सी कषाय ऐसी है जो शान्तिमें सहयोग दे? जब क्रोध उमड़ता है तो क्रोध में यह जीव अपने गुणों को भस्म कर डालता है, परका भी अपकार कर डालता है, क्रोधमें इसे शान्ति नहीं। जब घमंडभाव आता है तब क्या इसे शान्ति है? अज्ञान छाया है। जगतके इन जीवोंसे मैं कुछ अधिक जंचूं, कुछ विशेष कहलाऊँ, ऐसा विचार कर जगतके समस्त इस अंतस्तत्त्वका भान कर रहा है। जब छल कपटकी बात चित्तमें आती है तो कितनी हो तो उल्झनें आया करती हैं। उन उल्झनो में धर्म का प्रवेश नहीं है। नोकर्म तृष्णाभाव, इनसे यह जीव कायर बन जाता है। तो जितनी अशांति जीवको मिल रही है बह सब कषायके अनुराग का फल है। यदि शान्ति चाहिए तो कषायकी प्रीति छोड़नी होगी। और वह बात कब बन सकेगी, जब यह अपनेको समझें कि कषाय मेरी गाँठकी चीज नहीं है, कषाय तो आगंतुक है, कर्मविपाकका प्रतिबिम्ब है। मैं तो इस प्रतिबिम्बसे रहित, इस छाया मायासे विविक्त केवलज्ञानस्वरूप हूँ, यों सही अपना सहजस्वरूप जानकर ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमननेमें ही उद्यमी रहे, ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही विषय रहे तो इस जीवको शान्ति प्राप्त हो सकती है। यह खुद है, ज्ञानस्वरूप है। उसे

अनन्त पदार्थोंसे इसका क्या मतलब पड़ा है? क्या सम्बन्ध है? सब अपने–अपने स्वरूपमें हैं। किसी पदार्थका किसी अन्यपदार्थके साथ कुछ संबंध हो नहीं सकता, तब यह क्यों अनेक पदार्थों का विकल्प कर, ख्याल कर कषायोंसे अनुराग बढ़ाकर अपने आपका विघात कर रहा है?

ज्ञान का ज्ञानरूपसे परिणमन होनेमें ही शान्तिकी संभवता––शान्ति चाहिए, तृप्ति चाहिए तो उसका उपाय यह है कि यह ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमने लगे। काम तो यहाँ एक ही हो रहा है। यह ज्ञान परिणमन करता चला जा रहा है। अब यह ज्ञान जब कषायरूप को अपनाता हुआ परिणमन करता है जो कर्मविपाकका प्रतिफलन है, कर्मविपाक है। इस की चेतना में आया है। उसको अपनाता हुआ, उस रूपसे अपनेको मानता हुआ ज्ञानका परिणमन करता है तब इस जीव को अशान्ति मिलती है और जब उन परभावों को छोड़कर जो मेरे निजकी गाँठकी चीज नहीं, कर्मकी छाया माया प्रतिफलन है उसे तजकर जब सहज विशुद्ध ज्ञानस्वभावरूपसे अपनेको परिणमता है, यह ज्ञान ज्ञानरूपसे अपना प्रवर्तन करता है तो इस जीवको शान्ति मिलती है, ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि मेरे उपयोगसे बाह्य पदार्थ हट जाये। बाह्य पदार्थ हट जायें, इसके लिए उपाय क्या है? उपाय क्या है? उपाय यह है कि यह जीव बाह्य पदार्थों में लग ही क्यों रहा था यों तो जरा समझो? बाह्य पदार्थ में लग रहा था अपने आनन्द के लिए। जो जीव जिसमें अपना आनन्द समझता है वह जीव उस प्रवृत्तिमें लग बैठता। तो बाह्य पदार्थों के सम्र्क में इस मोही जीव ने आनन्द माना था, तो ज बवह आनन्द झूठा जंचे, वास्तविक आनन्दका अनुभव बने तब ही तो बाह्यपदार्थोंसे हटा जा सकता है। नीरस रोटियोंको कौन छोड़ेगा? जिसको सरस भोजन मिले वही नीरस रोटियोंको छोड़ सकेगा। बाह्यपदार्थोंको छोड़ेगा कौन? जिसको अपने अन्तरमें आनन्दका, चैतन्यरसका स्वाद आया हो वही तो बाह्यपदार्थोंको छोड़ेगा। तो बाह्यपदार्थोंसे छुटकारा पाने के लिए कर्तव्य क्या है कि अपने ज्ञान स्वभाव को निरखें कि यह मैं ज्ञानस्वभाव स्वयं सारभूत हूँ, शरण हूं, ध्रुव हूँ, पवित्र हूँ, निराकुल हूँ। जब सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्वका परिचय हो तो वहाँ आनन्द जगता है और बाह्यपदार्थों से निवृत्ति मिलती है।

बाह्य की असारता व स्वरूप की सारता के परिचय से विकास––अच्छा, बात यहाँ यह समझना है हितके उपायमें कि थोड़ा बाह्य पदार्थों को असार समझनेका भी ज्ञान हो, कुछ अपने आपमें अपने सारपनेका भी ज्ञानहो तब ही तो काम बनेगा। जहाँ कोई एक निर्णय नहीं बन पाता कि पहले अपना सार स्वरूप जानें तब बाहरी असार स्वरूप छुटकारा मिले या बाहरी असारस्वरूपको ही जान लें तो अन्तरंगका सार समझमें आयगा? अरे जैसे यहाँ किसी इष्ट के लाभके लिये जो उपाय बनता है सा किया जाता है ना, ऐसे ही आत्मीय आनन्दलाभके लिए भी दोनों बातोंको करना है। बाहरी पदार्थोंको असार समझना है और अपने आपके स्वभावको सार समझना है तो जब यह जीव, अपना ज्ञान ऐसा जानने लगे कि ये बाह्य पदार्थ भिन्न हैं, असार हैं, विनाशीक हैं, अशरण हैं तो साथ ही यह भी बोध होता है कि मैं ही स्वयं के लिये शरण हूं, मेरा स्वरूप ही मेरे लिये सार है, मैं सदा रहने वाला अविनाशी तत्व हूं। तो जहाँ बाह्य पदार्थों की असारता और निज अंतस्तत्त्वकी सारताका बोध होता है वहाँ बाह्य पदार्थों से हटकर यह ज्ञान अपने स्वरूप में लगता है। जहाँ ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाये वहाँ इस जीवको शान्ति मिलती है, तृप्ति होती है। अपने को शान्त रखने का उपाय मोह, क्रोध मान, माया, लोभका परित्याग है। और सर्व विकारोंसे रहित जिसका विकार स्वरूप ही नहीं है, ऐसे ही ज्ञानस्वभावका ज्ञान में लाना, बस वही उपाय है आत्महितकेलाभका, सबबात का अनुभव बता रहा होगा जबसे ख्याल है इस भवमें

बचपनसे और आज इतनी उम्र हो गई इतने समय तक यह जीव कभी सुख में मग्न रहा, कभी दुःखमें इसने संताप माना। तो जब सुखमें मग्न रहा उस समय भी कुबुद्धि थी, जब दुःखका ताप माना तब भी इसमें कुबुद्धि ही काम कर रही थी इसने कुबुद्धि को त्यागा नहीं, वह सुख किस कामका जिसमें मग्न होने पर उससे कई गुना दुःख का अवसर मिलता है। किसका सुख ऐसा है संसार में जो सुख सदाकाल रहे। सुख के बाद नियमसे दुःख आता है, सांसारिक सुखोंकी यही बात है। एक सहज आनन्द, एक शाश्वत सुख ही एक ऐसा पवित्र तत्त्व है कि जिसका अपलाप नहीं होता, जिसका विनाश नहीं होता, जिसकी धारा निरन्तर चल रही है, किन्तु संसारके सुख कोई भी तो ऐसे नहीं जो सदा रह सकते हों और जीवको निराकुल बना सकते हों। तो क्या किया अब तक? कभी सुखमें मग्न रहे, कभी दुःखमें संताप मानते रहे।

सहजस्वभावकी प्रतीतिकी दुर्लभता––अहो इस जीवने सुख–दुःखसे रहित कोई तीसरी अवस्था नहीं पाई कि जहाँ न सुखका प्रसंग हो और न दुःखका। यह बात इस जीव को मिल कैसे सकती है? इसका उपाय है एक सहजचैतन्यस्वभावकी। आराधना इसीको बोलते हैं बोधिदुर्लभ। सब कुछ इस जीवने पाया। धन कन कंचन राज सुख आदिक सर्व लौकिक वैभव इस जीवने पाया, किन्तु कर्मविपाकजन्य इन विकारभावोंसे विविक्त अपने आपके स्वरूप से ही जो एक सहजस्वभाव है उस स्वभावरूपमें अपनी प्रतीति नहीं कर सका यह जीव। कितनी बड़ी विपत्तिमें यह जीव ग्रस्त है? निरन्तर यह परभावरूप ही अपनेको अनुभव रहा ऐसा ही अनुभवता चला आया है। यह परानुभव मिटे और स्वरूपका अनुभव बने, ऐसी स्थिति इस जीवको चाहिये और कुछ न चाहिए। तीनों लोकका सारा ढेर भी आपके आगे आये तो उसको छोड़कर ही जाना पड़ेगा। इस वैभवके विकल्पोंसे क्या लाभ मिलेगा? दुनियामें कोई यश फैल गया, दुनियाके लोग माननेन लगे कि यह भी कोई चीज हैं, यह भी कुछ हैं। तो यह तो विकल्प महाविपत्ति है। जान गए कुछ लोग तो कौनसा लाभ हुआ? जो जान गया क्या वह हमारा मालिक है, प्रभु है? जो जान गए क्या वे सदा यहाँ बसने वाले हैं? वे भी विनाशीक हैं, मिटने वाले हैं। पर्याय है ना, और कितने लोग जान गए? संसारके जीव तो अनन्तानन्त हैं, उनके आगे क्या है? बिन्दु बराबर भी नहीं और सब जाने तब तो कुछ यशका गौरव भी मनावो, पर ऐसा कभी हो नहीं सकता है। तो किस बातका गर्व? कहाँ अविवेक लगाया है? संसारके किन पदार्थोंमें आनन्द बसा है? कुछ भी नहीं। सब विकार, सब वैभव उनसे हटकर मैं अपने आपके इस सहज चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्व का अनुभव करूँ बस शान्ति यहाँ मिलेगी। कभी दुःखसे घबड़ा गया तो सांसारिक सुख अच्छे लग। मिल गए कुछ सुख तो उससे पूरा नहीं पड़ने का। पूरा पड़ेगा तो जो सहज आनन्दस्वरूप है ऐसे अंतस्तत्त्वकी उपासनासे पूरा पड़ेगा।

(12)

नरभव, बुद्धि, सुविधा, सत्सङ्ग, बोध, आरोग्य आदि समागम पाकर निरपेक्ष सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अपनेको प्रतीत कर लेनेमें चतुराई है, अन्यथा तो वही विडम्बना रहेगी, जो अब तक अनादिसे चली आई है।

अनादिकालीन आत्म–इतिहासमें अशुद्धताकी संततिका विस्तार––अपने आपका पूर्व इतिहास तो देखो––जब हम आज ऐसे मनुष्य हैं––क्रोध, मान माया लोभके भरे हैं, नाना विकल्प संतापोंसे दुःखी हैं, ऐसी स्थिति आज हमारी है। तो क्या यह अभी हो गई? इस की तो परम्परा है। इसकी तो अनादिसे धारा चली आयी है। जन्म समयमें भी अशुद्धता थी, गर्भमें भी अशुद्धता थी और उससे पहले जो भव मुझको मिला उसमें भी अशुद्धता थी। और उससे पहले भव होते ही तो थे। कितने होते रहते थे उनकी गिनती नहीं, उनकी आदि

नहीं। अनादि, अनादिसे ये सब अशुद्धतायें, विडम्बनाये इस जीवपर चलती चली आ रही हैं। यह विडम्बना पसंद है क्या? जैसे भगवान अकेले, केवल असहाय स्वसहाय निजस्वरूप में ही मग्न हैं ऐसा होना पसंद है कि नहीं? पसंद है। यह तो तब कहा जाय कि जब उसके अनुरूप अपना कुछ ध्यान हो। एकदम तो चल रहा पीछेसे कदम। तो चल रहा मिथ्यात्व कषायका और वहाँ ऐसा स्वप्न देखें कि मेरेको शान्ति मिले तो कैसे मिले? हम आपकी विडम्बना अनादिकालसे चली आ रही है। इस विडम्बनाको दूर करना है कि नहीं? या जो कुछ प्राप्त हुआ है उसीमें मोह ममता करके इस जीवनको गुजारना है? अपनी बात सोचो तो जरा। मैं शरीरसे निराला आत्मा हूं, मुझ आत्माको सब द्वन्दों से हटकर शान्त होना है या नहीं? अगर सबसे निराला होना चाहते हैं और ऐसा होनेका उद्यम करते हैं तो सच्ची चतुराई यहाँ है। जगतके बाह्यपदार्थोंको किसी चतुराई के बलसे इकट्ठा कर लें, संचय करलें तो उसमें कोई चतुराई नहीं। चतुराई है तो अपने आपको कषायके झंझटोंसे निकालकर शुद्ध अंतस्तत्वकी अनुभूति कर लें, उसमें चतुराई है। इसीका नाम है अपनेको स्वभावमात्र प्रतीति में लेना। मैं नारकी नहीं, तिर्यंच नहीं, मनुष्य नहीं, देव नहीं, इन्द्रिय वाला नहीं। यह सब किस बलपर कहा जा सकता? जहाँ इससे विविक्त केवल एक चैतन्यस्वरूप ही आत्मतत्त्व को पालें जो निरपेक्ष सहज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मस्वभावमय आत्मामें प्रतीति कर सकता है बस वही पुरुष कुशल है, वही पुरुष चतुर है। अपना स्वरूप पा लेना तो इस जीवमें सहज है। जो पदार्थ है वह स्वयं अपने आप है, सत है, स्वभावमात्र है। है ना तो उसका स्वरूप भी है। जो है सो है, निरपेक्ष है। ऐसा ही मैं हूँ। सहज हूँ, निरपेक्ष हूँ, स्वभावमात्र हूँ, ऐसी अपने आपकी प्रतीति हो तो सच्ची चतुराई तो इसीमें है। इसके लिए आज अवसर मिला है।

दुर्लभ मानवजीवनमें निराकुलता का उपाय बना लेनेमें वास्तविक बुद्धिमानी––इस भवमें हमको कितनी सुविधायें मिली हैं? देखो पहली सुविधा तो यह है कि हम मनुष्य हुए। जगतके अनेक जीवोंपर दृष्टि डालकर निर्णय तो करें। ये गधे, सूअर, कुत्ते, बिल्ली, चूहे ऐसी पर्यायमें होते तो क्या हो नहीं सकते थे? क्या हुए नहीं होंगे? ऐसी पर्यायमें हुए होते तो बताओ उस ही पर्यायके अनुरूप रहते ना? आज यहाँ सुख–दुःख मान रहे हैं इसकी तो बुद्धि नहीं रहती ना? तो आज यह बुद्धि कोई मेरी चीज नहीं। इससे मैं अगर अन्य भवों में होता तो उन भवोंमें क्या कर गुजरता? चूहे होते तो बस खाना और छिपना––ये दो ही व्यापार हैं, ये दो ही कलायें हैं। खा रहे और जरा भी आहट आयी कि छिप गए। यों खाना और छिपना, इसके अतिरिक्त चूहेका क्या काम? ऐसे ही सबकी बात सोचो। यदि हम आप कीड़ा पतिंगा होते तो क्या व्यापार रहता, क्या कुछ बुद्धि रहती? प्रकाश मिला तो उड़ने लगे दीपकपर कीड़े पड़ने लगे। उनकी कुछ ऐसी ही वृत्ति है। जैसे यहाँ मनुष्योंको कामादिक विषयोंमें प्रवृत्ति होती है, उसकी ही धुन रहती है, ऐसे ही इन कीट–पतिंगोंको अग्निकी ज्वालापर गिरनेका ही विषय रहता है। तो कितने ही बार कीट–पतिंगोंकी भाँति हम आप क्या नहीं मरे होंगे। अरे अनेक ऐसे कुमरण हुए। तो जगत की अनेक पर्यायोंपर दृष्टि डालकर देखें तो देखो अपने निराकुल रहनेके लिये कितनी शिक्षा मिलती है? जहाँ जो रहे वही तृष्णा, वही उपयोग। तो हमको सुख–शान्ति मिल कैसे सकती? देखो हम आप आज मनुष्य हैं तो कितना झंझटोंसे दूर हैं? एकेन्द्रिय होते, स्थावर होते, जंगलोंमें वृक्ष बनकर खड़े रहते तो क्या किसीसे बात कर सकते? क्या किसीसे कुछ सम्पर्क बना सकते? उनके अंग कैसे? अंग हैं नहीं। विढंगा, शाखा, प्रशाखा, पत्ते, डाली आदि, कैसी विडम्बना है इस शरीरकी? कैसी विडंबना है इस जीवकी? क्या ऐसा हुए नहीं हैं? तो यह ही सोच लो कि आज मैं मनुष्य न होता और होता कोई स्थावर कीट पतिंगा आदिक तो हमारे लिए क्या

था? अधंकार था। और यहाँ का कुछ भी वातावरण न था जो मनुष्यभवमें मिला है। कितना ही प्रतिबोध हो, कितनी ही समझ बने। समझाते–समझाते भी यह जीव अपने आपके सुबोधमें नहीं आ पाता, और बस वही कुबुद्धि, वही ममता, वही अहंकार की वासना इस जीनके बनी रहती है। कितना कष्ट है इस जीवपर? तो देखो पहली सुविधा कि हम आपने मनुष्यभव पाया है।

श्रेष्ठ मन, सुविधा, सत्संग, आरोग्य जैसी दुर्लभ स्थिति पानेका सदुपयोग आत्मोद्धार में प्रवर्तन––मनुष्य कहते किसे हैं? जिसके मन श्रेष्ठ हो उसका नाम है मनुष्य। मनसे मनुष्य बना। मनुष्यके मनसे श्रेष्ठ किसीका मन नहीं होता। भले ही लोग कहते हैं कि देवोंका मन भी बहुत श्रेष्ठ है, बड़े–बड़े धर्म प्रसंग मिलते हैं, तीर्थंकरके समवशरणमें देव जाते हैं, ढाई द्वीपके अन्दर जहाँ तीर्थड्कर हों, धर्मात्मा जन हों उनके पास पहुँच जाते, क्षरभरका नाम है। वहाँ धर्मका लाभ लेते हैं, इतना सब कुछ होनेपर भी देवोंके मनमें संयम झेलने की शक्ति नहीं है, वे संयम नहीं पाल सकते, श्रुतकेवलीपन उनको प्राप्त नहीं होता, कैसा ही कितना ही मन हो। तो यह मनुष्य तो श्रेष्ठ मन वाला है, अब इस मनका उपयोग खोटे मार्गमें क्यों किया जाय, सन्मार्ग में क्यों न किया जाय? पाया है नरभव, हुए हैं मनुष्य। तो एक यह सबसे बड़ी भारी सुविधा इस जीवको मिली है। अच्छे मनुष्य भी होते और बुद्धिहीन होते। जैसे अनेक छोटे लोग, बुद्धिहीन जन, भिक्षुकजन आदि ऐसे मनुष्य होकर कुछ लाभ ले पाते क्या? तो देखो हम आपको कितनी बड़ी सुविधा प्राप्त हुई है इस मनुष्यभवमें कि मनुष्य हैं और तिस पर भी हम बुद्धिसम्पन्न हैं। बुद्धिसे हम बहुतसे निर्णय कर लेते हैं। तो ऐसा अवसर आज हम आपको प्राप्त हुआ है। इस सुविधासे हम लाभ तो लें, उत्तम देश मिला, जहाँ अहिंसा धर्म का प्रचार चलता है, उत्तम कुल मिला जिसके पुरखे धर्मवासनामें रत रहा करते थे और अधिक नही ंतो अपने पूर्वज माता–पिताके चरित्रको देख लो। लगते थे ना धर्ममें। सरल बुद्धि थी ना? जो धर्म–परम्परामें चल रहे थे और, और जो गुरुजन मिले हैं उनकी बात देख लो। एक विशुद्ध धर्मध्यानके लिए जिनकी उमंग थी। पुराने पुरखे तीर्थंकर आदिकको देख लो। तो हम आपको कुछ अच्छा मिला, सुविधा भी अच्छी मिली। कोई भूखों नहीं मर रहे हैं। कुछ न कुछ रोजिगार है, व्यापार है, जीवन ठीक ठीक चलता है, सुविधायें सब मिली हैं और सत्संग भी मिला है। ज्ञानी विरक्त साधु संतों का जब चाहे समागम भी मिलता है और ज्ञान भी विशेष है। जानते हैं, समझते हैं, युक्तियाँ लगाते हैं और ये हमारे सब कुछ हैं और फिर इतने पर भी अगर रुग्ण रहें, चल फिर न सकें तो भी तो एक असुविधाकी बात है। तो देखो आरोग्य भी मिला है। वैसे तो कोई भी मनुष्य पूर्ण निरोग नहीं है। शरीरमें जितने रोम हैं उतनेसे भी अधिक रोग हुआ करते हैं। कोई पुरुष निरोग नहीं है, फिर भी जिसमें जीवन चले, काम चले, पौरुष चले, बाधा न आये, ऐसा आरोग्य भी सबको मिला हुआ है। इतनी सब सुविधायें मिली हैं। इनको पाकर भी यदि हम आत्महित वास्तविक काम नहीं करते हैं तो यह हमारी चतुराई नहीं, किन्तु मूर्खता है, मूढ़ता है याने ऐसी व्यामोह बुद्धि छा गई है कि हम अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सकते।

सुख की विडम्बनाका भी मोह छोड़कर ज्ञानाराधनामें लगनेका कर्तव्य––सुखको न ललचावें। सुखमें भी विडम्बना है। दुःखसे भी न घबड़ावें। दुःख तो आत्मापर आता ही नहीं है। यह तो बाहरी घटनाओंमें कल्पनायें बना बनाकर अपने पर दुःखका पहाड़ लाद लेता है। न तो सुख है, न दुःख है। मेरा तो एक सहज आत्मस्वरूप है। वही शरण है। उसकी ही उपासनामें समा जाय। बस ऐसा कर लिया तो सही है और न कर सके तो वही विडम्बना चलती रहेगी जो अनादिकालसे धारा प्रवाह चली आयी है। और जिसमें अब तक भी हम

संतप्त रहे, विडम्बनामें रहे, जिससे इस जीवका भला नहीं है। यदि यह विडम्बना समाप्त करना है तो आत्माके धर्मस्वरूपकी दृष्टि करें, धर्मपालन करें। धर्मपालन बिना अपना कोई शरण नहीं है। धर्म ही वास्तविक अपना सहाई है।

(13)

मेरेमें मेरे निमित्तसे विकार होता नहीं, मात्र कर्मविपाकका प्रतिफलन चेत्य होता, अनिवारित चेत्यचेतक सम्बन्धपर मेरा क्या वश, मेरी क्या करतूत? मैं तो नोकर्मका आश्रय न कर कर्मविपाकका सर्म्क तजककर सहज प्रसन्न रहूंगा।

परसंगप्रसंगमें हुई मलीमसताका समीक्षण––हमस ब अपने आपके आत्मके अन्दर क्या होता है, इस पर कुछ चिन्तर करें, परख करें। मेरे आत्मामें दो प्रकारकी परिणतियाँ ही हो सकती हैं––एक तो मलीमसता की परिणति और दूसरी प्रसन्नता की परिणगति। कभी हम मलिन होते हैं और कभी हम प्रसन्न होते हैं। जब जब मलिन हैं तब तब हम अप्रसन्न हैं, दुःखी हैं और जब मलिनता नहीं है तो हम प्रसन्न हैं, शान्त हैं। तो वह प्रसन्नता कैसे मिले, यह समझने के लिए पहले यह समझें कि यह मलीनता मुझमें कैसे होती है? अपने स्वरूपको निरखो तो यह एक चेतनामात्र है। ऐसा अमूर्त पदार्थ कि जो चेतना रससे भरपूर है, जैसे आकाश है अमूर्त है और वह अवगाहनमें हेतु होता है। एक अजीव पदार्थ है। तो जैसे अमूर्त भी कोई पदार्थ होता है, अमूर्तपना होकर भी अस्तित्व होता है, ऐसे ही जैसे धर्म, अधर्म, आकाश काल, द्रव्य हैं उसी प्रकार अमूर्त यह आत्मद्रव्य है। इसमें चैतन्यरससे भरपूरता है। ऐसा एक विलक्षण पदार्थ जो निरन्तर चेतते रहनेका काम करता है उस पदार्थमें यह विकार मलीनता आयी कैसे है? तो एक साधारण नियम है कि किसी भी पदार्थमें मलिनता विषमता आयी तो उस विषमतामें यह खुद निमित्त नहीं हो पाता। कोई भी पदार्थ खुदकी मलीनतामें खुद निमित्त नहीं हुआ करता। यदि खुदके विकार में खुद ही निमित्त हो तब तो लुटिया डूब गई। कभी विकार हट ही नहीं सकता। फिर तो मोक्षमार्ग की चर्चा ही क्या की जायगी? मुक्ति कभी सम्भव ही नहीं, चेतन हो, अचेतन हो, कोई भी पदार्थ उसमें यदि विकार होता है तो वहाँ परसंग ही निमित्त है, स्वयं निमित्त नहीं है। इस बात को बड़े–बड़े अध्यात्मशास्त्री श्री आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र सूरि, जिनसेनाचार्य आदि अब एक स्वरसे बतला रहे हैं कि किसी भी पदार्थ में विकार होता तो उसमें खुद निमित्त नहीं, किन्तु परसंग ही निमित्त है।

परसंगमें ही उपादानमें विकारकी संभवता––अब यहाँ कोई यह देखे कि जिसमें विकार हुआ है तो है तो उसका ही परिणमन। उसमें यदि विकाररूप परिणमने की योग्यता न हो तो कैसे विकार हो जाय? यह भी एक तथ्य है, पर इसका कोई ऐसा एकान्त करले कि जितने विकार होते हैं उसमें कारण केवल अपनी योग्यता ही है। परनिमित्तका संगरूप कारण कुछ नहीं है। तो यह बताये कोई कि सदा ही योग्यता क्यों नहीं निभती? यदि मात्र अपनी योग्यतासे ही विकार हुआ, हुआ योग्यतासे ही, मगर मात्रका अर्थ है कि परनिमित्त सन्निधानकी कुछ बात ही नहीं है। वह आवश्यक ही नहीं। हो तो क्या, न हो तो क्या? और यदि मात्र योग्यतासे ही विकार बने तो यह योग्यता सदा क्यों न चले? सदा क्यों नहीं विकार होते? तो योग्यतामें भी तो यह प्रश्न होता कि योग्यता सदा क्यों नहीं ऐसे विकार की रहती? कोई कहे––वाह ऐसी ही योग्यता है तब तब तो यह कोरा एक हठवाद है। कोई कारणको जिस प्रकार आगममें कहा, दार्शनिक शास्त्र कहते हैं उन युक्तियोंसे सोचना तो पड़ेगा। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि निमित्तसन्निधानमें विकार हुआ तब भी विकार निमित्त की परिणतिसे नहीं हुआ। जिसमें विकार हुआ उसकी परिणतिसे ही हुआ। पर खुद खुदके विकारमें निमित्त नहीं हो सकता। तो मेरेमें जो विकार जगा वह मेरे निमित्तसे नहीं

जगा। मेरे में वह झलक पर उस झलक का मात्र मैं ही कारण हूं, निमित्त हूँ, दूसरा कोई निमित्त नहीं, यदि ऐसा होवे तो यह प्रसंग आयगा कि सदा विकार हों, सदा योग्यता रहे ऐसी। परन्तु विकार मेरे निमित्तसे नहीं होता। उसमें निमित्त क्या है? पूर्वमें बाँधे हुए कर्मका विपाक।

निमित्तनैमित्तिक भावकी वस्तुस्वातंत्र्य होनेपर ही संभवता––यहीं देख लो––लालटेन जल रही, और इतने पदार्थ प्रकाशित हो रहे तो पदार्थ जो प्रकाशित हो रहे हैं तो वे खुद अपनी अन्धकार–अवस्थाको तेजकर इपनी ही प्रकाशपर्यायसे प्रकाशित हो रहे हैं देखो यह भी तो प्रत्यक्ष है। युक्तिजन्य है कि प्रकाशक दीपकका सन्निधान न हो तो यह निश्चित नहीं होता। अनेक बार देख लो––युक्तिसे। अब एक द्रव्यकी दृष्टि रखकर यही बात कहें कि जब प्रकाश होना होता तब प्रकाशित होते, जब नहीं होना होता तो नहीं होते। तो ऐसी केवल एकान्ततः एक उपादानकी दृष्टिसे ही कथन करें तो वह आगमनसम्मततो न हो जायगा। यह नैमित्तिक भाव हैं, यह औपाधिक भाव है, अन्यथा जगतकी व्यवस्था नहीं रह सकती और फिर देखो निमित्तनैमित्तिक भावका रोज तो सदुपयोग करते ही हैं, नही तो भूखे बैठे रहते। जिस–जिस विधिसे जो बात बनती वह उसी विधिसे बनती। रोज चूल्हा जलता, सिगड़ी जलती, रोटी सिकती, सारा समान बनता, यह बात तो आप रोज–रोज करते, पर तथ्यकी बात हैं तो दोनों। पदार्थमें अपनी परिणितसे, अपनी योग्यतासे विकार बना यह भी तथ्य है और परसंगका निमित्त पाकर बना, यह भी तथ्य है। अब दोनों तथ्यों में से एक ही तथ्यका कोई एकान्त करे तो उससे कोई ठीक राह नहीं मिलती। जैसे कोई एकान्त करता कि वस्तुकी योग्यतासे ही विकार जगते हैं और कोई ऐसा एकान्त करे कि ये निमित्तसे ही विकार जगते हैं तो दोनोंका अपलाप मिथ्या है। वहाँ यह समझना चाहिए कि अनुकूल निमित्तके सन्निधानमें पदार्थ अपनी योग्यतासे विकाररूप परिणम गया है। तो यहाँ प्रकृत में वह बात समझनी है कि मेरेमें जो कषायें जगीं, विकार जगा, उसमें निमित्त मैं नही। यह तो कर्मविपाकका का निमित्त पाकर हुआ।

कर्मविपाकका सन्निधान होनेपर उपयोगमें उसके प्रतिफलनकी अनिवारितता––अब यहाँ ही समझनी है बहुत कुछ बात। पूर्वबद्ध कर्म जब उदयागत हुए तो उनमें उनके विपाककालमें और चूँकि यह आत्मा बंधनमें पड़ा हुआ है तो कर्मविपाक याने कर्मका अनुभाग जो खिला सो इसके उपयोगभूमिमें उसकी झाँकी अवश्य हई, यहाँ तब बुद्धिपूर्वक कुछ काम नहीं होता है। उपयोग जुड़नेकी बात नहीं है यहाँ तक। जैसे अजीव अजीवमें निमित्त नहीं है, इसी ढंग का कर्मविपाक और कर्मविपाकका प्रतिफलन इसमें ऐसा ही निमित्तयोग है। उपयोगी जुड़नेकी बात यहाँ नहीं है। अब देखिये उस कर्मविपाक के प्रतिफलन होते ही ज्ञानका तिरस्कार हुआ भीतरमें यह जीव भड़का या इस जीवमें एक प्रकार की भड़भड़ाहट (घबड़ाहट) हुई या कुछ विलक्षण काम करने का उद्यम बनता है तो यहाँ जब कर्मविपाकका प्रतिफलन हुआ और उससे ज्ञानस्वभावमें तिरस्कार हुआ तो इसमें भड़भड़ाहट हुई और उस समय इसको वहीं सूझा। ये संसारके जो नोकर्म हैं, आश्रयभूत पदार्थ हैं, उपचरित निमित्त हैं, इनमें उपयोग जोड़ हूँ, उससे मेरेको शान्ति मिलेगी। ऐसी इसमें एक परिणति हुई, तो इन बाह्य पदार्थोंमें उपयोग जोड़ा, उपयोग जोड़ा तो बुद्धिपूर्वक काम हुआ और उपयोग न जोड़े तो वहाँ कर्मविपाकका प्रतिफलन तो अनिवारित है और चेत्यचेतक सम्बन्ध होनेसे इतनी बात झलकी होती ही है, पर प्रतिफलन मात्र ही रहे तो इससे मेरेको संकट नहीं होता। वह अव्यक्त विकार रहा। संकट तो व्यक्त विकारमें पड़ा है। हालांकि अव्यक्त विकारमें मलिनता है और वही तो सबकी जड़ है, लेकिन, जो फूटा, जिसे कहते हैं बम फूटा, कोई आपत्ति आ गई तो वह हुई है बुद्धिपूर्वक उपयोगके करनेमें इस आश्रयभूत

निमित्तमें उपयोग को जोड़नेसे। यहाँ ये बातें समझ लीजिए कि कर्मोदय आया और उसका प्रतिफलन आत्मामें हुआ। यहाँ तक तो कोई वशकी बात है नहीं। होता ही है ऐसा, दो द्रव्योंका ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है, पर इसके आगे जो हम तिरस्कृत होकर, भड़भड़ाकर बाहरी पदार्थोंमें उपयोग जोड़ते हैं बस यहाँसे हमारी करतूत अपने आपका विघात करने वाली बन जाती है। तब हमें क्या करना? यह करना है कि इस कर्म विपाक में प्रतिफलनका जो नोकर्म है ये संसारके समस्त बाहरी उपचरित निमित्त हैं, इनमें मैं उपयोग न जोड़ूँ।

आत्मकल्याणार्थीका लौकिक जनोंसे निरालापन––देखो जिसको आत्मकल्याण चाहिए उसे तो जगसे निराला बनना पड़ता है। उसकी वृत्ति तो लोकसे विपरीत होगी। लौकिक जनोंका तो इन बाहरी समागमों की ओर आकर्षण रहता है तो आत्मकल्याणार्थी इन सबकी उपेक्षा करके निज सहजस्वभावकी ओर अभिमुख रहनेका प्रयत्न करता है। ज्ञानीकी वृत्ति विपरीत होती है। अज्ञानी पुरुष तो व्यवहार में जगता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष व्यवहार में सुप्त रहता है। अज्ञानी पुरुष तो परामर्थमें सोता रहता है, परमार्थकी सुध नहीं रहती है और यह ज्ञानी पुरुष व्यवहार में सोता रहता है। ज्ञानीकी जगत के प्राणियोंसे विपरीत वृत्ति होती है। ज्ञानीकी आन्तरिक विलक्षणता इतनी उमड़ उठी कि इसकी बाह्य क्रियावोंमें भी विलक्षणता हो जाती है। मुनिराजका यही तो एक अध्यात्मसाधनाका मुद्रित रूप है लोग तो बैठकर भोजन करते, और मुनिराज खड़े–खड़े। आप देख लो––मुनियोंकी गृहस्थ जनोंसे कैसी उल्टी वृत्ति है? अब कोई यह न सोचे कि आजकल के लोग तो खड़े–खड़े जूते पहने ही खाने लगे तो ऐसी तर्कणामें मत जावो। एक साधारणतया बात कहते हैं, और इस तर्कणामें भी जावो तो उनके उद्देश्यमें तो बड़ा फर्क है। जो आजकलके लोग खड़े होकर बड़े मौजसे खाते हैं तो यह तो उनकी तफरी है और जो मुनि महाराज खड़े होकर भोजन करते तो उसका उद्देश्य क्या है? एक तो उनको इतनी फुरसत नहीं है अपनी आत्मक्रीडासे अलग कि वे मौजसे बैठकर अधिक समय लगाकर खायें। दूसरी बात––एक आसनसे खड़े होकर भोजन खानेमें भरपेट भोजन नहीं होता। और उनका ऐसा ही ख्याल है कि भरपेट भोजन करना, यह भली बात नहीं है। प्रमाद आये, रोग जगे और व्यर्थका विकार बने। अलौकिक वृत्तिकी बात कह रहे हैं। लेकिन जन तो लोगोंसे, संयमी जनोंसे सम्भाषण कर–करके अपना दिल ही बहलाते हैं, पर मुनिजन असंयमी जनोंसे सम्भाषण नहीं करते। किसी प्रकारका कुछ भी तो संयम हो और प्रयोजनवश ही कभी असंयमी जनोंसे बात करते हैं, अलौकिकी वृत्ति है ज्ञानकी दृष्टिमें। देखो तो अज्ञानीकी और ज्ञानियोंको अलौलिकी वृत्ति है। अज्ञानी तो विषय–साधनामें आसक्त रहते हैं और ज्ञानी जन इन साधनोंसे अतीव विरक्त रहते हैं। अज्ञानीका स्वभावदर्शन में मन ही नहीं होता, और ज्ञानी जन इस स्वभावदृष्टिको छोड़ना पसंद नहीं करते। अब ज्ञानीकी, अज्ञानीसे बिल्कुल विलक्षण वृत्ति होती है।

कर्मविपाकके नोकर्ममें उपयोग न जोड़ने की महिमा––हाँ तो यह ज्ञानी पुरुष सोच रहा है कि कर्मविपाक हुआ, उसका प्रतिफलन हुआ, यहाँ तक तो मेरा कुछ वश नहीं, यह तो एक अनिवारित निमित्तनैमित्तिक योग है। जैसे अग्नि पर पत्ता गिरे तो वह जलता है, यह एक अनिवारित योग है। दर्पणके आगे कोई चीज आयी, प्रतिबिम्ब हुआ। तो जैसे लोकमें यह बात देखी जाती है, इसी प्रकार यहाँ यह बात बनी कि कर्मविपाक हुआ और उसका प्रतिफलन हुआ। चेत्यचेतक सम्बन्ध है ही, किन्तु इसके आगे कोई बढ़े याने उस कर्मविपाकके नोकर्ममें जगतके इन बाहरी पदार्थोंमें अपना दिल जोड़े, उपयोग जोड़े तो इसको विकार जगता है। तो ज्ञानीका संकल्प है कि मैं इन उपचरित निमित्तोंमें उपयोग न

जोड़ूँगा और जब उपयोग न जोड़ूँगा तो होगा क्या कि कर्मविपाकका जो प्रतिबिम्ब है, माया, छाया प्रतिफलन है उसका सम्पर्क छूट जायगा तब मैं अपने आप प्रसन्न होऊँगा। प्रसन्नता का अर्थ है निर्मलता। जैसे किसीसे पूछा जाय––कहो भाई प्रसन्नता तो है ना? तो कहते हैं कि खूब प्रसन्नता है, खूब मौज है, खूब आनन्द है, खूब खाने–पीनेका साधन है, बड़ा ठाट–बाट है। अरे प्रश्नकर्ताने तो यह पूछा है कि आपमें प्रसन्नता याने निर्मलता है कि नहीं? लेकिन यह उत्तर देता है मलिनताका। तो बस फर्क यहीं डालना है कि हम अपने सहज ज्ञानस्वरूपको निरखकर यहाँ ही प्रसन्न रहें और बाहरी पदार्थ इस उपचरित निमित्तमें अपना उपयोग जोड़ें, इसमें हम आपका कल्याण है।

(14)

मेरा प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश्य एक ही है––ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमन होओ, अब कहीं भी विसम्वाद नहीं, मुझको तो सर्व घटनाओं में यही यहा प्रयोजन दिखता है, बस मेरा कर्तव्य तो ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमना ही है, अन्य कुछ नहीं।

ज्ञानका ज्ञानरूप से परिणमन होते रहना ही ज्ञानीका प्रयोजन––यहाँ इतनी बात तो समझनी होगी कि मैं रह रहा हूं, मैं हूँ तो मेरा प्रयोजन क्या होना चाहिए? मेरा प्रयोजन, मेरा लक्ष्य, मेरा उद्देश्य, मेरा प्रोग्राम, मेरेको करना क्या है, ऐसा लक्ष्य हमारा क्या हो कि मेरा ज्ञान मात्र ज्ञानरूपसे परिणमे। मेरे ज्ञानमें अटपट अनेक कल्पनायें न जगें। ये कल्पनायें जो लावारिस हैं, ये उठ उठकर उस जीवको परेशान करती हैं, घोटती रहती है, तो मेरा लक्ष्य होना चाहिए यह कि मेरे ज्ञानका बस ज्ञानरूपसे ही परिणमन हो, ऐसा जब एक संकल्प हो जाय और अपना दृढ़ निश्चय हो जाय तब फिर अपनेको कहीं विसम्वाद न जंचेगा। बाहरमें जो होता है सो हो। मेरेको तो मेरेमें खुश करना है, बाहरमें कुछ करनेको नहीं पड़ा। अब इस ज्ञानी के लिए कहीं भी विसम्वाद नहीं है, सर्वदशाओंमें, सर्व क्षेत्रमें सर्व घटनाओंमें केवल एक यही प्रोग्राम, यही लक्ष्य रहता है कि मेरा तो ज्ञानका ज्ञानरूपसे ही परिणमन हो, यही यही निरन्तर प्रयोजन इस ज्ञानी पुरुषमें विदित होता है। अज्ञानका अंधेरा एक इतनी बड़ी विडम्बना है कि उसमें यह जीव विडम्बित होता है, मायने पागलसा रहता है। पर्यायमें यह कुछ चाहे तो वहाँ अटपट और विभिन्न अनेक बातें बनती हैं, बस यही तो पागलपन है और एक अपने द्रव्यस्वरूपको देखें, स्वभावको परखें तो वहां केवल एक ही निर्णय है कि यह मैं हूँ और ऐसे भावसे रहना मेरा काम है। एक निर्णय रहे, वहाँ किसी प्रकारकी विडम्बना नहीं है। तो अपना प्रयोजन यही मात्र हो कि मेरेको तो केवल बस यही चाहिए कि मेरा ज्ञान स्वच्छ रहे। ज्ञान केवल ज्ञाता दृष्टा रहनेका ही परिणमन करे। इसके आगे मुझे कुछ न चाहिए।

एक निज लक्ष्य की उपयोगिता––भैया! एक बात चाहो तो सर्वसिद्धि होगी, अनेक बातें चाहो तो उनमें एक भी न मिलेगी। एक कथानक है ऐसा कि एक मनुष्यको देवता सिद्ध हो गया तो प्रसन्न होकर उस देवताने कहा कि तुम जो चाहो एक चीज मांग लो। तो उस पुरुषने कहा––अच्छा कल माँगेंगे। वह अपने घर पहुंचा और स्त्रीसे कहा कि हमें देवता सिद्ध हो गया है, बोलो क्या माँग लें? तो स्त्रीने कहा–एक बेटा मांग लेना, उसके कोई बेटा न था। मांसे पूछा क्या मांगें तो मांने कहा हमारी आँखें मांग लेना, क्योंकि वह स्वयं अंधी थी। पितासे पूछा क्या मांग लें? तो पिताने कहा धन मांग लेना, क्योंकि उसे धन बहुत प्यारा था। देखिये––पिताको ध नही धन सब कुछ दिखता है। आजकल शादी विवाहमें जो दहेज का इतना विस्तार बढ़ा है वह पिताके कारण बढ़ा है। लड़ की दृष्टि धनपर नहीं होती। तो वह पुरुष सोचने लगा कि मैं क्या मांग? आखिर सोचते–सोचते उसे एक बात ठीक सूठ गई। जब देवता ने कहा––मांगो, तो वह पुरुष बोला कि अच्छा मैं

तुमसे यह मांगता हूँ कि मेरी मां अपने पोतेको सोनेके कटोरेमें दूध पीता हुआ देख ले। लो इस एक ही बात में सभी चीजें आ गई। खैर, यह तो लौकिक बात है। वास्तविकता यह है कि केवल एक लक्ष्य हो तो अपने आपको सहज चैतन्य स्वमावरूप प्रतीतिमें रखना––मैं यह हूँ। सारे संकट मिट जायेंगे, कर्मका प्रक्षय होगा, रत्नत्रयका विकास होगा। जो बात भलेके लिए चाहिएँ वे सब अपने इस श्रद्धाकी दृढ़तापर होने लगेंगी। तो जीवनमें एक ही प्रोग्राम रहना चाहिए।

बह्य परिस्थितियोंकी भी उपेक्षा करके ज्ञानकी विशुद्ध वृत्तिके लक्ष्यमें रहनको अनुरोध––यद्यपि गृहस्थके गृहस्थी है, परिस्थिति है, कुछ सोचना तो पड़ता है, कुछ करना पड़ता हैं, मगर भीतरी प्रोग्राम केवल एक रहे, बस मुझको तो मुक्त होना है। ''मुझे न है पर का पतियारा, मुक्तीका प्रोग्राम हमाार।'' एक ही बात। मेरा तो प्रोग्राम मोक्ष जानेका है। मनमें यह बात बसी हो कि मेरा प्रोग्राम तो मोक्ष जानेका है तो उससे फिर विसम्वादकी वृत्तियां न जगेंगी। तो लक्ष्य शुद्ध करना एक यह बहुत बड़ा काम है। जिसका लक्ष्य शुद्ध नहीं है, वह कितनी ही चेष्टायें करके भी अपने हितको नहीं प्राप्त कर पाता। लक्ष्यविहीन पुरुष इस तरहसे अपनी नाव खेता है कि जैसे कोई नाविक रातको नाव तो खेवे, पर यह ध्यानमें न रखे कि हमें किस ओर जाना है तो बस थोड़ा इस दिशाको खेया, थोड़ा दूसरी दिशाको खेया, यों चारों दिशाओंमें नाव भटकती रही, किसी भी किनारे न पहुंच सही, नाव मझधारमें ही पड़ी रही। ऐसे ही हमें बनना क्या है, चाहना क्या है, रहना किस तरह है, अपने आपमें ज्ञानको किस तरह बर्ताना है? यह जब निर्णय ही नहीं कर पाया तो फल क्या होता है कि इस विषयसाधनामें भटक–भटककर कल्पना, सुख और दुःख इनमें ही भटकता रहता है और ऐसी ही विडम्बनामें अपना यह जीवन गंवा देता है। तो अपना प्रयोजन शुद्ध बनायें। यह ही कात है इस जिन्दगीमें करनेके लिए कि मेरा ज्ञान शुद्ध ज्ञान रूप से परिणमन किया करें। हममें रागद्वेष, लालच, ईर्ष्या, कषाय–ये न आयें और मैं अपनी शुद्धबर्तना में ही रहूँ, जाननहार ही रहूँ तो इसमें ही मेरा हित है और ऐसा ही मैं करूँगा, ऐसा दृढ़ संकल्प हो। मैं इन नोकर्मोंमें, उपचरित निमित्तोमें उपयोग न जाडूँगा और इस कर्मविपाकके प्रतिफलनको मैं व्यर्थ बनाकर अपने आपमें प्रसन्न होकर मोक्षमार्गमें ही रहूँगा।

(15)

दृष्टिमें तो आहीगया कि मुझे इस अन्तः स्वरूप में ही रहना है, नहीं रह पाता, यह कर्मलीलाका विलास है, होओ घबड़ानेकी बात नहीं। दृष्टि और कर्मलीला–इन दोके संग्राम में आखिर दृष्टिकी विजय होगी।

ज्ञानकी स्वरूप मग्न होने के कर्तव्यका दृढ़ निर्णय––सबको यह बात इष्ट है कि मेरे को शान्ति सुख प्राप्त हो और जितने भी उद्यम किये जाते हैं, वे इसी प्रयोजनसे किये जाते हैं कि मेरेको शान्ति मिले। लेकिन यह बात निश्चित है कि हम यदि अपने आधारको, स्वरूपको न देखकर किसी भी बाह्यपदार्थमें कुछ तर्कणा करें, विकल्पकरें, तो वहाँ शान्ति नहीं मिलती और समग्र नोकर्मके उपयोग छोड़कर अपने एक अन्तः स्वरूपमें विश्राम करें तो शान्ति मिलती है। यह बात ध्रुव सत्य है। जो इस उपायको कर लेगा उसका यह जीवन सफल है। और जो अपने इस उपायको न करे, मात्र केवल बाहरी बातों में, विकल्पमें ही अपना उपयोग भटकायगा उसको शान्ति भी नहीं अगला भव भी उत्तम न मिल पायगा। तो जरा अपने आपपर दया करके अपने हितकी बात बिचारिये। अपनेको सुनाने की बात कही जा रही है। अपनी दया किसमें है? इस वक्त भी शान्ति मिले, इस भवसे मोक्ष तो होता नहीं, क्योंकि संहननहीन है, उसप्रकार इतना बड़ा व्रत, तप, संयम बन नहीं पाता, तो अगला भव तो मिलेगा कोई। वह भव उत्तम मिले जिससे धर्मका वातावरण मिले और अगले भवमें

धर्मका वातावरणपाकर अपने स्वरूपकी आराधना दृढ़ बना लूँ। यह एक मनमें बात होनी चाहिए। दूसरी बात को मनमें स्थान न दें हाँ तो जब यह निर्णय करने लगे कि मेरेको अपने स्वरूप में रहने का ही काम उत्तम है। और इसके लिये भेद विज्ञान वस्तु स्वरूपका खूब मनन कर कर इस बात के निर्णय में आ गए हैं और यह बात दृष्टिमें भी आ गई है कि एक आध बार अनुभव भी बनता है कि मेरा कल्याण तो मेरे अन्तः स्वरूपमें रहने का ही है। तो इस निर्णयके बाद फिर दूसरी बात चित्तमें नहीं आया करती कि मेरेको लोकमें कुछ और भी काम करना है। बस कात है तो एक ही––मेरेको अपने स्वरूप में गुप्त होना है।

स्वरूपदृष्टि बलसे स्वरूपमग्नताबाधक कर्मलीलाविलासके समापनकी संभवता––अपने को अपने स्वरूपमें लीन होना है, ऐसा निर्णय करने पर भी यह जीव अपने स्वरूपमें लीन नहीं हो पाता। अपने अंतः स्वरूपमें न उपयुक्त रह सके, इसका कारण क्या है? यह एक कर्मलीलाका विलास है। कौन ज्ञानी नहीं चाहता कि मैं एकदमतुरन्त अपने स्वरूपमें लीन रहकर शान्त रहूँ, ऐसा प्रत्येक ज्ञानी चाहता है किन्तु जहाँ तक ज्ञानीके प्रमाद है चौथे, 5वें, छठवें गुणस्थानमें वहाँ यह जीव कहाँ रह पाता स्वरूपमें? झांकी होती है, तभीं स्वानुभव भी होता है, मगर कितनी देरके लिए? क्षण भरके लिए। यह अपने स्वरूपमें तो नहीं रह पाता, तो इसमें कारण क्या? भले ही यह कहा जायेगा कि अपनी कमजोरी कारण है, पर ऐसी कमजोरी क्या मेरे स्वरूपकी बात है? नहीं है। तो कमजोरी ऐसी क्यों आयी? तो आखिर उत्तर देना होगा कि यह सब कर्मलीलाका विलास है। पहले बाँधे हुए कर्म उदय में आये, उदयागत कर्ममें जो अनुभाग खिला उसका प्रतिफलन हुआ और चूंकि अभी सामर्थ्य नहीं जगी, विकास नहीं जगा तो इसमें विकार बन रहे हैं, ऐसा यह कर्मलीलाका विलास है, जिसका निमित्त पाकर यह मैं जानकर भी अपने अन्तः स्वरूपमें मग्न नहीं हो पाता। फिर भी ज्ञानबल तो मिल गया। सहज स्वरूपमें दृष्टि दें, उमंग उस ओर ही सुध करें। कर्मलीलाविलास दूर हो जायगा निर्णय रखें मेरेको जगतमें कोई दूसरा काम नहीं पड़ा करनेका।

अपनेपर अपना उत्तरदायित्वकी सम्हालका कर्तव्य––देखो अपनी जिम्मेदारी अपने आत्मापर ही है। किसी का कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं। दूसरे लोग जिसको हम अपना मित्र समझते, बन्धुसमझते वे लोग तो एक कषायके बढ़ानेमें और कषायपर कषाय चढ़ानेमें ही उद्यम किया करते हैं। वीतराग भावमें लगानेका उद्यम करने करानेमें कोई निमित्त है तो देव, शास्त्र, गुरु। देव, शास्त्र, गुरुको छोड़कर अन्य जितने भी लौकिक समागम हैं वे समागम इस आत्माके कल्याणरूप नहीं है। हाँ तो ज्ञानीने जाना, अनुभव भी किया कि निज सहज आनंद स्वरूप में अपने ज्ञानको जुटा देना, यह ही एक शान्तिका मार्ग है, पर यह मार्ग जानकर भी इस मार्गपर चल नहीं पा रहा और भीतर ही भीतर एक अपनी इस निर्बलतापर घबड़ा रहा है। क्या इसी प्रकार संसारमें रुलता चलेगा या इसी प्रकार इन उपचरित निमित्तोंमें उपयोग को भटकाते रहना पड़ेगा। ज्ञानीको घबराहट है तो यही है। यह है एक मीठी घबराहट आत्मकल्याणके लिए। सो जरा पुनः ज्ञानबलका प्रयोग करो और सोच लो घबराहटकी बात नहीं है। अपना उपयोग अपने सहज अंतः स्वरूपमें लें तो इसमें ही कल्याण है। नहीं हो रहा आज यह परमकर्तव्य, तो घबड़ावो मत, क्योंकि दृष्टि इसको प्राप्त हो रही। आत्माके स्वरूपकी दृष्टि इसको मिल गई है। अब घबराहटकी बात नहीं है, क्योंकि अब तो दो का तो संघर्ष चल रहा है ना? दृष्टि और कर्मलीलाका। पहले बाँधे हुए कर्म उदयमें आते हैं, उनका अनुभाग खिलता है, ज्ञानका तिरस्ककार होता है और यह अविकार स्वरूपसे हटकर उपचरित निमित्तमें लगता है, ऐसा सब कुछ होनेपर भी अगर दृष्टिका बल मिल गया है, निज सहज स्वरूपकी उपासनाका बल प्रकट हो गया है तो

विजय इस दृष्टिकी ही होगी आखिर, क्योंकि दृष्टि है अपने कुल, वंशके अनुरूप और यह विभाव है, कर्मविपाक है, विकार है, यह मेरे कुल के विरुद्ध बात, अन्य बात है। अन्य बातें सबल नहीं होतीं। अपने ही अपनेमें रहने वाला सामर्थ्य सबल हुआ करता है।

स्वरूपदृष्टि द्वारा आत्मविजय पानका संदेश––दृष्टि और कर्मलीला––इन दो का संग्राम चल रहा है ज्ञानीके। और अज्ञानी जीनके यह संग्राम है ही नहीं। वहाँ तो कर्मलीला का ही साम्राज्य है। उसके शुद्ध दृष्टि जगी ही नही तो वह तो अत्यंत विडम्बनामें ही पड़ा हुआ है, लेकिन जिसने अपनी स्वतंत्रता निरखी ऐसा ज्ञानी जीव अपने ज्ञानकी आराधनामें लगता है और पहले बाँधे हुए कर्म कर्मोदयमें आते हैं तो उनकी लीलाका विलास भी चलता है। तब यहाँ द्वन्द्व मच गया आत्मदृष्टिमें और कर्मलीलामें, सो भले ही चल रहा द्वन्द्व, लेकिन जिसने आत्म स्वरूप की सम्हाल की, तब वह द्वन्द्व भी निर्बल हो जाता है और कभी निकट कालमें ही यह सब कर्मलाला समाप्त हो जायगी। इससे धैर्य धरो, विश्वास रखो, मेरेको निज सहज स्वरूपके अनुभव करने वाली दृष्टि मिली है तो विजय इस दृष्टिमें ही होगी। और दृष्टि विजयके मायने क्या हैं कि संसारके समस्त संकटोंसे छुटकारा मिल जायगा। इसके लिए मनन करें कि मैं शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, मेरा निज स्वरूप ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानमें किसी अन्य के स्वरूपका प्रवेश नहीं है। अब यह ही ज्ञान ज्ञानमात्र रह जाय, इसीके मायने हैं आत्मविजय। दृष्टिको सम्हालें और अपने आत्मापर विजय प्राप्त करें और ऐसा पवित्र काम करते हुए इस दुर्लभ मानवजीवनको सफल बनावें।

(16)

नोकर्ममें उपयोग जुड़ने के माध्यमसे ही कर्मफल व्यक्त होती है, अतः नोकर्मके संपर्क से अलग रहना भी एक पुरुषार्थ है, नोकर्ममें उपयोग न जुड़े तो कर्म प्रतिफलित मात्र होकर निकल जायगा।

निज सत्य सहजभावके आग्रहसे कर्मपाशका विनाश––अब तकके कुछ ज्ञान परिचय से यह समझें कि इस जीवका किसी अज्ञात तत्व पर वश नहीं चलता, उसको करे क्या? जैसे कर्मोदय हुआ है, आत्मा में उसकी झाँकी पड़ी है, इसे कौन मिटाने आयगा? वह तो निमित्तनैमित्तिक भाव है अनिवारित, किन्तु उस कालमें हम अपने ज्ञान स्वरूपमें न टिककर जगतके इन बाह्य पदार्थोंमें उपयोग लगाते हैं, इससे कठिन क्लेश पाते हैं। तो यहाँ हमारा वश चल सकता है कि मैं उन बाह्य पदार्थों को प्रकट असार मानकर इसमें मैं अपना उपयोग न लगाऊँ, यह बात मैं कर सकता हूँ। यह बात आप कर सकते हैं ज्ञानबलपर, सम्यज्ञानके बलपर वस्तु स्वरूपके निर्णयके बलपर। जगत में जो भी सत् होता है वह इपने में पूर्ण स्वतंत्र है। विकार भी होते तो उसमें अपनी कलासे विकार बना। उपादानमें कला है ऐसी कि वह अनुकूल निमित्तका सन्निधान पाकर अपनेमें अपने स्वभावका तिरोभाव कर विभावका आविर्भाव कर लेता है, देखते जावो। सर्व पदार्थ स्वयं अपने उत्पादव्ययध्रौव्यसे युक्त हैं। उन पदार्थोंमें हम क्या कर सकते हैं? एक विकल्प बनाते हैं, विचार बनाते हैं। विकल्प और विचार बनाकर हम अपना ही विघात करते हैं। कर्तव्य तो यह है कि मेरेमें एक भी विकल्प मत जगे। देखो सबमें हठ लगी है और सब अपनी–अपनी हठको पसंद करते हैं। यह तो बड़ी अच्छी बात है। हम अपना कल्याण तो सोचें कि कहाँ है? उसपर हम अपनी हठकर लें। सदा–कालके लिए झंझट खत्म हो जायें। मेरा कल्याण है सर्वविकल्पको मिटाकर एक निज सहज चैतन्यस्वभावमें 'यह मैं हूँ', ऐसी हठ करके रह जाय, आग्रह करके रह जाय, इस पर ही डटकर रह जाय, मैं तो एक शुद्ध चैतन्य प्रतिभासमात्र हूँ।

सत्य सत्याग्रहीका चिन्ह संसार शरीर भोगनिर्विण्णता––हमने निज चित्स्वरूपकी हठकर ली, हम कैसे मानें, इसकी निशानी क्या है? उसकी निशानी है कि फिर जगत के

इन वैभवोंमें आशा तृष्णा न जगे, किसी भी प्राणीसे रागद्वेष इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न जगे। हित मिलेगा तो इस समताभावसे मिलेगा। कषायमें हित न मिलेगा। तो देखो जो कषाय व्यक्त होती है वह कैसे व्यक्त होती है? पूर्वबद्ध कर्मका यदि उदय आया और उस कालमें इस जीवने जगत्के इन बाह्यपदार्थोंमें अपना उपयोग फंसाया, तकलीफ होने लगी, यदि संक्लेशसे, कष्टसे, विपत्तिसे बचना चाहते हो तो यह कर्तव्य है कि नोकर्ममें अपना उपयोग मत फंसावें, ज्ञातादृष्टा रहें। यह सब अपनी परिणतिसे है, मेरेसे जुदा है। इसमें विकल्प लगाये तो उसमें मेरा हित नहीं है। इससे हटकर अपने सहजस्वरूपको मैं हूँ, ऐसा मानूँ तो उसमें हित है। क्योंकि सहजस्वरूपकी प्रतीतिसे अहित सब दूर हो जाता। अहित क्या–क्या है? राग करना, द्वेष करना, अज्ञान छा जाना, विभिन्न कषायें बनना यह ही तो आत्मा का अहित है। अहित निकल गया तो वहाँ अपनी आत्मदृष्टि है, उसमें आत्महित है। क्या करना? बस सीधी बात है। कमसे कम इतना तो समझ लें कि मेरा मेरेसे बाहर कुछ नहीं है। इतना तो प्रयोग कर लें कि मुझको बाहरके किसी भी पदार्थसे लगाव नहीं रखना है। इतना तो ध्यान बना लें कि मुझको सारे विकल्पोंसे हटकर एक निज चैतन्यस्वभावमें मग्न होना है। जिन–जिन जीवों ने मोक्ष पाया उन्होंने यह ही तो किया। सर्व बाह्यपदार्थोंसे ममता हटायी और अपने सहजस्वभावकी आराधना की। ऐसा किये बिना मोक्ष नहीं मिलता और जो ऐसा करना चाहेगा। उसके व्रत तप संयम ये सब आयेंगे, क्योंकि यह बहुत बड़ा काम है। ज्ञानी जीव सहज ही संसार शरीर भोगोंसे विरक्त रहता है। यही ज्ञानी पुरुषका चिन्ह है।

कषायोंकी बलि करके सहज चिस्स्वरूपकी आराधना महान् कार्य––अनादिकालसे इन विकारोंका आदर कर करके विकारोंको बढ़ाते रहे, इन विकारोंको दूर करना है तो यह बहुत बड़ा भारी कार्य है, इस कार्यकी पूर्ति हमें सर्व उपायों से करना है। तो अंतरंग उपाय तो है अपनेको सहजज्ञानरूपसे प्रतीति करना। यह हूं मैं और बाहरमें करना है पापका त्याग, कषायका त्याग। यह ही तो कहलाता है व्रत, यह ही कहलाया संयम। भला पाप करते हुए में किसी ने सद्गति पायी। पाप क्या सद्गति का कारण है? पापसे तो दुर्गति होती है। पाप हैं 5––हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। हिंसा, बाह्य हिंसा व आन्तरिक हिंसा। दूसरे के प्राणोंका घात कर देना, दूसरेका दिल दुःखाना, अपने आपको अन्यायमें लगाना, यह सब हिंसा है। झूठ–जो बात जैसी नहीं है वैसी बोलना, जो बात जैसी है उस प्रकार न बोलना, बात कुछ है और जमायेंगे उल्टी तो यह सब झूठ कहलाता है। अपने आपपर दया करना है। मेरा इस जगतमें दूसरा कोई रक्षक नहीं है। रक्षक तो क्या है? पापकार्योंमें जुटाकर बरवादीके कारण बनाते हैं लोग। तो परसम्पर्क रक्षक नहीं, किन्तु भक्षक है। मेरे को अपने आप पर आस्था करनी है और अपने आपके ज्ञानके बलपर अपने को जीवनमें सुखी रखना है। जानें अपने उस विशुद्ध स्वरूपको, ऐसा जो उपयोग बनायगा वह पापसे हटेगा। यह भी व्रत बन गया। चोरी पाप––चोरी पाप करके कोई सुखी हुआ क्या? चोरके निरन्तर शल्य रहती है। चोरी करे तो, डाका डाले तो, चोरी दोनों कहलाती हैं, डकैतीमें भी मालिकके मनको स्वीकारताके बिना द्रव्य दिया गया। तो वही चोरीमें हुआ, वही डकैतीमें हुआ, यह पाप है। चोरी डकैती करने वाले लोग क्या कभी सुखी रहे, क्या कभी धनिक बन सके? अगर कोई धनिक बनेगा तो स्पष्ट रहकर बन पायगा। कुशील–पराई स्त्री निरखकर चित्तमें विकारभाव आना, परपुष को देखकर चित्तमें विरक्तभाव आना, देखो विडम्बना कहाँ बसी है? बाह्य सम्पर्क में नहीं, किन्तु भीतरकी दुर्भावनामें। प्रथम तो कामविकार ही पाप है, चाहे निज स्त्री और पति के सम्बन्ध में हो, स्वभावसे हटकर विकारभावमें आया सो आत्मविघात है। उस कामविकार के समय यह सहज परमात्मत्त्व प्रभु

आखिर ढक हो तो गया। तो कामविकार ही पाप है और फिर वह परस्त्री परपुरुषके बारेमें तो वह तो एक भयंकर उत्पात है। क्या कुशील सेवन करते हुए कोई जीव सुखी रह सकेगा? परिग्रहवाद–तृष्णा बनाना, हजार है तो लाख हों, लाख हुए तो करोड़ हों, करोड़ हुए तो अरब हों, ऐसी लालसा बनाना यह है परिग्रहपाप पामें कोई सुखीरह सका क्या है? पापका परित्याग करेगा कोई तो इसीको ही तो व्रत कहते हैं। यह ही तो नियमसंयम है। नियमसंयम बिना किसीका गुजारा चला क्या? मानो भोजन करते हैं, ज्यादह खालिया, अब तकलीफ पाते हैं, रोग होता है, दिलमें घबड़ाहट होती है। अरे तो भाई उचित खाओ, ऊनोदर करो और सुखसे रहो। खाता ही जाय कोई, रुके नहीं, ऐसा हो सकता क्या? रुकना पड़ता है, यह ही तो हो गया एक संयमका रूप। खानेका त्याग करना ही पड़ता है। तो अपने इन भावोंको संयमश्रृंगार से सजा दें। और भीतरमें वस्तुके ज्ञानकी प्रगति बनावें, भीतरमें स्पष्ट प्रकाश पावें। भीतर हो ज्ञान प्रकाश, बाह्य हो संयमी जीवन, तो बस जीवन सफल हो जायगा।

समाधियुक्त जीवन व समाधिस्मरणका महत्त्व––भैया! यह आयु तो खत्म होगी किसी दिन आयु मिटेगी। इस आयुको रखनमें कोई समर्थ नहीं। किसी भी संसारी जीवकी आयु सदा नहीं रह सकती। तीर्थंकर भगवान भी हों, आयु कर्म तो उनके भी था। उनकी आयु का विनाश हुआ, उसका नाम है निर्वाण, मोक्ष, मगर आयुका क्षय तो हुआ। छोटा हो, बड़ा हो जो भी है वह भवमें आया, जन्ममें आया। जिसने जीवन पाया, निश्चित है कि उस का मरण अवश्य होगा। उस मरण से बचाने में कोई समर्थ नहीं है। तो जब मरना पड़ेगा ही तो मानो 10 वर्ष और जीवित रहकर मरे तो क्या और अब मरे तो क्या है? हाँ इतना फायदा जरूर उठा सकते है कि रहे सहे जीवन में हम ज्ञान और संयम––इन दो की आस्था बनायें और इन दोनों से अपने आपको पवित्र कर लें तो मरण समता से होगा, शान्ति से मरण होगा और सद्गति प्राप्त होगी। देखो कमसे कम इतनी बात तो मंजूर है कि नहीं कि हमारा मरण शान्तिमें हो। अशान्त भावमें मरकर मेरा मरण न हो। यह बात बतलाओ आपको पसंद है या नहीं या घबड़ाकर दुःखी होकर संक्लेश करके, ममता करके, कषाय रखकर, विरोध रखकर, द्वेष रखकर मरण पसंद है? अरे भाई मरण हो तो शान्तिसे। गया हुआ समय वापिस नहीं आता। बिगड़ा हुआ मरण फिर वापिस नहीं आता। जो मिला है समय, जो मिला है उसका सदुपयोग करें और मरण शान्तिपूर्वक हो, इतना तो सबको इष्ट है। इष्ट है तो उसका ही उपाय बनालें। बस यह ही तो धर्म है। शान्तिपूर्वक मरण हो, इसका उपाय बनावें कैसे हो शान्तिपूर्वक मरण? यों होगा कि जब तक यह जीवन है तब तक तो शान्तिपर्वूक रह लें। अगर जीवन में शान्तिपूर्वक नहीं रहते तो मरण में शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि जो भाव बनाया, जिस भावको बढ़ाया, जिसभावसे प्रीति की वह भाव तो अपना प्रवाह बनायगा। अगर जीवन आकुलतामें ही गुजारा तो मरण समय में फिर क्या शान्तिकी आशा करना? यद्यपि किसी किसी की यह बात भी होती है कि जीवन कैसा ही खोटा गया हो, लेकिन मरणसे कुछ समय पहले इसका उपयोग सुधर जाता है, मगर यह तो बिरले ही पुरुषों के होता है। हम उनकी होड़ बनाकर अपनी इस जिन्दी को कषायों के संताप में, संक्लेश में बितायें तब आशा न करें कि मरण शान्तिपूर्वक हो जायगा।

समागत प्राणियोंमें मोह करने की व्यर्थता व अनर्थता जानकर निज सहजस्वभावमें उपयुक्त होनेका अनुरोध––मरण होने पर यहाँ के संग साथी कोई साथ न जायेंगे, क्योंकि सभी जीव अपना–अपना संस्कार लिए हैं, अपना–अपना भाग्य लिए हैं, सो अपना संस्कार और अपने भाग्यके अनुसार ही उनका परिणमन होता है। मैं किसे क्या करता हूं? मैं अपना विकल्प बनाता और दुःखी होता हूं और ये विकल्प बनते हैं पाप बुद्धि से। इस पाप बुद्धिको

मिटा दीजिए। सब जीवोंमें सहज परमात्मस्वरूप है, इसका निरीक्षण करें, मिलेगा ज्ञान, मिलेगी अपनी सम्पन्नता। मैं कहीं कुछ गरीब नहीं हूं, जो मेरा स्वरूप है उसे मैं लिए हुए हूं, ऐसा अपने आपमें ध्यान बनावें। मेरे को कहीं कष्ट नहीं। क्योंकि मेरा स्वरूप आनन्दमय है और वह आनन्दको ही बढ़ाने वाला है। उसमें कष्टका काम नहीं है। मैं तो बहुत स्वच्छ स्वतंत्र सुविधाओं वाला मौजूद हूं, मेरेमें विपत्तिका काम नहीं अज्ञान बसाते हैं और विपत्ति हमारे सिर पर आती हैं, तो उनको पाते रहना, भोगते रहना। इन बाहरी पदार्थोंसे उपयोग हटावें तो कर्मकी लीलाका विलास भी समाप्त हो जायगा। बस एक ही यह पौरुष करना है कि सच्चा ज्ञान जगावें और इन उपचरित निमित्तोंमें अपना उपयोग न जुड़ावें।

(17)

किसी भी जीवको देखो, किसीसे भी बोलो, किसी से भी व्यवहार करो, उसमें सहजपरमात्मस्वरूपका ध्यान पहिले कर लिया करो, पश्चात् जो व्यवहार करोगे वह स्वपर संतोषकारी व निरापद होगा।

आत्महित के अप्रतिकूल सद्व्यवहारका परिचयन––यह जीव जिस भवमें जन्म लेता है उस भवमें जिनका समागम मिलता है उनसे इसका व्यवहार चलता है। यह बात अनादि से चलती आयी है। जो व्यवहार करनेके अयोग्य हैं एकेन्द्रिय आदिक वे तो नहीं व्यवहार कर पाते हैं फिर भी सम्पर्क उनका भी रहता है दूसरोंसे। तो अब अपनी बात सोचनी है। हम इस भवमें आये और यहाँ अनेकोंका समागम मिला। रागद्वेष मोहवश उनसे व्यवहार किया करते ही हैं, पर यह तो विचारें कि अब तक अनेक व्यवहार कर करके भी कुछ संतोष आ पाया या नहीं। संतोष नहीं आ सका और जीवन कुछ और भी गुजरेगा तब भी संतोष न मिलेगा। तो बाह्य सर्म्क, बाह्य समागम, परस्परका व्यवहार इनसे संतोष नहीं मिलता, फिर भी किए बिना भी नहीं रहता। जब मन, वचन, काय मिले हैं तो इनकी प्रवृत्ति तो होगी ही। कायकी प्रवृत्ति होगी तो उस देहसे परस्पर उपग्रह करना चलेगा। वचनकी प्रवृत्ति है उसमें भी कुछ उपग्रह चलेगा। मन मिला तो उससे भी सम्बन्ध बनेगा। तो चूंकि मन, वचन, काय मिले हैं तो उनकी प्रवृत्ति करता ही है यह जीव, सो व्यवहार बन जाता है। अब व्यवहार करते–2 भी विवाद रहे, विसम्वाद रहे, अशान्ति रहे, असंतोष रहे तो अब क्या करना चाहिये? तो भाई बात तो यह है वास्तविक कि व्यवहार न रहे। जो हम आपका दूसरेसे व्यवहार चल रहा उस व्यवहारकी बात कह रहे हैं कि ये सब मिटें, मन भी गुप्त, वचन भी गुप्त और काय भी गुप्त रहे पर इतना तो न बन सकेगा। गृहस्थावस्था में तो सम्भव है, तब क्या प्रवृत्ति करनी चाहिए उस प्रवृत्ति का इस निबंध में जिक्र है।

देखते बोलते समय व्यवहार्य प्राणीमें सहजपरमात्मतत्त्वका ईक्षण–देखो पहले यह जीव देखता है, फिर बोलता है, फिर कोई चेष्टाा करता है, ऐसी ही तो बात पड़ी है मनुष्योंमें। तो प्रथम देखने को ही संभाल लें तो बाद की बातें सब संभल जायेंगी। देखनेको किस तरह संभालें? सम्यग्ज्ञानसाथ रखें तो देखना संभल गया समझिये। जैसे जीव को देखो, सर्वप्रथम यह चिन्तन करें कि इस जीव में सहजपरमात्मतत्त्व वही है जैसा मुझमें है, जैसा सबमें है। मूल चीज तो वही है जो सबमें पायी जाती है, ऐसी ही मुझमें है, ऐसी ही सबमें है। तो जो मौलिक बात है उसको हम मुख्यता बनावें देखकर और जो प्रायोगिक है, औपाधिक है, मायारूप है उसे प्रमुखता न देनी चाहिये। व्यवहार तो करना होगा। व्यवहार करते हुये भी प्रमुखता दें उस आत्मा के सहज ध्रुव स्वरूपवकी, जिसको मैं देखता हूँ वहाँ भी सहज परमात्मतत्त्व है। देखो सहज परमात्मतत्त्वका अपमान न हो जाये, तिरस्कार न हो जाये, यह भी साथ में बुद्धि लगी रहेगी। जब जीवको सम्यग्ज्ञान होता है तो ये सारी बातें एक सहज हो जाती हैं। जब मिथ्या बोध होता है, भ्रम रहता है तब यह कुछ भी हितकी

बात नहीं बन पाती। सर्वप्रथम जिसको देखें, देखते ही इतना ध्यान बना लें कि मूलमें तो यह भी सहज परमात्मस्वरूप है। अब अन्तर जो आया है, माया जो बनी है, पर्याप जो बनी है सो यह सब एक औपाधिक प्रसंग है। तो देखते ही सर्वप्रथम सहजपरमात्मतत्त्व की सुध लें और जब बालें तब भी यह ही सोचना कि उस एक सहजपरमात्मतत्त्वका जिसमें अधिष्ठान है उसको बोल रहा हूँ। मतलब यह है कि किसी जीवको तुच्छ न समझें।

स्वभावदृष्टिसे सबको समान समझकर व्यवहार करनेमें विवके–कोई जीव तुच्छ न दिखें, इसका आधार क्या है? जो दिख रहा है वह तो कोई तुच्द है कोई महान है, बड़े विविध अन्तर पाये जाते हैं। बाह्य अन्तर भी और भीतरी अन्तर भी। कोई धनी है, कोई गरीब है, कोई बलिष्ट है, कोई निर्बल है आदिक तो बाह्य अन्तर मिलते हैं, कोई ज्ञानी है, मूर्ख है, कोई कषायवान है, कोई उदार है आदिक भीतरी अन्तर मिलते हैं। तो पर्यायको देखने पर अन्तर जंचते हैं और उस दृष्टिमें तुच्छता की दृष्टि से हम अलग हो सकें यह बात कठिन है। तब जिसमें कोई जीव तुच्द न जंचे वह दृष्टि क्या? वह दृष्टि है स्वभावदृष्टि। जो भी जीव है वह अपने आप सत्त्व के कारण अपने सहजस्वरूपको लिये हुये है। उस स्वरूप में न कोई बढ़कर है, न कोई घटकर है। वह तो सब द्रव्यों में एक समान रूप से है, ऐसा सहज परमात्मतत्त्व दृष्टि में आये तो कोई जीव तुच्छन जंचे। तो किसी जीवको देखें, किसी से भी बोलें–उसमें परमात्मस्वरूपका ध्यान पहले कर लिया करें। इसके बाद जो व्यवहार होगा वह स्वयंको भी संतोषकारक होगा और दूसरों को भी संतोषकारक होगा। यह जीवन कोई भरोसे वाला जीवन तो नहीं है। यहां कोई अनपवर्त्य आयु वाला नहीं है। आयु छिन्न हो जाय, उदीरित हो जाय, बीचमें कट जाय, ये सब बातें हो सकती हैं। पता भी क्या किसको, आज है कलका पता नहीं। ऐसे चंचल जीवनमें हम अपने आपके दया की बात न करें और कषाय कर–करके अपने आपका विघात करें तो इसमें तो कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। हम अपनेमें अपने आपके स्वरूपको निरखें और ऐसे ही सर्व जीवों में उस स्वरूपको देखें और फिर तब व्यवहार करें तो उससे खुदको भी संतोष होगा और दूसरेको भी सन्तोष होगा। ऐसे ही व्यवहार में आपत्ति नहीं होती।

अकषाय आत्मस्वभावका आश्रय कर दुःखरूप सकल कषायों के उच्छेद करने का कर्तव्य––ये कषायें कष् धातुसे बनी हैं। जो आत्माकोकषे उसे कहते हैं कषाय। जो दुःख दे, पीड़ित करे, सो सभी कषायोंमें यह ही बात पायी जाती है। जब क्रोध प्रकृति का कर्मोदय होता है तब विषयभूत प्राणी की अनिष्ट करने की वासना जग जाती है और दूसरे का अनिष्ट न हो तब इस जीवको बड़ी बेचैनी रहती है। घमंड आये तो जब तक सबसे ऊँचापन अपने आपकी समझमें न बैठे, लोग न मान लें तब तक इसे चैन नहीं होती। छल–कपट यह तो एक शल्य ही बताई गई है। उसमें अपने धर्म का प्रवेश ही नहीं है और तुष्णा का रंग तो इतना गहरा है कि इसका समूल नाश तो 10वें गुणस्थानके अन्तमें हो पाता है। पहले होती हैं अन्य कषायें समाप्त और लोभ समाप्त होता है सबसे अन्त में। कषाय में जीवको आनन्द नहीं है। कषायें तजकर अविकार निजचैतन्यस्वरूपकी आस्था हो वहां इस जीव को आनन्दका लाभ है। तो ऐसे ही खुद को जानें, ऐसा ही दूसरे को समझे तो इस जीवको आपत्ति न आयेगी। तब हम अपने जीवका बर्ताव कैसा बनायें? दूसरों से बोलें तो कम बोलें सोचकर बोलें, प्रिय बोलें, आदर देकर बोलें। आफत तो यह है कि जब जीवके कषाय जगती है तो इसकी सुध भी भूल जाती है, फिर भी यदि संस्कार रहे और इसकी स्मृति रहे तो इस पर कुछ बर्ताव हो सकता है। सबसे पहली बात है आदरपूर्वक बोलें, फिर वहाँ कभी आपत्ति की सम्भावना ही नहीं। मनुष्य मानकषायकी प्रधानता बतायी गई है। मानपर विजय पाने से सुबुद्धि और आस्था सबका निवास हो जाता है।

नारक, तिर्यञ्च व देवों में क्रोध, माया व लोभ की प्रधानतासे विडम्बना––नारकियों में क्रोधकी प्रधानता, तिर्यच में छल कपट की प्रधानता, देवोंमें लोभ की प्रधानता और मनुष्योंमें मानकी प्रधानता होती है। कषाये ंतो चारों गतियोंमें हैं, मगर एक प्रमुखता की बात कह रहे हैं। दूसरे देवकी सम्पदा देखकर छोटे देव म नही मन झूर कर दुःखी रहते हैं। अरे एक भूख प्यास नहीं लगती देवोंको इतनी ही तो सुविधा है और इस सुविधापर हजारों वर्षमें कहीं भूख लगती, उस समय उनके कंठसे अमृत झर जाता और वे तृप्त हो जाते। तो यह सुविधा मिली है देवों को, मगर मानिसक दुःख न आये, ऐसी उनके पास क्या औषधि है? लोभकषायका रंग देवोंमें भी चढ़ा बढ़ा है। नारकियोंमें क्रोध है। जैसे यहाँ एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देखकर एकदम उस पर टूटता है। यदि दूसरे गाँव का कुत्ता निकले तो सारे कुत्ते उसके पीछे दौड़ते हैं ऐसी ही दशा नारकियों की है। किसी नारकी को कोई दूसरा देख तो ले, क्रोध उमड़ता है और उसे चैन से रहने नहीं देता। और क्रोध के औजार भी उनके पास ऐसे प्राकृतिक हैं कि उनकी कुल्हाड़ी वसूला, तलवार, चाकू आदिक नहीं बाहर से लाने की जरूरत नहीं पड़ती। जहाँ तलवार आदिक किसी भी औजार का संकल्प किया और मारने को हाथ उठाया तो वह हाथ ही औजार बन जाता है। कैसी अशुभ विक्रिया और कैसा वहाँ दुःखका स्थान, इन्हीं कारणोंसे वहाँ निरन्तर बेचैनी रहती है। यहाँ तो किसी को मारना चाहें तो कहीं से लाठी उठायें, कहीं से चाकू, कहीं से कुछ। यों कुछ समय लगे, मगर वहाँ कुछ नहीं ढूंढना है। जो मनमें आया सो उनका शरीर ही बन जाता है। ऐसी कठिन वेदना है नारकियों को। तिर्यञ्चोंका छल कपट, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। बगुला कैसा एक टांगसे खड़ा रहता है सरोवरके किनारे, पर जिसको राम लक्ष्मण सम्वादमें एक जगह कहा है। मानो वहाँ श्रीरामने कहा देखो यह बगुला कैसा एक टाँगसे खड़ा ध्यान लगा रहा है। तो वहाँ बताया कि अरे यह ध्यान नहीं लगा रहा हैं, यह तो मछलियों को पकड़ पकड़कर खाने का उद्यम कर रहा है। छिपकलीको देखा होगा कैसी छिपकर बैठी रहती है और 4.6 अंगुल दूर बैठे हुए कीड़ेपर एकदमसे टूट पड़ती है। बिल्ली को देखा होगा, चूहे को किस तरह से छल कपटसे पकड़ती है। तो तिर्यञ्चों में छल कपट की मुद्रायें स्पष्ट दिखती है।

मनुष्योंमें मानकषायकी प्रधानतासे विडम्बना और उसके उच्छेद से सद्व्यवहारकी प्रवृत्ति––अब मनुष्योंकी बात देखो, मनुष्योंमें है मानकषायकी प्रबलता। इस मानकषायके पीछे तो अपना घर भी बिगाड़ देते हैं। एक घटना गुरूजी सुनाते थे कि टीकमगढ़की किसी सुनारिनके मनमें सोनेके बखौरा (आभूषण) बनवाने की इच्छा हुई। स्थिति तो गरीबी की थी पर वह यह हठ कर गई कि हमें तो बखौरे ही चाहिएँ। आखिर पति ने किसी तरह से काढ़ मांगकर करीब 25 तोलेके बखौरे बनवा दिये। अब वहाँ तो रिवाज था सारे शरीर को कपड़ों से ढांककर चलने का, सो काफी दिनों तक उसके बखौरे किसीको दिखे ही नही ंतो फिर प्रशंसा कौन कर सके? वह मन ही मन कुढ़ती रही। एक बार उसे ऐसा क्रोध आया कि उसने अपने ही घर में आग लगा दी। आग तो लगा दी, पर जब जरा होश ठिकाने आया तो वह हाथ फटकार फटकार कर चिल्लाने लगी, अरे दौड़ो मेरा घर जल गया, वह बाल्टी रखी है, वह रस्सी पड़ी है, वह कुवा है। लोग जुड़े, इसी प्रसंग में किसी स्त्रीको उसके बखौरे दीख गए, सो पूछ बैठी–अरी जिज्जी ये बखौरे कब बनवाये? ये तो बड़े सुन्दर हैं तो वह सुनारिन झुँझलाकर (गाली देकर) बोली––अरी रांड, यही बात यदि पहलसे कह देती तो अपने घरमें आग क्यों लगाती? तो भाई मनुष्यों में इस मानकषायकी प्रबलता है। इस मानकषायके वंशीभूत होकर यह मनुष्य अपना बहुत बड़ा अनर्थ कर डालता है। इस मानकषाय का इतना अधिक क्लेश होता है कि इस मान की पुष्टि न हो तो घरमें भी यह आग लगा देता है। जितने लोग धन वैभवकी चाह में दौड़ रहे हैं उसका कारण

क्या धन है? धनके लिए धनी बन रहे क्या? अरे धनी बन रहे इस मानकषाय की पुष्टिके लिए। खूब भली–भाँति सोच लो––जो कुछ भी काम करते ये मनुष्य सो इस मानके अर्थ करते हैं। तो इस मानकी इतनी कठिन वेदना होती है। यह कषाय न हो तब तो योग्य सद्व्यवहार करने की बुद्धि बनती है। कषायें मंद हों, लोगोंसे सद्व्यवहार हो उसको जीवनमें कष्टका क्या प्रसंग? तो जिसको देखो तो ध्यान बना लो कि इसमें सहजपरमात्मस्वरूप है। जिससे बोलो सो ध्यान बना लो कि इसमें सहजपरमात्मरूप है, बस इस परमात्मस्वरूपकी सुध होते ही कषायें और मंद होती हैं और आदर, आस्था, सद्व्यवहार ये सब बनने लगते हैं। तो ऐसे ही सद्व्यवहार में यह जीव विपत्तियोंसे रहित हो सकता है।

(18)

मैं ज्ञानपुञ्ज हूं, मुझ जानको ज्ञानस्पसे ही परिणमना चाहिये, ज्ञानपरिणमनमें ही मेरा सर्वस्व कल्याण है, यही अनन्त भगवन्तोंने किया, ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपको ही ज्ञय बनाकर ज्ञानरूप परिणमना ही मेरा कर्तव्य है।

आनन्दमय होनेका उपाय ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन––जरा लोकके विश्वके समस्त जीवोंपर दृष्टि देकर यह तो कुछ चिन्तन करें, निर्णय करें कि इस लोकमें कोई सुखी है क्या? हाँ हाँ सुखी तो है। कौन सुखी है? भगवान सुखी हैं। अरहंत भगवान, सिद्ध भगवान, शरीरसहित भगवान, शरीररहित भगवान। भगवान ही आनन्दमग्न हैं। शरीर सहित जो भगवान है वह भगवान सदा शरीरसहित न रह पायगा। शरीरधारी योगी मुनि एक सहजपरमात्मरूपकी उपासना कर–करके भगवान बने तो शरीर था पहले और उसीमें भगवान बन गए तो शरीरसहित भगवान कहलाये, पर शरीरसहित तो नहीं रहते, उनका भी निर्वाण होगा, शरीर नष्ट होगा, कपूरवत् उड़ जायगा। शरीररहित भगवान हो गए। यहाँ शरीररहितताकी बात न देखें। निरखें जो आत्मा निर्मल है, वीतराग है वह ही आत्मा सुखी है और जगतके अन्य आत्मा जो सराग हैं, कषायकी आस्था रखते हैं, कषायको अपनाते हैं वे जीव सुखी नहीं हो सकते। अच्छा, हाँ हैं भगवान सुखी। तो अब क्या कर्तव्य है? वह कर्तव्य है जिसको करके यह भगवान बने, सुखी बने। जिस रास्तेसे चलकर यह भगवान बने, सुखी हुए उस रास्तेपर हमें चलना है। अनन्त भगवन्तोंने जो कार्य किया वह कार्य ही प्रशस्त है, बाकी सब बेकार। अब तक जो भगवन्त हुए, सिद्ध हुए, उनकी संख्या क्या मालूम है कितनी है? उनकी संख्या उतनी है जितने संसार के व्यवहारी जीव हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय और इनके अलावा पृथ्वीके जीव, जलके जीव, अग्निके जीव, वायुके जीव और प्रत्येकवनस्पतिके जीव––इन सबका जितना टोटल हैं उससे अनन्तगुणे हैं सिद्ध महाराज। सिद्धों की संख्या निगोदों की संख्या से हारी। निगोद उनसे अनन्तानंत गुणे हैं। बताओ कौनसा ऐसा उपाय किया था कि जिससे वे सिद्धभगवन्त बने? वह उपाय है ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमन करना। हम आप ज्ञानस्वरूप हैं। ज्ञानसे ही सारा बर्ताव है। ज्ञानकी ही सारी प्रक्रिया चलती है। अब कर्मविपाक से, मलिनता से इस ज्ञानका दुरुपयोग हो रहा है। कषायोंसे लिप्त होकर कषायोंके हुक्म में चल रहा है। तो यह बात न हो और ज्ञान केवल मात्र ज्ञानरूप ही परिणमा करे यह उपाय है भगवंत होनेका।

ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व की सतत भावना से ज्ञानका ज्ञानरूपसे परिणमते रहने के अवसर का लाभ––देखो भैया! सामर्थ्य तो सबमें है, स्वरूपमग्नता कर सकते हैं, मगर कैसी विडम्बना, कैसी विपत्ति पड़ी हुई है कि यह चलता है मोह रागद्वेष की ही ओर। न चले परभाव की ओर, और अपने ज्ञानको ज्ञानरूप ही परिणमाये, ऐसी शक्ति बसी हुई है जीवोंमें। जिसका होनहार भला है, जो निकट भव्य है, जो कुछ ही भवों में भवरहित होने वाला है उसको यह सहज प्रकाश मिल जाता है। तो करने योग्य काम है ज्ञानका

ज्ञानरूपसे ही परिणमते रहना। तो अपनेमें भी सोचें कि मेरा सर्वस्व कल्याण इस ही में है कि मैं ज्ञानस्वरूपमात्र आत्मा ज्ञान रूपसे ही परिणमा करूँ, यह ही मेरा वास्तविक काम है। अब यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानरूप ही परिणमूँ, ऐसा होनेके लिए कुछ अपने अन्तःस्वरूपका बोध भी होना चाहिए। किस बलपर यह ज्ञानरूप परिणमे? पर्यायमें इष्ट अनष्टि कल्पनायें बनाये और कोई चाहे कि मेरा ज्ञान ज्ञानरूप परिणमे, मुझे इस आशाकी तिलाञजलि देनी होगी। ज्ञान ज्ञानरूपसे ही परिणमता रहे इसके लिए आवश्यक है अपने आपकी ऐसी भावना बनाना कि मैं ज्ञानपुञज हूँ, अन्य कुछ नहीं हूं। ज्ञान धन, ज्ञान ही सर्वस्व है, ज्ञान ही ज्ञानमात्र मैं हूं। कुछ वृत्ति चलती है तो ज्ञानकी, अनुभूति चलती है तो ज्ञानकी। जो कुछ काम पड़ता है तो ज्ञानसे। तो ज्ञान ही ज्ञान मैं सर्वस्वहूं। ऐसा अपने आपको ज्ञानपुञजके रूपसे भाव बनायें तो यही तो बात बनेगी कि बस इस ज्ञानका ही काम होगा, ज्ञान ही न्याय है, ज्ञानसिवाय जब मैं कुछ नहीं हूँ तो इस ज्ञानमें ज्ञानका ही काम होता है, यह ही न्यायकी बात है। यह ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणमता रहे, यही तो है मेरा सर्वस्व कल्याण और यही है मेरा वास्तविक कर्तव्य। इसके अतिरिक्त मेरा अन्य कुछ भी प्रोग्राम न होना चाहिए। मुख्य प्रोग्राम, इस जीवनमें जीने का मुख्य लक्ष्य यही है कि मैं ऐसे ज्ञानकी आराधना करूँ कि मेरे को सतत यही प्रतीति रहे कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञानका व्यापार हो, बस यही मेरा कर्तापन है, यही मेरी अनुभूति है। इसके लिए अधिकाधिक भावना यह होनी चाहिए कि मैं ज्ञानपुञज हूँ। ज्ञानसिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूं।

(19)

पवन चैतन्यस्वरूपमें स्वच्छ उछाल ले लेकर अलौकिक आनन्दरसमें छके जानेका काम यथासमय होते ही रहना चाहिये, अन्यथा इस दुर्लभ मानव–जीवनका पाना बेकार है।

शान्ति से समय गुजरनेका उपाय ज्ञान की स्वच्छ उछालों का उद्भव––हम आपने यह मानवजीवन पाया है तो मानवजीवन कैसे सफल हो, कैसे अलौकिक लाभ मिले, कैसे यह भव शान्तिसे गुजरे, उसका उपाय क्या है? उपाय है प्रथम निज सत्य सहज आनन्दरस में छके रहना। यदि इस समय आनन्दररसमें नहीं छक पाते तो अगले भवमें आनन्द पानेकी आशा ही क्या है? यह आनंदरस कैसे मिले, जब चाहे यथासमय कैसे यह मिलता रहे? इसका साधन है शुद्ध ज्ञान, क्योंकि आनन्दरसमें छके रहना और ज्ञानका शुद्ध प्रवर्तन होना, दोनोंका अविनाभाव है। अगर शुद्ध ज्ञानकी उछालें हममें नहीं आती तो आनन्दरस भी प्राप्त नहीं हो सकता। तो मेरा यह पवित्र चैतन्यस्वरूप स्वयं अपने आप सहज अपने ही सत्त्वके कारण मेरे में जो ज्ञानज्योति जगे वह ज्ञान पवित्र है, क्योंकि वह मेरे स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ है, उसमें किसी दूसरे पदार्थके सम्पर्क का काम नहीं है। तो ऐसे पवित्र चैतन्यस्वरूपमें ज्ञानकी स्वच्छ उछालें उठती हैं। यह ज्ञान स्वच्छ अपना प्रवर्तन करता रहे, ऐसी उछालें ले लेकर आनन्दरसमें छके रहने का काम मिलते रहना चाहिए। इस ज्ञानमें जहाँ कर्मविपाकको अपनाया, उसके प्रतिफलनमें अपना सम्बन्ध जोड़ा वहाँसे इस जीवको व्याकुलता होने लगती है। तो मेरे इस पवित्र चैतन्यस्वरूपमें ज्ञानकी स्वच्छ उछालें आयें, ऐसा प्रयत्न करें और देखो इतना बड़ा काम तब ही संभव है जब कि चित्तमें कषायें न रहें। ये कषायेंह ी इस जीवको बरबाद करने वाली हैं। जब कषायें उठती हैं तो सारा आत्मा विकल हो जाता है ये कषायें हम आपकी बैरी है। जगत में दूसरा जीव कोई भी बैरी नहीं है, बैरी हैं तो अपनी कषाय। ऐसा ज्ञान बनावें कि जिसमें कषाय न उठें तो अपनी रक्षा है, और ऐसा उल्टा ज्ञान बने कि जहाँ कषाय जगती रहें तो उसमें निरन्तर अपनी हत्या है, इसलिए आत्महिंसा से बचना है तो उस का उपाय है कि कषायें दूर हों और ज्ञानकी स्वच्छ उछालें ही इस ज्ञानसागरमें आती रहें।

ज्ञानकी स्वच्छ उछालों की भावना––अहा! ऐसे ज्ञानकी स्वच्छ उछालें आयें जिनके साथ आनन्द गुणमें छकना बना रहे तो यह जीवन भी सफल हे और भविष्य में भी जो जीवन मिलगा वहाँ भी यह संस्कार रहेगा और धर्मका प्रसंग पायेंगे। देखो धर्मका संग बढ़ावें। अपने आपको ऐसा नम्र, ऐसा सरल बनावें कि हममें धर्मकी परम्परा चलती रहे, क्योंकि धर्म बिना इस जीवका कुछ भी शरण नहीं है। शरण है तो केवल एक धर्म है। लोकमें चाहे वह अपना मित्र कहलाये, चाहे वह अपना परिजन कहलाये, ये कोई भी मेरी शान्तिमें साधक नहीं बन सकते, क्योंकि जो मिलते हैं वे खुद कर्मके प्रेरे हैं, वे खुद कषायसे भरे हैं। उनका संग प्रसंग हमें कषायोंसे निराला तो न बना सकेगा। इस कारणसे अन्य सर्व सम्पर्क इस जीनके हितमें नहीं हैं। जीवका हितकारी सत्संग क्या है जो अपने स्वभावदृष्टिसे सम्पन्न है और मार्गदर्शन में साधक है, ऐसे वीतरागदेव, वीतरागशास्त्र और वीतराग गुरु, बस यह ही हमको व्यवहार शरण है और निश्चयसे शरण अपने स्वभावका दर्शन है। यह निधि प्राप्त हो तो हम अमीर हैं और यह निधि नहीं मिलती तो गरीबी ही है। चाहे कितनी ही वैभवसम्पन्नता हो जाय लेकिन भीतरमें शान्ति नहीं, भीतरमें मोक्षमार्गका प्रवेश नही ंतो वह तो संसारमें ही रुलना है। और जो संसारमें रुलता है वह गरीब है। तो क्या कर्तव्य है अपना? अपने पवित्र चैतन्यस्वरूपमें ज्ञानकी स्वच्छ उछालें उठें। ज्ञानकी स्वच्छ उझालें कैसे उठेंगी कि ज्ञानरूपी वायुकी प्रेरणा मिले। ज्ञान ऐसा जगे कि इसमें ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप समाये तो ज्ञान ही वायु समझिये उसकी प्रेरणा मिले और इस ज्ञानस्वरूप ज्ञानसागरमें से ज्ञान की वृत्तियों की उछालें उठें तो वहाँ अलौकिक आनन्दरस जगता है। जब जब हमारा किसी विषयभूत साधनमें उपयोग जुड़ता है तब तब इस जीवको सुख का दुःखका विकल्प चलता है। तो ये सुख दुःखके विकल्प ये इस जीवकी बरबादी के ही कारण होते हैं। तो इन विकल्पों से हटकर आनन्दरसमें छके जानेका काम होते ही रहना चाहिए। अगर ऐसा न हो सका तो यह मनुष्यजीवन पाना बेकार है।

(20)

जे कुछ मेरा है वह मेरे आत्मप्रदेशोंमें शाश्वत है, बाहर मेरा कुछ नहीं, परद्रव्य तो प्रकट भिन्न है, विकारभाव परभाव है। मेरा ज्ञानतत्त्व ही सार है, बाह्य तत्त्व सब बेकार हैं।

बाह्य वैभव की अकिंचनता––मनुष्य इस चिन्तनमें रहा करता है कि मेरा वैभव बढ़े, मेरा ठाठ बढ़े और इसकी धुनमें जो कुछ करना पड़ता है, जो कुछ बन पाता है, सब कुछ करने को तैयार रहता है। ठीक है, अपना जो वैभव हो उसे तो बढ़ाना ही चाहिए, उसकी रक्षा करनी चाहिए, मगर यह तो समझें कि मेरा वास्तवमें वैभव है क्या? अरे राजा सिकदर हुआ, उसका राज्य इस इतिहासमें सबसे बड़ा था। बहुत–बहुत राजाओं को जीता, बहुत–बहुत अन्याय भी किया। अन्तमें जब मरण होनेको हुआ तो सिकन्दर को बड़ा पछतावा हुआ–हाय मैंने जीवनमें कैसे–कैसे अन्याय किये, कैसे–कैसे हमने अपना साम्राल्य बढ़ाया, लेकिन सब बेकार, यह सब छूट रहा है, वहाँ उसे पछतावा आता है, वह अपने मत्रियों से कहता है कि भाई मेरा मरण होना तो अब निश्चित है, पर मेरे मरणके बाद जो अर्थी ले जाना तो मेरे हाथ अर्थी से बाहर निकाल देना। ताकि दुनिया देखे और अर्थीके साथ मेरा सारा ठाट–बाट, साज–श्रृङ्गार सब कुछ ले जाना, ताकि दुनिया के लोग इन दोनों बातों को देख सकें कि इतना बड़ा तो धन–वैभव और यह सब कुछ छोड़कर खाली हाथ जा रहा है। ठीक यही हालत हम आप सबकी होनी है। और जो यहाँ छोड़ जायेंगे उससे इस जीवको क्या लाभ है? मरकर जायेंगे दूसरे भवमें, दूसरी धारणायें बनेंगी, दूसरा संग प्रसंग मिलेगा। सब कुछ दूसरी–दूसरी ही बात, यहाँका सम्पर्क क्या? भला पूर्वभवमें जो मिला था उसे छोड़कर यहाँ आये हो तो उससे कुछ लाभ मिल रहा है क्या यहाँ आपको?

पूर्वभव में पता नहीं बड़ा ठाट–बाट हो, बड़ा अच्छा समागम हो, दिखती दुनिया आपकी बड़ी प्रशंसा कर रही हो, जो कुछ बहांके लोग हों, लेकिन आज यहाँ हैं तो पूर्वभवकी बातका क्या है? कुछ भी तो नहीं मिल रहा है। तो ऐसे ही समझिये कि इस भवकी बात भी आगे कुछ रहने की नहीं है। उससे कुछ भी लाभ न मिलेगा। इससे इस वैभवमें परमाणुामत्र भी लगाव न हो, ऐसा एक विशुद्ध चैतन्यका व्यापार मिले, शुद्ध ज्ञातादृष्टा रहनेकी स्थिति रहे, इससे यहाँ भी शान्ति, आगे भी शान्ति। अपना जो निजस्वरूप वैभव है इस स्वरूप वैभवमें दृष्टि लगावें तो आत्मका उद्धार होगा बाह्य इन पुद्गल स्कंध ढेरों में दृष्टि लगावें तो उपयोग बिगड़ेगा और इसकी बरबादी ही रहेगी। इससे कभी इन जड़–वैभवोंमें अपनी प्रीति न बढ़ाओ। इससे हटकर एक अपने आपके विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमें ही उपयोग जोड़ो।

अनाद्यनंत आत्मप्रदेशस्थ अभिन्न चैतन्यस्वरूप ही अपना सर्वस्व––हाँ विचारो कि मेरा क्या है? उत्तर उसका संक्षिप्त यह है कि मेरा तो वह है जो मेरे स्वरूपमें शाश्वत रहे। मेरे स्वरूपसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। जो मेरा साथ छोड़ दे वह मेरा कैसे? शरीर साथ छोड़ देता है तो वह मेरा कैसे? कषाय साथ छोड़ देती हैं तो वे मेरी कैसे? ये सारे नटखट नृत्य ये साथ छोड़ देते, रहते नहीं, भले ही नये–नये नटखट हो रहे हैं, पर जो हो रहा है वह तो साथ नहीं निभाता। तो जो मेरा साथ न निभाये, जो मेरे सत्त्वके साथ न रहे वह मेरा नहीं है। जो मेरे साथ सदा रहे वह है मेरा। जो कुछ मेरा है वह मेरे आत्मस्वरूपमें निरन्तर शाश्वत प्रकाशमान है। आत्मप्रदेशसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। देखो यह बहुत बड़े ज्ञानकी बात है, मगर चित्तमें यह बात समा जाय कि मेरा जो कुछ है वह मेरे आत्मप्रदेशमें है। इस आत्मप्रदेशसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। जो कुछ बाहर है और जिसे यह अपनाता है, जिसमें यह विकल्प बनाता है वह सब मोह नींदके स्वप्नकी बात है। वास्तविकता वहाँ कुछ नहीं है। जो कुछ मेरा है वह मेरे आत्मस्वरूपमें है, स्वरूपकी बात कही जा रही है। मेरे आत्मप्रदेश झलके या जो–जो कुछ बात आये उसको मैं मेरा नहीं समझता। यों तो कर्मोदय होनेपर सुख–दुःख रागद्वेष विकल्प ये भी उत्पन्न हुआ करते हैं। ये भी मैं नहीं हूँ, ये भी मेरे नहीं हैं। ये तो बाह्य कर्मके प्रतिभास, आभास, अध्यास हैं। मेरा तो वह है जो मेरे आत्मस्वरूपमें है। आत्मस्वरूप अनादि अनंत है। बस वही मेरा वैभव है। उसे निरखते जायें, उसे ज्ञानमें लिए रहें, यह मैं हूँ। इसमें कभी कोई संकट नहीं होता है, इसको कभी कोई चुरा नहीं सकता, इसकी कोई कभी हिंसा ही नहीं कर सकता। ऐसा यह मैं पावन चैतन्यस्वरूप आत्मा उसमें जो कुछ गुण हैं, शक्ति है, सामर्थ्य है, सहज है वह है मेरा। उससे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है।

समग्र बाह्यभावोंसे विविक्त आत्मस्वरूपके अनुभवमें ही कल्याण––देखो जितने भी बाहरमें परद्रव्य दिख रहे हैं ये तो प्रकट भिन्न हैं, यह सामने ही दिख रहा। घर वहाँ, घरके परिजन दूर बैठें और जो–जो कुछ धन वैभव आदिक माने जा रहे हैं वे सब मेरे से बिल्कुल बाहर हैं। वे तो प्रकट भिन्न हैं, उसे तो मैं अपना मानूं ही क्या? लेकिन उनका ख्याल कर करके जो मुझमें विकार जगता है, रागद्वेष इष्ट अनिष्ट विपत्तियाँ जगती हैं वे विकार परभाव हैं। वे भी मेरे नहीं हैं। तो देखो अपनी दया करें। जो कषायभाव जगता है उन कषाय भावोंको अपनावें नहीं, किन्तु कषायभावोंसे मैं अलग रहूँ और उन कषायभावोंसे निराला यह जो अविकार ज्ञानस्वरूप है, उसका ही अनुभव करते रहें, ऐसा भीतर में ज्ञानप्रकाश लाइये, ऐसा ज्ञान, ऐसा मेरा स्वरूप वह ही सार है, और बाहर में सब कुछ असार है, बेकार है, किसी का लगाव नहीं। किसी का विश्वास, किसी भी बाह्य वस्तुमें आस्था, किसी भी बाह्य वस्तुसे अपनेको बड़ा समझनेका विकल्प ये सब धोखे हैं, ये सब बेकार बातें हैं। वहाँसे चित्त हटे, अपने आपके साधारण ज्ञानज्योति स्वरूपमें अपना अनुभव जगे तो यह है जीनके लिए

बहुत उपकारी बात। ऐसे हे प्रभु, हे निज अन्तः सहज ज्ञानस्वरूप तुम ही मेरे ज्ञानमें निरन्तर बसो। तुम्हारा ही शरण सत्य शरण है, तुम्हारी ओर ही मेरी ज्ञानवृत्ति रहे तो मेरा कल्याण है। बाहर कुछ भी देखो, कुछ भी निरखो, कहीं चित्त बसाया तो वह सब अकल्याण है।

(21)

विषयकषायके कारण दुःखी होते हो और विषयकषायकी हो वृत्ति करते हो, विषय राग व कषायभाव करनेकी उद्दण्डता का फल अतिभयानक है। प्रियतम् इस उद्दण्डताको छोड़कर अपने सहज आनन्दधाम में विश्राम करो।

पर्यायकी हठ छोड़कर सहज अन्तस्तत्त्वमें आस्था करने का कर्तव्य––जगतके जीव हम आप सभी अपनेको निरन्तर दुःखी अनुभव करते हैं। जब कभी सुख भी मिलता है तो सुख भी दुःख है, सुखमें भी क्षोभ रहता है, सुख भी विकल्परूप है, उसमें भी आकुलता जगती है। तो यह दुःख उत्पन्न क्यों होता है ये विषय कषाय भावके कारण हुआ करते हैं। विनतीमें पढ़ते हैं ना ''आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय'' आत्माके अहित करने वाले हैं तो ये विषय और कषाय। विषय तो कहलाये इच्छा रूप, रागरूप। किसी भी विषयसाधनोंमें लगना यह दुःखरूप है, अहितकारी है, संसारमें रुलाने वाला है और कषाय कहलायी क्रोध, मान, माया, लोभ, ये संसार में रुलाने वाले हैं। देखो अपने आत्माके साथ कार्माणवर्गणायें विस्रसोपचय रूप स्वतः लगे हुए हैं और जब हम कोई विकार करते हैं, कषाय करते हैं तो ये विस्रसोपचयकी कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम जाती हैं। कर्म बंधे, उनका उदय आया और उस काल में इस जीव को दुःखी होना पड़ता है। यहाँ तो जरा–जरासी बात पर हठ करते हैं और मरकर बन गए कीड़ा तो अब चलावो हठ। हमें नहीं बनना कीड़ा, हमें तो अच्छा ही रहना है, चलेगी हठ क्या? जगत है, यहाँ किसी भी विकारभावमें हठ मत बनावें। अपने अविकारस्वरूप इस विशुद्ध चैतन्यस्वभावकी उपासना करें।

हितपथ प्रवेशका सुगम उपाय प्रभुभक्ति––देखो हम आपका हितपथप्रवेशका सुगम उपाय है भगवानकी भक्ति, भगवान का स्वरूप, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द, जहां विकारका नाम नहीं, रागद्वेषका लेश नहीं, विशुद्ध चैतन्यवृत्ति ही जग रही, ऐसा भगवान का स्वरूप है। उसकी भक्ति करें, उसकी शरण गहो। जहां यह घर में या मित्र जन में हम अपने आपको समर्पित कर दिया करते हैं ना, किसी के मन में मन मिला देना, यह ही तो अपनासमर्पण है। तो जैसेहम यहाँ अशुद्ध कर्मप्रेरित जीवोंको हम अपना सर्वस्व सौंप देते हैं। यदि मैंने अपना सर्वस्व प्रभुके चरणोंमें सौंपा होता तो पापबंध न होता, आकुलता न जगती, परेशानी न होती। तो आत्मसमर्पण करो प्रभुके चरणोंमें। समर्पणका अर्थ यह है कि प्रभुके चरणोंका विश्वास बनायें, प्रभुस्वरूपकी तरह अपने आपके स्वरूपका दर्शन करें, यहाँ ही मग्न हों, यही कहलाता है अपना समर्पण। ऐसे प्रभुके चरणोंमें आत्मसमर्पण करें और समस्त संकटोंसे छुटकारा पावें। इसके विपरीत चलने में कष्ट ही कष्ट है। क्या कष्ट है? विषयकषायके भाव, इससे ही तो कष्ट होता। और विषयकषायमें ही प्रवृत्ति करता जाता है तो भला बतलावो यह हमारी उद्दण्डता है ना। मैं तो भगवान के स्वरूपके समान मात्र ज्ञानानन्दस्वरूपका ही रसिक रहता, वह तो कहलाती मेरी मौलिक वृत्ति और आत्मानुभूति न करके जो बाहरी विषयकषायोंमें एकदम जुट जाना है यह हमारी उद्दण्डता।

अति भयानक संसरणके हेतुभूत परासक्तिरूप उद्दण्डताको तजकर निज सहजचैतन्यधाममें मग्न होनेकी भावना––बाह्य भावों में आसक्त होनेकी उद्दण्डताका फल

बहुत भयानक है। कैसा भयानक है सो संसारके जीवोंकी दशा देख लो। कितनी जातियां हैं, कैसे–कैसे जीव जन्तु हैं? कभी अजायबघरमें जाते तो कैसे विलक्षण जंतु देखनेमें आते? वे तो थोड़ेसे हैं। उन जीवों की दशायें देखकर ही समझ लें कि हमने यदि मोह, रागद्वेष किया, परकी अपनाया, अपना स्वरूप अपनी दृष्टि में न रहा तो इस उद्दण्डताका फल संसारके चतुर्गतिरूप भव धारण करते रहना पड़ेगा। यह उद्दण्डता बहुत भयानक है, इसलिए हे मेरे प्रियतम याने प्यारोंमें जो सबसे अधिक प्यारा हो, मेरे लिए सबसे अधिक प्यारा कौन है? सभी की यही बात है। सबको अपना आपा प्रिय लगता है, सो हे मेरे प्रियतम भगवान, अब अपने सहज शौर्यको सम्हाल लो। जैसे कोई कार्य करते रहे तो उससे जीवनका लाभ क्या? सम्हाल सकते हो अपना स्वरूप, क्योंकि मात्र ज्ञानका ही काम करना है। ज्ञानकी सम्हाला तो अपने सारे शौर्य को सम्हाल लिया। तो अपने इस ज्ञानस्वरूपको सम्हालो और मूढ़ताके फंदेसे निकल जावो, मोह के जालसे अलग हट जावो। ऐसा करनेसे अपने अनन्तधाममें विश्राम बनेगा। जैसे बहुत संक्षिप्त शब्दों में कहा––'आतम के अहित विषयकषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय। मैं रहूं आपमें आप लीन, सो करहु होहुं ज्यौं निजाधीन।' ये विषयकषाय नाना प्रकारके हैं। उन विषयकषायों में जो निरन्तर चित्त बनाये रहता है उससे आनन्द खत्म होता है। बाकी सारी उल्झन विकल्पको जो अपने दिलसे हटा देता है और अपने चैतन्यसागरमें ही डुबकी लगाता है वह पुरुष संसारसे पार हो जाता है। क्या करना अब? अपने स्वरूपको देखो, अपने आनंद का धाम जो यह सहजपरमात्मतत्त्व है उसमें विश्राम करें। विश्राम का अर्थ यह है कि अपने को निरन्तर ऐसा अनुभवते रहें कि मैं तो यह स्वयं स्वच्छ अविकार ज्ञानमात्र हूं। मेरा वैभम तो यह ज्ञानवृत्ति ही है। मेरेमें तो मेरा ही स्वरूप है। मेरा जगतमें और कुछ नहीं है, ऐसा जानकर इस सहजज्ञानस्वरूप के उपयोगी बनें, बाहरके ख्यालात छोड़े तो अपनी निधि अपने में अपने आप विकट विलक्षण अलौकिक आनन्दको प्रकट करती हुई विकसित होगी अपने को लखें कि मैं ज्ञान की ज्ञान हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। अन्य किसी से मेरे को कुछ प्रयोजन नहीं। मेरे में कोई न आये, किसी की पहिचान न रहे, कहीं भी मेरा चित्त मत जाय। मेरे ज्ञानमें ही यह ज्ञान समाये, बस यही तो मेरा वास्तविक कदम है।

(22)

किसी को भी शरण मानकर किसी भी व्यामोह में कहीं भी भटक आओ, आखिर शरण तुम्हारे तुम ही रहोगे। निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूपकी सुध लो और सर्वकष्टोंसे दूर हो लो।

बाह्य में शरण्यता का अभाव––हम आप सबकी प्रकृति है कि किसी न किसी की शरण गहते हैं। बालक हो, जवान हो, वृद्ध हो, गृहस्थ हो, योगी हो, प्रत्येक जीव किसी न किसी की शरण गहनेका भाव रखता ही है। बालक है तो वह यह समझता है कि मेरेको मेरी माँ शरण है, जवान कुछ अपनेमें किसीके प्रति शरणको बुद्धि रखते हैं। वृद्ध हो गए तो वे किसी पालक रक्षकके प्रति शरणकी बुद्धि रखते हैं। योगी हुआ तो वह भी किसीकी शरणकी बुद्धि रखता है। प्रत्येक मनुष्य में यह प्रकृति बनी है कि वह किसी न किसी की शरण मानता है। अब जरा विचार तो करो कि वास्तव में शरण आपको है क्या? यों तो हर एकको भिन्न–भिन्न कुछ न कुछ शरण दिखता है। जब छोटे थे तो माँ शरण, कुछ बड़े हुए तो खेल शरण, कुछ और बड़े हुए तो विद्या शरण। जिसमें लौ लगी, जिसकी वासना रही वही तो शरण कहलाता। किसीको धन शरण, किसी को प्राण शरण, भिन्न–भिन्न शरण माननेकी पद्धतियाँ हैं, पर वास्तवमें शरण क्या है? इसकी पहिचान इस प्रकार होगी कि जिसकी शरण पानेसे अवश्य ही अपना कल्याण हो और उसके बाद फिर शरणका पैतड़ा न

बदलना पड़े। उसमें यहाँ जो लोग जिस–जिसकी शरण मानते हैं उस ही कालमें उनको बदलना पड़ता है। उसमें फिर सार नहीं दिखता। दूसरेकी शरण गहता है, लेकिन जो वास्तविक शरणभूत बात होगी वह बदली नहीं जा सकती। मेरा तो जो है सो ही है। संसारमें किसीमें भी शरणता की बुद्धि कर लें, किसी भी कार्य में मोहकर लें, कहीं भी जावें, कहीं भी आस्था बनावें, पर वहाँ कुछ भी शरण न मिलेगा। जैसे फुटबालका खेल होता है ना। तो फुटबाल जिस बालकके पास पहुंचेगा वह बालक उसे क्या करेगा? क्या उसे गोदमें लेगा? अरे वह तो लात मारकर दूर भगा देना। ऐसे ही यह संसारी प्राणी इस संसारकी जिन वस्तुवोंके निकट पहुंचे याने अपने उपयोग द्वारा जिसकी शरण समझे वहींसे ठोकर मिलती है। चाहे वह कितना ही विश्वास पात्र हो––पिता हो, माता हो, बंधु हो, मित्र हो, कितना ही इष्ट हो, आखिर वे भिन्न होते ही हैं। पापका उदय आता है तो इष्ट से भी इष्ट पदार्थ इसके दुःखका कारण बन जाते हैं और फिर आखिर इष्टका वियोग भी होगा, उस समय बहुत कष्ट भोगना पड़ता है। तो इस लोकमें कुछ भी पदार्थ ऐसा नहीं कि जिसकी शरण गहें तो शरण मिल जाय।

व्यवहार में वीतराग देव वीतराग शास्त्र व वीतराग गुरुका शरण––शरण तो वास्तव में अपने आत्माका स्वरूपपरिचय, स्वरूपमग्नता, स्वरूपकी आस्था यह शरण है और व्यवहारमें वीतराग देव, वीतराग शास्त्र, बीतराग गुरु। वीतराग देवका अर्थ है ऐसा प्रभु परमात्मा जहाँ रागद्वेष नहीं, एक विशुद्ध ज्ञानकी ही उछालें जहाँ चलती हैं। जो सर्व संकटोंसे मुक्त हो गये हैं। जैसा था, जो स्वरूप है वह ही स्वरूप जहां प्रकट हुआ है, ऐसा प्रभु पावन परमात्मा, उसके स्वरूपकी भक्ति हम आपको शरण है। व्यवहारतः शरण प्रभुभक्ति है। जब कभी थोड़ा योग मिलता है, सुख मिल गया, कुछ धन वैभव आ गया, विशेष लौकिक बातोंमें तरक्की हो गई तो लोग प्रायः प्रभुको भूल जाते हैं। ऐसी अनेक घटनायें मिलती हैं कि जब गरीब थे तब तो प्रभुभक्तिके लिए काफी समय समय निकल आता था और जब विशेष धनिक बन गए तो वहाँ प्रभुभक्ति के लिए बिल्कुल ही समय नहीं निकल पाता। यदि कोई पूछे कि आप मंदिर में अब शास्त्रसभामें क्यों नहीं आते? तो कह बैठते हैं कि क्या करूँ ऐसा काममें फंसे रहते हैं कि यहाँ आनेका अवकाश ही नहीं मिलता। अरे प्रभुभक्तिका ही प्रसाद है तो इष्ट समागम प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि प्रभु कुछ देते नहीं, पर प्रभुभक्तिमें जो विशुद्ध परिणाम जगता है उसका निमित्त पाकर पुण्यबंध होता। उसका उदय आये तो ये सब सुख–सामगी मिलती है।

स्वकर्मोदयसे सुख–दुःखदि होने का निर्णय कर पर को सुख–दुःखादि करनेके विकल्पको त्यागने का संदेश––समयसारमें एक परिच्छेदमें बताया है कि जीवको जो सुख होता है वह कर्मोदयसे, मरण होता तो आयुकर्मके क्षयसे, जीवन मिलता तो आयुकर्मके उदयसे। वहां यह बतानेका यह भी प्रयोजन है कि यह जीव इन बाह्य नोकर्मोंके उपचरित निमित्तों में विकल्प बनाये रहता है, वह विकल्प व्यर्थ है, स्वार्थ क्रियाकारी नहीं है। जैसा मैं सोचता हूँ वैसा पर में हो जाय, ऐसा नहीं होता, इसलिए विकल्प अर्थक्रियाकारी नहीं कहलाता। फिर होता कैसे है सुख सभी जीवोंको? किसी दूसरेके करनेसे नहीं होता। तो होता कैसे है? इसका उत्तर दिया समयसारमें कुन्दकुन्दाचार्यने अमृतचन्द्रसूरिने, जयसेनाचार्यने और सभी अध्यात्मशास्त्रियों ने बताया कि जीवको जितना सुख दुःख जीवन मरण होता है वह कर्मका निमित्त पाकर होता है। देखो निमित्तनैमित्तिक भावका प्रतिपादन स्वभाव के दर्शन के लिए होता है। कुछ थोड़ासा यह समझमें आया कि जगतके ये बाह्य पदार्थ ये निमित्त तो नहीं बनते, हम बनाते तो बनते हैं। हम इनमें उपयोग जोड़ते हैं, तो बनते हैं, यों लौकिक बातोंमें इन बाह्य साधनोंमें थोड़ा फर्क देखिये––क्या फर्क कि हम

इनमें उपयोग जोड़ें तो निमित्त, उपयोग न जोड़े तो निमित्तनहीं है, अतः यह कल्पना निमित्त है, यह निमित्त नहीं है, ऐसी बात इन बाह्य पदार्थोंमें देखें जो कि विकल्प सच है। लेकिन इन बहिरंग साधनोंमें बात देखकर समस्त निमित्तोंमें यह बात कह डालना कि सभी निमित्त काल्पनिक होते हैं। यह तो जैनधर्म से बाह्य बात है। समयसार ही खुद कह रहा है कि जितना जीवोंको सुख होता है। वह सब अपने–अपने कर्मोदय से होता और किसीके कर्मका उदय कोई दूसरा कर नहीं सकता। इस कारण किसी जीवके द्वारा किसी अन्य जीवको सुख दुःख नहीं होता। अब आप यहाँ विचारो, देखो समग्र आचार्य संतोंकी भक्ति में फर्क न डालना। वे आचार्यदेव, वीतराग संत और हितका प्रतिपादन करने वाले हुए। जहाँ यह देखा कि सुख दुःख ये कर्मनिष्पन्न हैं, तब यह ध्यान होता है कि इससे मेरा क्या मतलब? मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूप हूं। मेरे मात्र अपने आपके द्वारा योन निमित्तयोग बिना ये उत्पन्न नहीं होते। होते मुझमें हैं, मगर ये पर निमित्त पाकर होते। इस कारण इनसे मेरा कुछ मतलब न रहेगा। तो अपने स्वभावकी ओर ही अभिमुख होवेंगे। स्वभावदर्शनकी शिक्षा लेना।

बह्य पदार्थके शरण होनकी असंभवता––बात यह कह रहे हैं कि लोमें बाहरमें अपनेको शरणभूत कुछ भी नहीं है। ठोकरें खाते हैं, विकल्प मचाते हैं, उपयोग जोड़ते हैं, कभी चैन मानते हैं, पर यह सब कल्पना की बात है। ये अर्थ क्रियाकारी बातें नहीं हैं। यहाँ वास्तविक निमित्तका कुछ प्रसंग नहीं है, यह तो हो गया अटपट। जब क्रोधप्रकृतिका उदय हुआ तो सामने जो दिखा, जिस पर कुछ भी सम्बन्ध पहले से बन रहा हो उस पर क्रोध उमड़ आता है, तो प्रतिनियत निमित्त तो कर्मोदय रहा। जगत के बाह्य पदार्थ प्रतिनियत निमित्त न रहे। प्रतिनियत निमित्त न रहे, इसका मतलब यह है कि स्त्री को देखकर किसीके दुर्भाव होता है तो किसीको वैराग्यका भाव होता है। तब स्त्री तो दुर्भाव का निमित्त न कहलायी और न वैराग्यका निमित्त कहलायी, किन्तु आश्रय कहलायी। जिसके दुर्भाव हो उसके उस प्रकारकी कषाय और वेदका उदय निमित्त है। जिसके वैराग्य जगा उसके इन कषायोंका क्षयोपशम निमित्त है। तो वास्तविक निमित्तकी बात कर्ममें लगेगी जीनके विभावके प्रसंग में। और जगत में जो दिखता है वह सब काल्पनिक निमित्त है। यह नियत निमित्त नहीं है कि इसके होने पर ऐसा ही हो। तो यह जब जगत अपनी अर्थक्रियाकारिताका विषय नहीं बनता तो यहाँ कुछ भी शरण नहीं है। यह बात समझने के लिए कुछ ज्यादह कहने की आवश्यकता नहीं। सबके अनुभव बता रहे होंगे। हमने जिस जिससे लगाव किया आखिर उससे कष्ट मिला, शान्ति न मिली। चाहे वह इष्टका लगाव हो, चाहे वह अनिष्टका लगाव हो, बाह्यपदार्थोका सम्पर्क इस जीवको शरण नहीं शान्तिका कारण नहीं, लेकिन जैसे मिर्च खानेका शौकीन पुरुष मिर्च खाता जाता, सी–सी करता जाता, आँसू आते जाते और फिर भी कहता है कि लावो मिर्च, ऐसे ही जगतके जीव मोह रागद्वेषसे दुःखी होते जाते हैं और फिर भी चाहते हैं कि और मिले रागका विषय। तो जिन पदार्थोंसे अपनेको फाँसे हुए हैं उन्हीं पदार्थोका राग किया जाता है, तो बतलावो दुःख कैसे शान्त हो? क्षेत्रको अपेक्षा देख लो––जहाँ जहाँ जावो अपनेको शरण कुछ नहीं। शरण कुछ नहीं। द्रव्यकी अपेक्षा देख लो, जिन–जिन पदार्थोंका शरण चाहा वहाँसे धोखा ही मिलता है। और भावोंकी अपेक्षा देख लो–हम जिस जिस भावमें अपना कल्याण समझते हैं, सुख समझते हैं वे सब विभाव हैं, मेरेको शरण नहीं हैं।

निजके ज्ञानमात्रत्वकी दृष्टि की शरण्यता––तब फिर विचारिये, शरण क्या है? क्या शरण है––इसका उत्तर तब मिल पाता है जब कि हर जगह ठोकरें खाकर यह निश्चय हो जाय के बाहरमें शरण कुछ नहीं है। तो आसानीसे उत्तर मिलता है। उत्तर क्या है कि स्वरूपमें यह दृष्टि बने कि मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। इस मुझको जानने वाला भी दुनियामें

कोई नहीं है। परिवार के बीच हैं, परजिनों के बीच हैं, मित्रों के बीच हैं आप, तिस पर भी आपको जानने वाला इनमें से एक भी नहीं है। कछ लोग परिचय पा रहे हैं तो इस भवमूर्ति शरीरको उपाधिके वश इसकी खबर रख रहे हैं और इसे कुछ खबर नहीं। जो वास्तवमें आप हैं, मैं हूँ, इसका तो कोई पहिचानने वाला ही नहीं और जब कोई पहिचानने वाला ही नहीं मेरा तो मेरे को बाह्य घटनाओंमें क्षोभ ही क्यों होगा? क्षोभ होता है संकोच में, लाजमें, शरममें, यह भाई क्या कहेंगे? इसमें मेरा अपमान हो गया। कुछ बात लगाते हैं, सम्पर्क लगाते हैं, क्षोभ होता है। जहाँ अन्य दृष्टि करके यह समझा कि मेरेको तो पहिचाननेन वाला ही कोई नहीं है, इसमें फिर इसको क्षोभ क्यों होगा? इपना वास्तविक परिचय मिले तो इसमें बल बढ़ेगा, ज्ञानबल बढ़ेगा और देखो बहुतसी लौकिक बातें, लौकिक संकट, इनमें ज्ञान के बल से शान्ति हो जाती है। कोई पुरुष घबड़ा रहा हो तृष्णववश या अन्य कारणसे बहुत बहुत घबड़ाहट चल रही हो तो घबड़ाहट में घबड़ाहट बढ़ती है और बढ़ बढ़कर इतना हो जाता है कि हर्ष फैल जाता है। ज्ञानबल यदि साथ है तो कुछ मदद तो अवश्य मिलती है। क्या फिकर है? क्या हो गया? अमुक हो गया तो क्या हो गया। इष्टवियोग हो गया तो क्या हो गया? सारी बाहरी बातें हैं, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरेमें तो मेरी ज्ञानज्योति ही सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त तो मेरा कुछ है ही नहीं। जहाँ ज्ञानबल आये वहाँ घबड़ाहटमें अन्तर अवश्य आ जाता है। अधीर पुरुषको, घबड़ाये हुए पुरुषको विषययसाधन रक्षा न करेंगे। अपना ज्ञान ही रक्षा कर सकेगा। किसीका पिता गुजर गया हो, पुत्र गुजर गया हो, स्त्री गुजर गई हो, पति गुजर गया हो, बड़ा संकट हो, वह खूब रोता हो तो क्या कोई उसे यों कहता है कि अरे रोवो नहीं, अभी तुमको हलुवा लाये देते हैं। ऐसा किसीने कहा क्या? ऐसा कहीं होता क्या? किसी भी विषयसाधनसे उसकी घबड़ाहट दूर न होगी।

ज्ञानबल से ही घबड़ाहट से छुटकारा––भैया! ज्ञानबल बनेगा तो घबड़ाहट दूर होगी। अरे यह तो संसार है। यहां तो ऐसा होता ही रहता है। यह तो सब क्षणभरका समागम है। हो गया ऐसा तो क्या हुआ? जब ज्ञानबल बढ़ता है तो घबड़ाहट दूर होती है। विषय प्रसंगोंसे घबड़ाहट दूर नहीं होती। एक बुढ़िया का छोटा लड़का था, और उसके वही एक लड़का था। तो आप समझो इस मोही जगत में इस प्रकार के इकलौते बेटेका मरण कितने दुःखकी घटना मानी जाती है? तो उस लड़केके मरण हो जानेसे वह बुढ़िया बड़ी परेशान होती हुई उस लड़के को अपनी गोदी में लिए हुए फिरे, आखिर उसे एक साधु मिले। साधके आगे बच्चा रख दिया। और कहा––महाराज! मैं बड़ी दुःखी हूँ, मेरे इस बच्चे को जिला दो तो मैं आबाद हो जाऊँगी। तो साधु बोला कि अरी बुढ़िया माँ तू रो मत, तेरा बच्चा अभी जिन्दा हो जायगा। किन्तु तुम्हें एक करना पड़ेगा। ....हाँ हाँ बोलो, मैं तो सब कुछ कर सकती हूँ। .....हाँ देखो तुम कहीं से पाव भर सरसों के दाने ले आवो और ऐसे घरसे लावो कि जिस घरमें कोई मरा न हो। तो बुढ़िया बोली––हाँ महाराज मैं अभी लाती हूँ। एक घर में पहुँची, बोली––मेरा बेटा मर गया है, उसे जिन्दा करनेके लिए एक पाव सरसोंके दाने दे दीजिए। तो घर वाले बोले––अरे एक ही पाव क्यों, एक मन ले जावो। अगर सरसोंके दानों से तुम्हारा बेटा जिन्दा होता है तो यह तो बड़ी खुशी की बात है। ..... मगर यह तो बताओ तुम्हारे घर कभी कोई मरा तो नहीं। .....अरे मेरे घर तो अनेकों लोग मरे। दादा मरे, दादी मरी, पिता मरे, माता मरी, और भी कई बच्चे मरे। .....अरे तो नहीं चाहिए तुम्हारे घरकी सरसों। यों बुढ़िया दूसरे घर गई, तीसरे घर गई, सब जगह से वही जबाब बराबर मिलता गया कि मेरे घर तो अनेकों लोग मरे। करीब 20 घर उसने जा–जाकर देख लिया, पर कोई भी घर ऐसा नहीं बचा जिस घरमें कभी कोई मरा न हो। इस घटनाको देखकर बुढ़िया को ज्ञान जग गया कि अरे यह तो संसार की रीति है। एक

न एक दिन सभी का मरण होता है। बस इतना ज्ञान जगते ही उसका सारा दुःख खत्म हो गया। वह प्रसन्न होकर साधुके पास पहुंची। देखिये जब तक अज्ञान था तब तक बेचैनी थी कि हाय अब क्या करूँ, पर सही ज्ञान जग गया तो उसकी बेचैनी समाप्त हो गई, उसकी मुद्रामें प्रसन्नता झलक गई। जब साधुने बुढ़ियाको अपने सन्मुख प्रसन्न मुद्रा में देखा तो पूछा––अरी बुढ़िया माँ! क्या तेरा बेटा जिन्दा हो गया? .....हाँ महाराज जिन्दा हो गया। कैसे? .....बस मेरा मरा हुआ ज्ञान अब जिन्दा हो गया। वास्तवमें बात यही है कि मरा हुआ सा था ज्ञान। जितने भी क्लेश होते हैं सब इस ज्ञानके मरे हुए होनेसे होते हैं। जहाँ ज्ञान कुम्हला गया वहाँ दुःख है। जहाँ सत्य ज्ञान जगा वहाँ क्लेश नहीं होता।

स्वयं के कैवल्य होनेकी स्थिति की अभीटष्टा––तो आखिर शरण मिलेगा तो खुदमें खुद ही शरण मिलेगा। इसको कोई दूसरा शरण नहीं है। मगर कैसे खुद शरण है? यों ही सोच डाला हुआ मैं शरण नहीं, किन्तु जो मैं वास्तविक मैं हूँ उसका बोध हो तो शरण है। यों तो सभी मैं मैं बोलते हैं। यह मैं आया, यह मैं बैठा, मैंने कहा, पर उस मैं के मायने लोग तो यह ही समझते हैं कि यह पिंडोला, यह भवमूर्ति, यह शरीर, यह पर्याय, यह मैं हूँ। ऐसे मैं को जाननेसे शरण नहीं मिलता, किन्तु जो केवल मैं होऊँ उसकी बुद्धि होनेसे शरण मिलती है। क्या हूं मैं केवल? केवल एक ज्ञानज्योतिस्वरूप परमार्थ आत्मा। जो अपने आप है, अकेले है, परके सम्बंध बिना है वह मैं हूँ। ऐसे अपने आपके इस सहजज्ञानस्वरूपमें प्रतीति रखे उसको कष्ट नहीं है। एक बात और जीवनमें बनावें, एक निर्णय बनावें, कि मेरा प्रोग्राम है सिद्ध भगवान बननेका। एक ही बात चित्तमें रखें। देखो सब बातोंमें अन्तर आ जायगा। संकटोंमें, अन्य विडम्बनाओंमें अन्तर दें। मेरेको तो सिद्ध होना है। अरे कैसा होना है? अभी हो जावोगे। न सही अभी, कभी होऊँ, इसके सिवाय मेरा प्रोग्राम नही। संसारमें रुलने से लाभ क्या? कष्ट ही कष्ट है, आपदा ही आपदा है। ये जन्म मरण कर करके मरना ही है क्या? मरे जन्मे, मरे जन्मे, यह करना है क्या? या जन्म मरण बिल्कुल मिट जाय, केवल मैं जैसा स्वयं हूँ वैसा ही रहूं, जिससे किसी प्रकार का विकल्प न जग, शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप रहे। क्या यह होना है? भैया! ऐसा रोज पढ़ते ही होंगे। 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन' यह होना है तुझे। जैसे हम प्रभुको कहते हैं कि है भगवन्! आप समस्त ज्ञेय पदार्थोंके जानने वाले हैं। तीन लोक, तीन कालवर्ती समस्त पदार्थ आपके ज्ञानमें जाने जाते हैं, तिसपर भी आप अपने ज्ञानानन्दरसमें लीन हैं। बस यही बनना है हम आपको। देखो भाई कामकी बात, सही बात और वह भी समझमें न आये या सुहाये नहीं तो समझो कि उपयोगमें किसी विषका पान किया जा रहा होगा, नहीं तो अपनी इतनी सीधी सही सच्ची बात ज्ञान बिना बैठे, यह कैसे होगा? किसी रागद्वेषके विषयमें उपयोग चलता हो तो ऐसी अपनी मुक्तिकी सीधी बात नहीं हृदयमें बैठती। तो इन सबको निकाल फेंको। चौबीसों घंटे लदे रहते हैं ये विषय प्रसंग। उनसे कुछ लाभ मिलता है क्या? 10 मिनट 5 मिनट तो अपना उपयोग ऐसा बनाओ कि इसपर विषय प्रसंग लदें नहीं, सबसे निराला विविक्त सहज आत्मतत्त्व ही दृष्टि में रहे। तो देखो खूब समस्यायें सुलझा लो। सर्वप्रकारसे समझ–समझकर प्रकाश पा लो। मेरे को तो देहसे, कर्मसे विकल्पसे, सबसे छुटकारा पाकर केवल बनना है, सिद्ध होना है, यह बात चाहे 10 भवमें हो, चाहे 5 भवमें हो या अनेक भावोंमें भी हो, होना यही है। दूसरा कुछ हमको नहीं होना है।

भवरहित होनेकी दृढ़ भावनामें शिवमार्गका लाभ––एक कथा प्रसिद्ध है कि एक श्रावक भगवानके समवशरणमें जा रहा था। रास्तेमें एक मुनि महाराज मिले। वह एक छेवलेके पेड़के नीचे बैठे ध्यान कर रहे थे। मुनि महारजकी वंदना की और कहा––महाराज मैंने समवशरणमें जानेका प्रोग्राम बनाया है। तो वे मुनि पूछते हैं कि हमारे भी भव जानकर

आना––कितने भव शेष हैं? हाँ महाराज! समवशरणमें गया, वहाँ यह भी बात पूछी––प्रभो अमुक मुनि महाराजके अभी कितने भव शेष रह गए? तो वहाँ उत्तर मिला कि तुम जावो और उनसे बात देना कि इस समय जिस पेड़ के नीचे बैठे हो उस पेड़ में जितने पत्ते हैं उतने भव उनके शेष हैं। श्रावक चला और वे मुनि महाराज मिले उस समय वे इमलीके पेड़ के नीचे बैठे थे। छेवले के पेड़के नीचे से उठकर इमली के पेड़के नीचे चले गए थे। तो मुनि–महाराजको इमली के पेड़के नीचे बैठा देखकर वह श्रावक माथा धुनता है–महाराज मह राज! क्या बात, क्या बात? अरे आप जिस पेड़ के नीचे बैठें थे वहाँ होते तो मैं आपको बड़ी खुश खबरी सुनाता। हाँ तो सुना दो जो कुछ भी बात ही? महाराज––मुझे समवशरणमें विदित हुआ कि मुनि महाराज जिस पेड़ के नीचे बैठे तुम्हें मिलेंगे उसमें जितने पत्तें हैं उतने भव उनके शेष हैं। तो उस श्रावक की बात सुनकर मुनिराज बोले––परवाह नहीं, अरे भवका अन्त तो आया। संसारमें अनन्त प्राणी तो ऐसे हैं कि जिनके भवका कभी अनन्त ही न आयगा और फिर अनगिनते भव एक दिनमें भी निकाले जा सकते हैं, ऐसी पर्याय पायें। आखिर क्या है? कौन शरण है आपका? अपनेको अपने सहजस्वभावरूपमें अपनी प्रतीति होना, इस ओर ही ज्ञान होना, इसमें ही मग्नता होना, यह बात शरण है और इसके प्रतापसे सदाके लिए संकटहीन सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी। तब इसके लिए क्या करें कि अपना अमर्यादित जो सहज ज्ञानानन्दका स्वरूप है उसकी सुध लें। जैसे ज्ञानमें मर्यादा नहीं कि कितना जानें? सारा लोकालोक जानें और इतने और भी हों अनगिनते उसे भी जानें। ऐसे ही आनन्दमें सीमा नहीं। जिसमें सीमा होगी उसमें अधूरापन है। आनन्द तो निराकुल है, उसकी सीमा क्या? तो अपने स्वरूपकी सुधके प्रसादसे अनवधिज्ञान और आनन्दकी प्राप्ति होती है। उसकी सुध लें और संसारके समस्त संकटोंसे छुटकारा पा लें। सारांश यह है कि बाहरमें कहीं हमारा कुछ शरण मत ढूँढो। शरण तो अपने आपमें विराजमान सहजस्वरूपकी दृष्टि ही शरण है।

(23)

किसी भी दूसरे जीवसे या किसी भी अचेतन पदार्थसे तेरा रंच सम्बन्ध नहीं, किसी से कुछ भी आशा करना मूढ़ता है, इसका फल क्लेश ही है, अतः आशा पिशाचिनीसे छुटकारा लो और सत्य सुखी हो जावो।

किसीका किसी अन्य पदार्थके साथ सम्बन्धका अभाव––इस जीवकी सीता रहे, शान्ति रहे, संतोष मिले, इसका उपाय है समग्र पदार्थोंका किसी का किसीके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकारका परिचय हो जाना। वास्तविकता यही है कि एक पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ सम्बन्ध नहीं है। जब कभी किसी पदार्थमें विकाररूप परिणमन होता है तो यद्यपि होता है निमित्त सन्निधानमें ही। निमित्त सन्निधान बिना विकार हो ही नहीं सकता, तो भी यह उपादान की ही कला है कि वह किस निमित्त को पाकर किस रूप परिणम जाता है? तो उपादान में जो परिणति हुई है वह किसी दूसरे पदार्थ को लेकर नहीं हुई। प्रत्येक पदार्थका स्वरूप है कि वह सत् है। अपने द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे सत् है, परके द्रव्य क्षेत्र, काल, भावसे सत् नहीं। जैसे ये ही दो अंगुलियाँ हैं–पहली और दूसरी तो पहली अंगुली अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है। इस पहली अंगुली का गुण पर्याय पिण्ड परमाणु स्कध कुछ भी दूसरी अंगुलीमें नहीं है। इस अंगुलीका जो निजी क्षेत्र है, वह इस ही में है, दूसरेमें नहीं है, पहली अंगुलीका जो भी परिणमन है, जैसे रूप है, रस है, गंध है, स्पर्श है तो वह इस ही में है, दूसरी अंगुलीमें नहीं है और इस अंगुलीमें जो शक्ति है, भाव है, गुण है वह इस ही में है, दूसरे में नहीं है, ऐसे ही प्रत्येक पर्यायको भी निरखें। प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है। जीवोंको भी देखो––प्रत्येक जीव अपने

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, दूसरे जीवका गुण पर्याय कुछ भी इसमें नहीं आया। जब इतन स्वतंत्र–स्वतंत्र हैं तो कैसे कहा जा सकता है कि इस पर्यायका यह पदार्थ कुछ लगता है। जो लोग किसी जीवको अपना कुछ मानते हैं वे अपनी कल्पनायें वैसा समझते हैं। अपना जगतमें कोई नहीं हुआ, न है, न होगा। अपनेपनका व्यवहार तो लोकमें इस कारण चलता है कि एक का दूसरे के साथ कषायभाव मिल गया तो वे एक दूसरेके कहलाने लगे। पर वस्तुतः किसी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ कुछ भी नहीं है।

किसी भी भिन्न पदार्थमें सम्बन्ध मानने के व्यामोहमें विडम्बना––मेरा कुछ भी बाहर कुछ नहीं है जब यह परिचय बनता है तब इस जीवका व्यामोह हटता है, क्योंकि किसी पर भ्रम रहे कि यह मेरा है तो उससे कौन आशा रखेगा और कौन आशा रखता है। यदि कोई परमें आशा रखे तो यह नियम तो न रहा कि वह आशा सफल हो, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ जुदा–जुदा है, किसी पदार्थपर अपना अधिकार नहीं है। तो जब किसी पदार्थसे अपनेको कुछ मिलता नहीं है तो उससे आशा करना मूर्खता है, व्यामोह है और ऐसी आशा रखनेमें, व्यामोह रखनेमें, मूर्खता करनेमें केवल क्लेश ही होता है। वहाँ आनन्दकी गुन्जाइश नहीं है। इस कारण कर्तव्य यह है कि आशापिशाचिनीसे छुटकारा पा लें। आशा रखें तो अपने सहजस्वरूप भगवान परमात्मतत्त्वसे आशा रखें, क्योंकि यहाँ जो उपासना बनेगी वह शुद्ध ध्येयसे बनेगी और शुद्ध पर्याय अपने आपका स्वरूपहै, प्रयोजन है, इसलिए उसमें बाधा नहीं आ सकती। लौकिक कामों में अनेक बाधायें हैं। लौकिक विचारमें वास्तविकता नहीं होती, किन्तु स्वरूपकी उपासना हो और स्वरूप ही जिसका विकसित हुआ है ऐसी प्रभुकी उपासना हो और इस स्वरूपकी आराधनाका ही जिसका संकल्प रहता हो, ऐसे संत पुरुष की उपासना हो तो वहाँ रास्ता सही मिलता है और बाकी जगतके लौकिक पदार्थोंमें दृष्टि रखनेसे इस आत्मा को कुछ प्राप्ति न होगी। अतः बाह्य वस्तुओं से आशा करना व्यामोह है। जब कोई जीव अपने–अपने स्वरूपके किलेको मजबूत कर लेता है, मैं यदि बाह्य में उपयोग न दूँ तो क्या कोई दूसरा पदार्थ मुझपर जबरदस्ती करता है कि तुम वहाँ उपयोग ही दो। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक विधिसे यह बात है कि पूर्वबद्ध कर्मका उदय आया तो उस समय जीवमें प्रतिफलन होता है, उससे ज्ञानका तिरस्कार होता है और वहाँ यह जीव बाहरी इन नोकर्मोंमें उपचरित निमित्तोंमें अपना उपयोग जोड़ता है। पर ऐसी विवशता अज्ञानदश में है। जब ज्ञान बन जाय तो उसमें यह बल आ जाता है कि कभी–कभी कर्मविपाक होने पर भी इन उपचरित निमित्तोंमें उपयोग नहीं जुड़ता। चरणामृतकी पद्धतिसे अपना व्यवहार रखकर त्यागवृत्ति द्वारा अपनेमें संतोष पाता है। कर्तव्य यह है कि हम किसी बाह्य पदार्थ की आशा न बनायें। आशा करें तो अपने आपके भगवत् स्वरूप परमात्मतत्त्वकी। तो यह आशापिशाचिनी दुर्गतिमें ले जाने वाली है। जैसे यहाँ लोकमें निरखते हैं कि किसीको भूतनी लग जाय तो उसकी विकल दशा हो जाती है, ऐसे ही यह आशाभूतनी जिसके निवास कर जाय वहाँ इस जीवको कष्ट ही कष्ट मिलते हैं। कष्टसे बचना है तो वस्तुका समूल ज्ञान करें, प्रत्येक पदार्थ को स्वतंत्र–स्वतंत्र निहारो और आशा से छुटकारा पाकर सुखी हो लो।

(24)

अचलित चिदात्मक निज अन्तस्तत्त्वमें अपने आपको स्थापित करने से अभ्युदित होने वाला अविनाशी सौम्य ज्ञानप्रकाश! सदा जयबंत हीओ, ऊँ नमः सर्वविशुद्धाय, परमशरणाय, समयसाराय।

परमशरण ज्ञानप्रकाशका जयवाद––देखो अपनी रक्षा करनी है तो अपना परम शरण ढूंढ लो। विचार कर, तर्कण कर, अनुभव कर पूर्ण निर्णय कर लें कि मेरी परम शरण क्या है? उत्कृष्ट शरण जिसकी शरण गहनेसे, नियमसे सन्तोष मिले, संकट टलें, आधि व्याधि

समाप्त हो जाय। ऐसा कुछ है परमशरण तो ऐसा परमशरण बाहरमें तो कुछ हो ही नहीं सकता। जब प्रदेश भिन्न हैं और निराले हैं तो उससे मेरे साथ शरणका क्या सम्बध? बाहरमें तो कोई मेरे लिए परमशरण नहीं है। खुदमें ही खुद होगा खुदमें ही परमशरण बन सकेगा। जो खुद का साथ निभाये, सदा रहे, कभी धोख न रहे, ऐसा सदा रहने वाला मेरेमें क्या है? मेरा चैतन्यस्वरूप। निर्दोष पावन जो चैतन्यस्वरूप है उसकी आराधना हो, यही मेरे लिए परमशरण है। तो स्वरूप कैसा है? सर्वविशुद्ध है। अपने आपमें अपना स्वरूप लिए हुए है और समस्त परभावोंसे जिसका हटाव हो गया ऐसा यह मेरा सहज ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व यही परमशरण है। वह क्या है? अगर सीधे स्पष्ट शब्दोंमें निरखें तो वह है शुद्ध ज्ञानप्रकाश। ऐसी जानकारी, जिस जानकारीमें रागद्वेषकी मलीमसता नहीं है, इस ज्ञानप्रकाशका जब विलक्षण आनन्द अनुभवमें आ जाता है, परमशान्ति प्राप्त हो जाती है तो आराधककी भावना इस ज्ञानप्रकाशको आशीष देनेकी होती है। अहा, निर्मल ज्ञानप्रकाश! जयवन्त हो, सहज ज्ञानज्यषेति तुम सदा मेरे–मेरे उपायोगमें विराजो ऐसा ज्ञानप्रकाशके प्रति आशीष मिलता है।

सौम्य शान्त अविनाशी ज्ञानस्वरूपका आशीष––यह ज्ञानप्रकाश सौम्य है। जहाँ रागद्वेष की मलीमसता होती है वहाँ ही विषमता आती है। यह रागद्वेषसे रहित है ज्ञानप्रकाश इसलिए सौम्य है, शान्त है, इसके द्वारा कभी आपत्ति नहीं होती। किसी भी पदार्थको उसके स्वरूप द्वारा आपत्ति नहीं आया करती। आपत्ति तो परनिमित्तसंगसे ही सम्भव है। केवल अपने आपमें अपनी ओरसे आपत्ति हो ही नहीं सकती। वह तो उस खुदका स्वरूप ही है। अपना स्वरूप अपने बिगाड़के लिए नहीं हुआ करता। ऐसा यह सौम्य ज्ञानप्रकाश शाश्वत जयवन्त होवे। अहा यह ज्ञानप्रकाश दृष्टि में आये तो उसके सारे संकट मिट जाते हैं। इसके लिए भगवान की मूर्तिके समक्ष वहाँ इस ही की मुद्रा देखी जाती है। वहाँ यह ही भावना की जाती है शुद्व चैतन्यप्रतिभास, यह ही है भगवानका रूप, जहाँ ज्ञान ही ज्ञान विराज रहा है। रागद्वेषका कोई काम नहीं है, ऐसा यह सौम्य प्रकाश अविनाशी है इसका विनाश कभी भी सम्भव नहीं। जो मेरा स्वरूप है वह कभी नष्ट हो नहीं सकता। स्वरूप नष्ट होनेके मायने हैं पदार्थ ही नष्ट हो गया। पदार्थ और पदार्थका स्वरूप ये भिन्न–भिन्न दो बातें नहीं हैं। पदार्थ का ही एक वह रूप है। तो यह मेरा आत्मस्वरूप अविनाशी है, अनादि अनन्त है। न इसकी उत्पत्ति हुई, न इसका विनाश होगा। यह तो सदा स्वतः सिद्ध अनादि अनन्त है। ऐसा अविनाशी सौम्य स्वरूप ज्ञानप्रकाश मेरेमें शाश्वत जयवन्त होवो। शाश्वत जयवन्त होनेका अर्थ है कि मेरे उपयोगमें सदा अभ्युदित रहे, ज्ञानमें ज्ञेय रहे ज्ञानमें यह ज्ञानप्रकाश बसा रहे, ज्ञानमें विकल्पका लेश न आये। ज्ञानमें आये, इसीके मायने हैं कि जयवन्त होना। जयवन्त तो वह है ही। जो अविनाशी है वह कभा मिट नहीं सकता। जयवन्त तो है ही तभी उसकी हार नहीं होती। कभी वह स्वरूप नष्ट नहीं होता। जो स्वरूप है वह शाश्वत है, लेकिन जिसको पता न हो इस अंतस्तत्त्वका उसके लिए तो कुछ नहीं है। वह तो दीन हीन भिखारी ही बना रहता है। तो जयवन्त होने का अर्थ यह है कि यह अविनाशी आत्माराम मेरे ज्ञानमें सदा बसे।

अचलित सौम्य शान्त ज्ञानप्रकाशके प्रति प्रयोगात्मक नमन––यह अविनाशी सौम्य ज्ञानप्रकाश कैसे उदित होता है, कैसे विकसित होता है और कैसे ज्ञानमें आता है? उसका उपाय है कि अपना जो चैतन्यस्वरूप है, अन्तस्तत्त्व है उसमें अपने आपको उपयुक्त कर दे, अपने उपयोगको अपने निज शुद्ध चैतन्य प्रकाशमें लगा दें तो यह प्रकाश उदित हो जायगा। जो अब तक अज्ञानभावसे तिरस्कृत था तो तिरस्कारसे हटकर अब अपने अभ्युदयमें आ जायगा। कहाँ लगाना है इस उपयोगको? अपने अन्तस्तत्त्व में, अपने

अन्तःस्वरूपमें। जो स्वरूप कैसा है? अचलित है। कभी चलायमान नहीं हो सकता। जो जहाँ है सो उसका स्वरूप ही है। स्वरूप कभी चलित नहीं होता। जैसे पुद्गल है तो उसका रूप कभी चलित होता है क्या? रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि न रहें, ऐसा कभी ाि्ई समय आता है क्या? तो मेरा जो अन्तः स्वरूप है ज्ञान दर्शनमय, क्या यह कभी चलित हो सकता है? कभी मुझमें ज्ञान दर्शन न रहे, ऐसी स्थिति आ सकती हैं क्या? कभी नहीं आ सकती। तो यह स्वरूप है अचलित। जो कभी भी चलायमान नहीं हो सकता। यह स्वरूप है चैतन्यात्मक। जिसका चेतना ही स्वरूप है, ऐसे अपने अन्तस्तत्त्वमें अपने आपको लगा दें याने उपयोग जुटा दें तो ऐसे ज्ञान व्यापार से एकदम उदित हो जाता है यह अविनाशी सौम्य, ज्ञानप्रकाश, जिसके प्रकाशमें, अभ्युदयमें जो विलक्षण आनन्द होता है उस आनन्द से तृप्त होकर यह आराधक आशीर्वाद देता है कि हे सौम्य ज्ञानप्रकाश! सदा जयवन्त होवो, सदा उपयोगमें जुड़ो और उसके प्रति नमनका भाव होता है। ऊँ नमः सर्वविशुद्धाय, परमशरणय, समयसाराय।

(25)

मैं ज्ञानमात्र हूं, किसी परज्ञेयके जाननेपर मुझ ज्ञानतत्त्वका अस्तित्व नहीं ज्ञान अपने स्वभावसे ज्ञेयज्ञानलहरोंको उछालता रहता है, परमार्थतः यही ज्ञान है, यही ज्ञेय है, यही ज्ञाता है। जयवन्त होओ मेरे स्वातंत्र्य।

स्वतः सहजसिद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्वतत्त्व के उपयोगसे संकटों की समाप्ति––एकदम सीधे किस तत्त्वपर उपयोग जाय कि सारे संकट विनष्ट हो जाते हैं? वह तत्त्व है अपना ज्ञानमात्र स्वरूप। मैं ज्ञानमात्र हूं, खुद हूं, अपने आपसे हूँ। अपने स्वरूपसे हूँ। यद्यपि इस ज्ञान का काम है कि ये सारे पदार्थ जाननेमें आ जाते हैं। सभी पदार्थ ज्ञानमें आते हैं। सब कोई तत्त्व हैं, सबकी जिन्दगी है। ये पदार्थ सब ज्ञानमें ज्ञेय बनते हैं सो बनें, ऐसा ही यह एक सहज योग है कि लो मैं ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपसे ही हूं। कहीं इन परपदार्थों को जानता हूं सो इस जानने के कारण मेरा स्वरूप बना हो, सो बात नही। जानने की तो एक साधारण कला है। सो जाने बिना रहता नहीं यह, पर जो पदार्थ जाने जाते हैं उन पदार्थों के कारण जानना बन रहा हो या स्वरूप बन रहा हो, सो बात नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हूं, किसी भी ज्ञेयके जानने के आधारपर इस मुझ ज्ञानमात्रका अस्तित्व नहीं, परपदार्थ पर हैं, बाहरी हैं, भिन्न हैं। मैं ज्ञानमात्र आत्मा स्वतःसिद्ध हूँ, स्वरूपको लिए हुए हूं। अब यह ज्ञानकी एक सहज कला है कि ज्ञान द्वारा समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं। सो ज्ञात होनेपर जो जाने गए वे वे अपनी सत्तापर आधारित हैं। जो जानने वाला मैं हूं सो अपनी सत्तापर आधारित हूँ। ज्ञान क्या कर रहा है और ज्ञेय क्या कर रहे हैं, इन दोनों की पृथक् पृथक् बात दृष्टि रहती है। ज्ञानी के ज्ञान क्या कर रहा है? अपने स्वभावसे ज्ञेय जाननेरूप उछाल लेता रहता है। ज्ञेयोंको कुछ नहीं कर रहा है। जैसे बाहरमें ये पदार्थ हैं, ये अपनी सत्ताको लिए पड़े हैं, इनको यह ज्ञान कुछ नहीं करता। क्योंकि ज्ञान तो आत्माके प्रदेशमें है। ज्ञान जो कुछ पर पाता वह अपने प्रदेशोंमें ही कर पायगा, परक्षेत्रमें नहीं कर सकता। तो ज्ञानने पर पदार्थ को कुछ नहीं किया, किन्तु पर पदार्थ को जाना। ऐसा जो जानना चल रहा है इस जाननरूप लहरको मैं उछालता हूँ याने ज्ञानकी वृत्तियाँ उठती हैं और उसमें ज्ञेय ज्ञात होते रहते हैं। इतना काम मेरे ज्ञानका है और ज्ञेय क्या करता है? ज्ञेय अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे परिणमता है। वे मुझ ज्ञानमें कुछ नहीं किया करते। वे ज्ञानके विषय बनते हैं।

ज्ञानतत्त्व की ज्ञानमय उछालें––भैया! वास्तविकता तो यहाँ इतनी है कि सभी पदार्थ खुदके खुदमें हैं, ज्ञान ज्ञानरूपमें है। पर अज्ञानी जन कुटुम्ब बढ़ाकर अनेक अन्य विकल्प

करके अन्यको विषय बनाकर अज्ञानरूपमें प्रवर्तन कर रहा है। वस्तुतः तो जीव अपनेमें ज्ञानपरिणति करता है और ज्ञेय पदार्थ न जानते हुए, अपने स्वरूपमें परिणमते हुए अपनी सत्ता बनाये चले जा रहे हैं। परमार्थ से देखो तो वास्तव में ज्ञान यही ज्ञान है जो ज्ञानमात्र रहे, ज्ञातादृष्टा रहे, परपदार्थमें विकल्प न मचाये, वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान है, यही ज्ञान है और उस समयमें परमार्थसे जाना क्या गया यही ज्ञान जाना गया। ज्ञानने ज्ञानको जाना, ज्ञानने इस खम्भेको नहीं जाना। देखिये यहाँ निश्चय और व्यवहार की बात चल रही है। ज्ञानने निश्चयसे तो ज्ञानको जाना और व्यवहार से इस खम्भे को जाना। इसका अर्थ यह नहीं कि खम्भे का जानना झूठ है या यह खम्भा नहीं है, अन्य कुछ है। इसका अर्थ यह है कि ज्ञान अपने प्रदेशोंसे हटकर इस खम्भे में फंसे और इस ज्ञान से इसको जान ले, ऐसी बात नहीं है। ज्ञान तो अपने ही स्वाभावसे जानता है। किसको जानना है? अपने ही ज्ञानके परिणमन को जानता है, पर वह ज्ञानपरिणमन मुझमें ऐसा हुआ जैसे कि बाह्य पदार्थ मौजूद हैं। उनके विषयकी ही तो जानकारी है। तो निजमें उठने वाला जो विकल्प है, ज्ञान है उसका तो यह ज्ञाता है। पर निश्चयसे बाह्य वस्तुका ज्ञाता नहीं है। फिर भी जिस तरह से हमने अपने आपको जाना, जिस रूपमें हमने अपने आपको जाना वह रूप क्या है? जैसे कि कोई दूर पदार्थ है उस प्रकार का यह ज्ञेयाकार परिणमन है, सो व्यवहार असत्य है, ऐसा कहकर न बढ़ें, किन्तु व्यवहारमें तथ्य क्या है उसे जानकर, इस तथ्यका विकल्प भी त्यागकर अपने ही ज्ञानस्वरूपको जानते रहें, ऐसा यही ज्ञेय बन रहा है। निश्चयसे ज्ञान कौन? मैं, निश्चयसे ज्ञेय कौन? मैं, और निश्चयसे ज्ञाता कौन? यह मैं। जानने वाला कौन? यह मैं, जो जानने वाला सो मैं। और किससे जाना गया, मुझसे ही जाना गया।

डदाहरणपूर्वक निश्चय और व्यवहार के कथनमें स्वभावके दर्शनकी शिक्षा––जैसे दर्पण के सामने कोई चीज रखी है और प्रतिबिम्ब आ गया दर्पण में लाल कपड़ा रखा है तो लाल प्रतिबिम्ब आ गया, सो वह लाल प्रतिबिम्ब दर्पणकी ललाई है। उसे किसने किया? तो सब जानते हैं कि लाला कपड़ा सामने आया तब प्रतिबिम्ब हुआ। तो न्यास होता उस प्रतिबिम्बको लाल कपड़ेंने कर दिया और यों भी इसपर दृढ़ जानकारी होती है कि इस लाल कपड़े को जितना जल्दी हिलाते हैं, हटाते हैं वैसे ही वैसे उतना ही उतना जल्दी–जल्दी उस दर्पणमें उस प्रकारका प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। उससे भी यह ही समझें कि वह प्रतिबिम्ब इस कपड़े का है, दर्पण तो स्वच्छता मात्र है। लेकिन जब निश्चयदृष्टि से देखते हैं तो उसका प्रयोजन है अभिन्न प्रदेशको निरखना। प्रतिबिम्ब किसका परिणमन है उसे देखो। प्रतिबिम्ब कपड़ेका परिणमन नहीं, प्रतिबिम्ब दर्पणका परिणमन है, और प्रतिबिम्ब दर्पणके क्षेत्रमें प्रदेरूा में ही उद्‌गत हुआ है, तब वह प्रतिबिम्ब किसका परिणमन है? तो कहा जायगा दर्पण का। देखो व्यवहारसे जो समझा उससे भी स्वभावदर्शन की शिक्षा मिलती है। निश्चयसे जो समझा उससे भी स्वभावदर्शनकी शिक्षा मिलती है। ऐसा यह मेरा ज्ञानस्वरूप परमार्थतः यह ही ज्ञान है, यही ज्ञेय हो रहा है, यही ज्ञात हो रहा है। कैसा स्वातंत्र्य है कि आत्म–पदार्थ स्वयं अकेला अपने आपमें अपनी परिणतियोंकी उछाल लगाता चला जा रहा है। इसमें किसी दूसरे द्रव्यका प्रवेश नहीं है। तो जो ऐसी ज्ञान उछालों को देख–देक्षकर तृप्त रहता है, बाहरी पदार्थोंके विकल्पको नहीं करता है ऐसा संतपुरुष ही अपने आपमें संतोष पाता है। भव–भवके बाँधे हुए कर्मोंका प्रक्षय करता है। आगे सुगति पायी जाती है जहाँ धार्मिक वातावरण मिलेगा और वहाँ और प्रगति करेगा तो मुक्ति बहुत निकट हो जायगी। ऐसा जो अपना स्वातंत्र्य है उसे देखें और ज्ञान ज्ञानरूपसे ही परिणमे, ऐसी भावना रखते हुए स्वातंत्र्य का जयवाद करे।

अनन्तशक्त्यात्मक होने पर भी स्वयं को नयदृष्टिसे लखने लग जाता हूं, तो बुद्धि से खण्डित होकर परमस्थितिसे भ्रष्ट हो जाता हूं, अतः यही ध्यान जयवंत होओ––मैं अखण्ड सहज शान्त अचल चैतन्य तेज हूं।

अखण्ड निज तत्त्वको खण्डित कर परमार्थच्युतिमें संकटों का अनुभव––लोग अपने आपको अनेक रूपोंमें देखा करते हैं। कालकी अपेक्षा अनेक रूप। जैसे मैं बालक था, जवान हुआ, बूड्ढा होऊँगा, अमुक गतिमें था, अमुक गतिमें होऊँगा। अपने आपके बारे में काल दृष्टि से अनेक रूप यह जीव सोचता है और गुणदृष्टिसे भी अनेक रूप सोचता है। मैं ज्ञान वाला हूं, दर्शन वाला हूं, चारित्र वाला हूं, आदिक, पर वास्तव में देखा जाय तो क्या मुझमें या किसी भी सत्में अनेकरूपता होती है? प्रत्येक सत् अखण्ड है, उसके समझने के लिए व्यवहार से भेद किए जाते हैं। व्यवहार से भेद किए जाना असत्य नहीं, क्योंकि आचार्य संतोंने व्यवहारसे भेद करके ही जीवतत्त्वकी पहिचान कराई है। अगर असत्य हो तो असत्य मार्गसे सत्यस्थान पर पहुंचना कठिन होता है तो वस्तु निश्चयसे अखण्ड है और व्यवहार से उसके खंड किए जाते हैं समझने के लिए। तो अपने आपको विचारें कि मैं अखंड हूं। अखण्ड होकर भी समझ में तो आ ही रहा है कि मुझमें अनन्त शक्तियाँ हैं, अनन्तशक्त्यात्मक होकर भी मैं अखण्ड हूं, अखण्ड होकर भी मैं अनन्तशक्त्यात्मक हूं। तो नाना विचित्र अनन्त शक्तिरूप हूं और अखंड हूं। ऐसे इस निज तत्त्व को मैं अपने आपको जब नयदृष्टिसे निरखता हूं तो उसकी विधि में उसके खंड (अंश) बन जाते हैं। सो जब मैं इन अंशों को तकता हूं तो मैं परमार्थ से च्युत हो जाता हूं। परमार्थ से तो ज्ञानमें आता है एक अखंड और व्यवहारसे ये नाना अंशोंमें (खंडों में) विदित होते हैं। और जब एक परमार्थ स्थिति उसके उपयोगमें नहीं रहती, अपने को जब नानारूप सोचता है तो इस जीनके व्याकुलता जगती है। देखो यदि बाहरके किसी पदार्थ का विकल्प हो रहा हो तब कितनी अधीरता रहती है? सो भैया! आत्महित देखो और समझो, सुनो, बाहरी पदार्थ के विकल्प छोड़ दो कुछ अपने आपपर दया करके। क्योंकि ये विकल्प अपनेको मददगार नहीं, सहायक नहीं, मिट जाने वाले हैं विकल्प। तो एक बार तो सारे विकल्पों को छोड़ दो।

विकल्पपरिहार में लाभ का दिग्दर्शन––इतना भीतर में साहस जगाओ, ज्ञानबल बढ़ाकर कि मैं सब विकल्प छोड़ दूँ तो उसमें न दूसरेका नुक्सान, न मेरा नुक्सान। क्योंकि घरके लोग या जिन–जिनकी व्यवस्था सम्बन्ध है उन सबके अपने–अपने उदय हैं और सभी जीव अपने–अपने उदयके अनुसार ही अपना जीवन भविष्य पाते हैं, उनका विकल्प मैं छोड़ दूँ तो उनका कोई नुक्सान नहीं। केवल सोचता ही है यह जीव कि यदि मैं न करूँ तो इसका क्या गिा? अरे जब उनका पुण्योदय है तो आपको उनकी नौकरी करनी ही पड़ेगी। आपके चिन्तायें करनेसे कहीं उनको सुख नहीं हुआ, किन्तु उनके ही पुण्यविपाकसे ऐसा समागम मिला कि उनको सुख होता है, तो उनका तो कुछ नुक्सान नहीं और विकल्प छोड़ दें तो इसका भी क्या नुक्सान? विकल्प छोड़नेपर भीतर में निर्विकल्प परमात्मप्रभुका दर्शन होता है। विकल्प न जगें तो यह हृदयकी बात स्वच्छ कहलाती है, और जब हृदय स्वच्छ हो तो वहाँ परमात्मप्रभुका विलास बनता है। तो विकल्प छोड़कर सो लाभ ही लाम पाया। जरा अपने भीतरका ख्याल करो। यह मैं आत्मा कोई ज्ञानवान, ज्योतिवान, प्रकाशवान, चकचकायमान कितना विलक्षण पदार्थ हूं। उसमें न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है। मुझको न कोई पकड़ सकता है, न जला सकता है। न बाँध सकता है। मैं अमूर्त हूं, फिर भी कैसा स्वरूप, कैसा स्वभाव कि इसका जानन स्वभव है। इसकी महिमा किसनी ही समझायी जावे, यह कितना महान् है, यह मैं कैसा विलक्षण पदार्थ हूं कि मेरेमें

मेरे ही स्वरूपसे सारा विश्व प्रतिभासमान हो जाता है, ऐसी अलौकिक शक्ति है। तो ऐसा ज्ञान ज्योतिर्मय मैं परमात्म पदार्थ हूं।

मेरा स्वरूप और मुझपर बीत रही घटना––अब भीतर विचारें कि मैं तो एक ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानज्योति मात्र हूं। सो इसका जो काम बनेगा वह ज्ञान ही ज्ञान बनेगा। हिसाबसे, गणितसे, युक्तिसे, अनुभवसे तो यह बात सोचनी है कि मैं तो स्वतंत्र हूं, ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं, आनन्दमय हूं, क्लेशका वहाँ काम क्या? लेकिन बीत क्या रही है, सो भी देख लो, क्लेश, विपदा, विकल्प, ये ही सारी विपदायें बीत रही हैं। सो ये आपत्तियाँ कैसे आयी हैं? पहले के बाँधे हुए कर्म उदयमें आ रहे हैं। और चूँकि यह आत्मा चेतन है, यही उदयमें आ रहे हैं। तो उदयमें क्या आ रहा है? वे कर्म, उनका अनुभाग खिल रहा, उनमें क्षोभ चल रहा, उनमें कुछ विलक्षणता, एक बवण्डरसा चल रहा। तो मेरे क्षेत्रमें, मेरे निमित्तनैमित्तिक भावमें बाँधे हुए कर्मोंमें इतना बवण्डर चले तो यहाँ उसकी छाया तो होगी, झाँकी तो बनेगी, अबुद्धि पूर्वक बनी, अब एक और बढ़ावा दिया, अपनाया, विकल्प किया, अपना समझा, तो बस यह जीव उदविग्न हो जाता है। इतना तो ध्यान दो कि मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूं, मेरेमें खुद कोई कषाय जगी, ऐसा विकल्प जगा, ऐसा क्यों हो? होता सो है। तो उसका अर्थ यह है कि विकल्प क्या है? कर्मोदयका जो खेल है वही इसकी झाँकीमें आया और उसमें उद्विग्न होकर इस जीवने उस कर्मविपाकके नोकर्ममें उपयोग दे डाला।

स्पष्ट भिन्न पदार्थोंसे ममता की मूढ़ता––भैया! जरा विवके तो बनाओ, हम दुःखी क्यों होते हैं। अरे मोटीसी बात इतनी तो विचार लें कि मर गए सो अकेले जायेंगे कि कुछ यहाँसे समेटकर ले जायेंगे। कोई यहाँसे मरण करके यहाँका कुछ साथ ले जा सकेगा क्या? अरे मरने के बाद तो साथ कुछ नहीं जाता। तो जिन्दा में इन पर वस्तुवौं के प्रति क्यों सोचते हैं कि ये मेरे हैं? यह तो एक कोरा विकल्प है। दस–पाँच वर्षोंको आपने सोच लिया, मान लिया, विकल्प कर लिया और मर गए, सब छूट गया, तो यह ही तो गोरखधंधा है संसारका कि जब तक जिन्दा है तब तक मन नहीं मानता और मर गए तो सब छूट गया। जहाँ गए सो फिर कुछ मिला, वहाँ भी मन नहीं मानता। मर गए, फिर आगे बढ़े। यह ही तो संसारका गोरखधंधा है, इसमें मिलता क्या है? फिर क्यों नहीं चेतते? अन्याय करनेकी बात मनमें क्यों आती है? तो देखो अपने आपके भीतर यहाँकी व्यवस्थापर ये बाहरी बातें आधारित हैं। बाहरी बातों पर सुख–दुःख आधारित नहीं, किन्तु इन भीतरी विकल्पोंपर ये बाहरी बातें आधारित हैं। भेदविज्ञान कहते किसे हैं? यहीं भीतर में ऐसी दो टूक बात जंचे कि यह तो मैं ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा हूं और ये सब कर्मविपाकके चित्रण हैं। इनमें मैं क्यों लगूँ? मैं तो अपने सहज परमात्मतत्त्व की उपासना में लगूँ, तो यहाँ भीतरमें भेदविज्ञान करना है और यहाँ अपने को खालिस ज्ञानप्रकाश प हूँ ऐसा अनुभवना। जब बाहरमें कहीं कोई मददगार नही तो वहाँ ही क्यों दृष्टि उठाये फिरते हैं? वहाँसे दृष्टि संकोचें और अपने आपके भीतर के अन्तः स्वरूपमें दृष्टि ले जायें।

अचलित चैतन्यज्योतिका आशीष––कोई किसी बातमें फंस गया हो तो कहते हैं कि इसे युक्तिसे निकालो। और जब खुद इतना तेज फंसा हुआ है कि इसके इस उपयोगस्वरूपपर सारे विकल्प लदे चले आ रहे हैं तो इसमें इसकी विडम्बना नहीं है क्या? विडम्बनामें पड़े है तो इसे धीरे से निकालें, युक्तिसे निकालें। वह युक्ति यह ही है कि भेदविज्ञान करें। उपयोग यही बने तो ये सब विडम्बनायें दूर हो सकती हैं। हाँ बात यह चल रही है कि मैं तो जो हूँ सो ही हूँ, अखण्ड हूँ, एकरूप हूँ। पर तीर्थ प्रवृत्तिके लिए नयोंके द्वारा इस अखंड आत्माके अंश करके समझाये जाते हैं। सो जब हम इस भेदपर दृष्टि रखते हैं तो निर्विकल्प अवस्थामें नहीं रह पाते। सो भेदको समझकर उन्हें गौण करें

और अखंड अभेद जो ज्ञानस्वरूप है उसकी आराधनामें लग और भीतरसे इस स्वरूपके प्रति आशीर्वाद प्रकट करें कि हे अखण्ड ज्ञानज्योति स्वरूप! तुम जयवन्त प्रवर्तो, क्योंकि इसके आश्रयसे ही सही मार्ग बनता है। बराबर भावना बनाओ, यही भाव जयवन्त हो। देखो अपना समा जिसमें अखण्ड चैतन्य ज्योतिस्वरूपका भाव समा जाय। मैं अखण्ड एक सहज शान्त अविचल चैतन्य तेज हूं। मैं तो जो हूं सो हूँ और समझने समझानेके प्रसंग में सर्वप्रकारसे समझना पड़ता है। मैं अखण्ड हूँ, यह तो स्पष्ट है, क्योंकि मैं कोई टुकड़ा बन–बनकर जुदा तो नहीं पड़ा रहता। मैं एक हूँ भले ही इसमें नाना विचार जगते हैं, पर आधार तो मैं एक ही पदार्थ हूँ, सहज शान्त हूँ। जैसे समुद्र तो शान्त रहता है मगर वायुकी प्रेरणा मिली कि वहाँ अशान्ति प्रकट होती है। मैं शानत हूँ और अविकल तेज हूँ। जो ज्ञानज्योति है वह विचल नहीं होती, ऐसे अविचल चैतन्य तेजमय प्रभुकी उपासनामें ही अपना कल्याण है।

(27)

सध्य समयसारकी साधनाकी धुनमें अन्य धुन छूट जाती है तब एकदेश व सर्वदेश त्यागरूप श्रावकलिङ्ग व श्रमणलिङ्ग अनिवारित है, तथापि अन्तस्तत्त्व के दर्शन, ज्ञान, आचरणरूप ज्ञानसंचेतनसे साध्य की सिद्धि होती है।

अपना सार समयसार––परखा, अपना सार कहाँ मिलता है? बाहरमें नहीं। खुद में ही सार देखो और खुदमें ही शरणपना देखो। खुदमें सार क्या है? समयसार याने अपना सहज चैतन्यतेज। इस चैतन्यतेज की साधना बनावें याने अपने ज्ञानमें यही चैतन्यस्वरूप समाया रहे, उसकी धुन बन जाय, मेरे को तो सहज आत्मस्वरूप चाहिए। सो जो ज्ञानी पुरुष है, जिसने अपना एक ही प्रोग्राम रखा है कि मुझे सिद्ध होना है, जितने भव लगें, लगें। जो भव शेष है वह इसही धुन में जाय। मेरे को तो सिद्ध होना है, भगवान होना है, ऐसा सोचकर कोई तो करेंगे आश्चर्य कि क्या नन्हे मुख बड़ी बात करते हैं कि मैं भगवान होउँगा। और कोई सोचेगा ऐसा कि मैं भगवानस्वरूप अभी नहीं हूं। उसका विकास नहीं। उसका आचरण है पर मेरेमें कैवल्यस्वरूप न हो तो मैं कभी केवल हो ही नहीं सकता। भगवान होनेका नाम यह है कि मैं खालिस मैं ही मैं रह जाऊँ, इसी को कहते हैं भगवान होना। आवरणसे गंदा है कषायोंसे मलिन है, फिर भी स्वरूप तो चैतन्य ही है। उस ही की धुन बने, दृष्टि बने तो ये मल कर्म दूर हो सकते हैं।

अपना साधन साध्य समयसार––देखो अपने को साध्य क्या है? समयसार याने दृष्टि में क्या लेना है और अन्तिम स्थिति हमारी क्या बननी चाहिए? सो कार्य समयसार और कारणसमयसार––ये दो बातें समझिये, मुझे क्या बनना है? कार्यसमयसार। किस तरह बन सकेगा? इस कारणसमयसारकी दृष्टि रखकर बन सकेगा। तो देखो समयसारकी धुन रखता है ज्ञानी जीव। जिस धुनमें संसारकी बाकी धुन छूट जाया करती है एक ही धुन रहती है––मुझे तो यह ही ज्ञानस्वभाव दृष्टि में रहे। तो जिसकी अपने केवल्यस्वरूपकी इतनी धुन बन जाय वह बाहरी और बातों में फंसेगा क्या? धुन इसकी बन गई अपने आपके स्वरूपकी उपयोगमें लेनेकी। इसका प्रमाण यह है कि बाहरमें बाह्य वस्तुओं का सम्पर्क कम हुआ या दूर हुआ? तो जिनको अपने ज्ञानस्वरूपकी धुन बन जाती उसको दुनियाकी बाकी धुन छूट जाती है और जिनको जगतकी बाकी धुन छूट गई उनके बाह्यपदार्थोंका त्याग बन जाता है। जब किसी बाहरी बातकी धुन ही न रहे तो ये बाहरी बातें मेरे पर कब तक लदी रहेंगी? तो बाह्य वस्तुवें छूट जातीं ना? जिसमें अपने ज्ञानकी साधनाकी धुन बनी है।

त्याग व्रत में से गुजरकर ही सिद्धिका लाभ––जब बाहरी वस्तुवें छूट गई तो जहाँ कुछ छूटी उसका नाम है श्रावक और जिसका सब छूटा उसका नाम है मुनि। क्यों छूटीं कि उसको केवल स्वरूपसाधनाकी धुन है, अन्य कुछ धुन है ही नहीं। तो देखो जो साध्य

समयसारकी धुनमें रहता है उसके श्रावकधर्म और मुनिधर्म ये तो आते ही हैं। मुनिधर्मके आये बिना, इसमें गुजरे बिना मोक्ष किसीको नहीं मिला, न मिल सकेगा। किसीको कुछ समय लगा, किसीकी ज्यादा समय लगा। उसके ये सब श्रावकधर्म, मुनिधर्म बीचमें आते ही हैं। आते तो है, पर इनमें अटकने को बात नहीं करनी है, ये तो आयेंगे। जब हम अपने ज्ञानस्वरूपकी धुनमें रहते हैं तो वहाँ तो परिहार, आकिञ्चन्यका रूप, संयम, व्रत ये सब भाव आते हैं। तो यह ही कहलाया द्रव्यलिंग। जिसके भीतरकी प्रगति होती है, शुद्धता है उसकी बाहरी मुद्रामें भी ये बातें आ जाती हैं। जैसे लोकमें कहते हैं ना––''मनभूपतिके हृदय को दृग दिवान कह देय।'' किसके मनमें क्या बात है? यह उसकी स्वयकी आँखें बता देती हैं। बहुत मुश्किल पड़ती है मनकी बानको छुपानेके लिए। इन आँखोंको कहाँ ले जायें, किसी तरहसे कीजिए बहुत मुश्किल पड़ती है। जो मन की बात है उसे आँखें बात देती हैं। तो देखो बाहरी मुद्रा बनी ना। कषायमें भी बाहरी मुद्रा बनती है। किसीके क्रोध आया तो बताओ कौनसे स्कूलमें सिखाया जाता कि इतना ओंठ भी हिलना चाहिए, गाल थोड़ा भी कंप जाना चाहिए, सिर भी हिल जाना चाहिए, आँखें भी टिमटिमा जानी चाहिएँ। भीतरमें कषाय जगे तो उसकी मुद्रा आती ना सामने। तो भीतरमें जिसके वैराग्य जगे तो बाहरी मुद्रा आयगी नहीं क्या सामने? बाहरी मुद्रा अगर नहीं आती और भीतर की बात बढ़–बढ़कर करते तो सबका नाम कह दो गप्प। मुद्रा आये बिना रहती नहीं और उसी मुद्राके आधारपर यह तीर्थपरम्परा चलती है। तो जो साध्यसमयसार की धुन रहती है उसकी बाकी धुन छूट जाती है और तब जब बाकी धुन न रही तो बाह्य पदार्थ कब तक उससे चिपटे रहे, वे दूर होते हैं। थोड़ा दूर हुए तो श्रावकलिङ्ग बना, सब दूर हो तो साधुलिंग बना, यह भाव आता है तो भी इस व्यवहार को परमार्थ नहीं मानते वे साधकजन। वे उसी मुद्रामें से गुजरते हैं और द्रव्यलिंग मुद्रामें प्रीति नहीं रखते, प्रीति तो उनको स्वभावमें है, ज्ञानाराधना में है। उस भेष में रहकर भी ये ज्ञानी साधु योगीजन अपने अन्तर में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–इनकी ही साधना करते हैं और वहाँ एक शुद्ध ज्ञानका ही चिन्तन होता है। तो अपना सहज ज्ञानस्वरूप प्रकट हो ही जाता है तो ज्ञानचेतना, मेरा मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानको ही करता, ज्ञानको ही भोगता, ज्ञान ही सर्वस्व और फिर उस ज्ञानका सहजस्वरूप ज्ञानमें आये तो यह जो अन्तर बल है बस यह ही इस संसारसमुद्रसे पार करा देता है।

सरांश इतना कि हम अपने को ऐसा अनुभव करें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ज्ञान सहजस्वरूप, जिसका शुद्ध काम है जानना। बाकी मलिनता तो कर्मोदयकी बात है। देखो निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय स्वभाव का दर्शन कराने के लिए होता। परतंत्रता नहीं बताती है निमित्तनैमित्तिक भाव, किन्तु स्वरूपदर्शनके लिए तैयारी बनाती हैं। यह भाव हटे, नैमित्तिक है, औपाधिक है, मेरा स्वरूप नहीं। तो यों अन्तस्तत्त्वके दर्शन कर अपनेमें तृप्ति पायें और भव–भवके बन्धनसे छुटकारा पावें।

(28)

जितने क्षण सहजात्मध्यानमें गुजरें उतने क्षण सार्थक हैं, जितने क्षण विषयकषायमें गुजरें उतने क्षण व्यर्थ हैं, अनर्थ हैं। प्रियमत! अपने सहज शौर्यको संभालो, व्यर्थका कष्ट मत भोगो।

उपयोग लक्षण वाले जीवका संसार अवस्था में ध्यान व्यापार––आत्मा का स्वरूप उपयोग है। उपयोगका कार्य कुछ न कुछ जानते रहना है। अब यह विचारें कि हम क्या जानें कि हमारा समय सफल हो और क्या जानें कि हमारा समय व्यर्थ जाय। यहाँका जिसने विवके किया बुद्धिमान वही है। बाहरी अनेक बातों में कोई विकल्प करे, लौकिक

बहुत बड़ी समस्यायें सुलझाये तो वह कोई बुद्धिमानी नहीं है। यह तो एक संसारका यहाँ का परिणमन है, जो हो सो हो, लेकिन अपने उपयोग में इस बातका विवके बना लेना कि मेरा हित किस विचारमें है और अहित किस विचारमें है? ऐसा अगर विवके बन जाय तो इसमें जीवनकी सफलता है। अब विचारो आत्मा विचार करता है ना कुछ और यह ही विचार जब कुछ निरन्तर रहता है तो इसीका नाम कहलाता है ध्यान। चित्तका विचारका एक विषयकी ओर रुक जानेका नाम ध्यान है। ध्यान अच्छे भी हो सकते, बुरे भी हो सकते। ध्यान 16 प्रकार के बताये गए हैं––4 आर्तध्यान, 4 रौद्रध्यान, 4 धर्मध्यान और 4 शुक्लध्यान। इनमें से धर्मध्यान और शुक्लध्यान तो मोक्षका हेतु बताया है। अब भले ही उनमें किन्हीं ध्यानोंमें परंपरा की बात लगती है कि कौनसा ध्यान कितना पीछे है? कौनसा ध्यान कितना आगे है? लेकिन सूत्रजी में बताया गया––परे मोक्ष हेतू, अन्यके दो ध्यान याने धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये मोक्षके हेतु होते हैं और आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान ये दो ध्यान संसारके कारण हैं।

आर्तध्यानका विस्तार––आर्तध्यान, जिस ध्यानमें पीड़ा हो, वेदना हो उसे आर्तध्यान कहते हैं। तो पीड़ा होती है जीवको चार प्रकारसे, या तो किसी इष्टका वियोग हो जाय या किसी अनिष्टका संयोग हो जाय अथवा शरीरमें कोई पीड़ा आ जाय या किसी बाह्यपदार्थकी आशा, ध्यान, तृष्णा लगाये रहे तो इन चार भावोंमें क्लेश होता है। क्लेशका फल क्या है? दुर्गति। जब अपने काल्पनिक इष्टका वियोग हो गया तो यह जीव उस इष्टके समागमके लिए बहुत–बहुत चिन्तन करता है। उस चिंतन में बड़ा क्लेश भरा पड़ा है। इष्ट कोई है नहीं जीव का, लेकिन कल्पनामें तो मान रखा है। कल्पनासे जिसको इष्ट मान लिया उसका वियोग हुआ तो उसके संयोग के लिए निरन्तर ध्यान बना रहता है। इस ध्यानमें कष्ट ही पाता है जीव। जिसको अनिष्ट मान लिया, अनिष्ट वास्तवमें जीवका है कुछ नहीं, बाहरमें पदार्थ है, अपना स्वरूप लिए हुए है। मेरा अनिष्ट क्या है? कुछ भी नहीं, पर जिसको अनिष्ट मान लिया उस पदार्थमें जिसके विकारके लिए निरन्तर ध्यान बना रहे सो वह अष्टिसंयोगज ध्यान कहलाता है, इसमें भी बहुत क्लेश है और शरीरमें पीड़ा हो, कोई फोड़ा भी हो जाय तो उसी से ही यह बड़ा दुःख महसूस करता है और हर एक रोग के लिए यह कहलाता है कि यह रोग न होता, इसके बजाय कोई दूसरा होता तो अच्छा था। तो भी रोग होता है उसी रोगके प्रति बहुत पीड़ा का अनुभव होता है। छोटे से छोटा भी रोग हो, जुकाम, खांसी जैसे तो इनमें भी इसको बड़ी पीड़ा मालूम होती है तो शारीरिक पीड़ा हो, उस पीड़ा का अनुभव बने तो वह भी आर्तध्यान कहलाता है। और ये जीव किसी वस्तुके इस भवके लिए आशा बनाये, परभव के लिए निदान बाँधें, किसी वस्तुकी आशा बनायी जाती रहे तो उसमें भी बहुत क्लेश होता है। ये चार कहलाते हैं आर्तध्यान।

रौद्रध्यानका विस्तार––चार हैं रौद्रध्यान––हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषयसंरक्षणानन्द। हिंसा करानेमें, करनेमें आनन्द मानना, कोई दूसरा हिंसा करे तो उसे देखकर खुश होना––ये सब हिंसानन्द रौद्रध्यान हैं। जैसे लोकव्यवहारमें बड़े मौजमें आकर किसी की मजाक उड़ाते, हँसी करते तो यह हिंसानन्दध्यान कहलाया। दूसरा वह दुःखी हो रहा, उसके दिलमें जो तड़फन हो रही और यह उसमें मौज मान रहा तो यह हिंसानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। इसमें बड़े क्रूर विचार होते हैं। भले ही वे मौज मान रहे और नहीं समझ पा रहे कि मुझमें बड़ी दुष्टताका भान हो रहा, मगर इसमें बड़ा क्रूर परिणाम होता है। रौद्रध्यान पुरुषका नरक व तिर्यचगतिमें गमन बताया है। दूसरा रौद्रध्यान है मृषानंदझूठ बोलनेमें आनन्द मानना। कितने ही पुरुष ऐसे हैं जिनको झूठ बोले बिना चैन नहीं पड़ती। यहाँकी वहाँ भिड़ाते। जिसे कहते हैं चुगमल और दोगला। चुगल और दोगलमें बताओ कौन

बड़ा है? चुगल बड़ा है, क्योंकि दोगल का अर्थ है दो गले वाला और चुगलका अर्थ है चार गले वाला दो––गलेके तो दो ही गले हैं, इसकी बात उससे कहा, उसकी बात इससे कहा। गला तो एक ही है, मगर किसीसे कुछ कहा, किसी से कुछ, ऐसा जो बोले सो दोगला और जो चार जगह याएने चार गलों से बोले सो चुगल। उसी मामले में इसको कुछ कहा, दूसरेको कुछ, तीसरेको कुछ और चौथेको कुछ, ऐसा दोगलापन और चौगलापन करने वाला पुरुष अपने चित्तमें शल्य रखता है वहाँ शान्तिका, धर्मका प्रवेश नहीं हो पाता, पर कर्मविपाक ऐसा है कि इस चुगली में ही लोग आनन्द पाते हैं। झूठ बोलनेमें आनन्द मानना मृषानन्द दुर्ध्यान है। चौर्यानन्द––किसी की चीज चुरा लेना, छुपकर लेना, बहाकाकर लेना, डकैती करके लेना, धोखा देकर लेना, किसी भी प्रकार दूसरेकी वस्तु हड़प लेना इसे कहते हैं चौर्यानन्द। वह भी दुर्ध्यान है और चौथा है विषयसंरक्षणानन्द। 5 इन्द्रिय और मनके विषयभूत भावोंकी, पदार्थोंकी रक्षामें ही जो आनन्द मानते हैं, वैभवको गिनते, इतना लाभ हो गया, उसको देख देखकर खुश हो रहे। यह सब विषयसंरक्षणानन्द है, अथवा अपनी यश कीति में मौज मानना यह सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान कहलाता है।

आत्मध्यान के क्षणोंकी सफलता व विषयध्यान के क्षणोंकी व्यर्थता––ये आर्तध्यान रौद्रध्यान तो हैं संसार के हेतु और धर्मध्यान शुक्लध्यान ये दो हैं मोक्षके हेतु। अब इन सब ध्यानोंमें से इनके दो विभाग बनाये। एकका नाम रख लीजिए आत्मध्यान, दूसरेका नाम रखो विषयध्यान। जितने आर्तध्यान और रौद्रध्यान हैं वे सब विषयध्यान कहलाते हैं। इन्द्रिय व मनके विषयभूत पदार्थोंमें भावों में किसी भी प्रकार का ध्यान बना हुआ है और तो धर्मध्यान, शुक्लध्यान हैं उनका सम्बन्ध आत्माके साथ है, वे सब आत्मध्यान कहलाते हैं। आजकल हम आपमें आत्मध्यान भी सम्भव है, उसकी अपेक्षासे देखें तो जितने क्षण आत्मा का ध्यान रहता है उतने क्षण इस जीनके सफल कहलाते हैं, क्योंकि आत्मध्यानके समयमें शान्ति संतोष, समता का अनुभव होता है और ऐसा ध्यान सुगतिका कारण है। देखो किसी पदार्थके प्रति रागका आ जाना यह बहुत बड़ा भारी कष्ट है। तो बाह्य पदार्थों में राग न जाय और अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूपमें ही 'यह मैं हूं,' इस प्रकार का भाव रहे, यह सब है आत्मध्यान। जितने क्षण आत्मध्यान रहेगा उतने क्षण इस जीनके सफल कहलाते हैं और जितने क्षण विषयोंमें ध्यान रहेगा, स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द, इनमें ही ध्यान रहेगा, इनका रखना, बढ़ाना, उनसे प्रीति लगाव करना, ऐसा अगर ध्यान बना रहा तो जितने क्षण यह विषय ध्यान चलता है वे क्षण सारे व्यर्थ समझिये। इस जीवको हित क्या करेंगे वे क्षण और हितकी तो बात जाने दो, ये क्षण तो अहित ही करेंगे। इससे यह निर्णय रखिये कि जितने क्षण मेरेको विषयोंके प्रति ध्यान रहता है वे क्षण सारे हमारे विपत्तिकारक हैं, विडम्बनारूप हैं। यह अपने व्यवहारकी बात कही जा रही है। हमारा मानसिक व्यवहार कैसा हो और कायिक व्यवहार कैसा हो? उसका यह सब निर्णय है। जितने क्षण आत्माका ध्यान है उतने क्षण तो सफल हैं और जितने क्षण विषयों में ध्यान है उतने क्षण इसके व्यर्थ हैं।

गुरुकी आनके क्षणोंमें विनय रहने के कारण जीवमें शान्तिकी पात्रता––अब जरा एक मानसिक बात और देखिये––लोगोंकी प्रवृत्ति प्रकृत्या स्वच्छन्दता की हुआ करती है। नियम, संयम या किसी प्रकार का नियंत्रण इनको पसंद नहीं करते जीव। यह आदत बच्चों से लेकर वृद्ध तक सभी में पायी जाती है। कुछ ही विवेकी ऐसे होते हैं जो अपने को संयत बनाते हैं, संयम में अपना नियंत्रण रखते हैं, मगर प्रायः करके बहुतसे जीव तो एक असंयम की ओर ही बढ़ते हैं और इसके ही द्वारा गौरव मानते हैं। देखो अपनी भलाई के लिए सबसे पहली आवश्यकता है गुरुकी, शिक्षा देने वालेकी। मार्गदर्शन करने वालेके प्रति आन रहे, विनय रहे। जिसे कहते हैं आँख में शरम रहे। तो जितने क्षण इस जीव को गुरुके प्रति

आन रहती, अपने से जो बड़ा है, रक्षक है उसके प्रति आन विनय रहती है उतने क्षण इसके सर्व कार्य योग्य चलते रहते हैं, क्योंकि उस समय वह विनयवान रहता है ना? जो विनयवान पुरुष है उसकी चेष्टा सुखकारी है। जो विनयरहित पुरुष है उसकी चेष्टासे उसको भी दुःख होता है और दूसरे को भी दुःख होता है। जो आनमें है वह बिगड़ा नहीं कहलाता। जो आन से अलग हो जाता है वह बिगड़ा हुआ कहलाता है। बिगड़े का जीवनभर पंत नहीं पड़ता और जो सुधार की ओर है वह कुछ बिगड़ गया हो तो भी सुधार उसका अन्तिम फल है। प्राचीन काल में बड़े–बड़े महापुरुषोंके चरित्र मिलेंगे उनमें नम्रता कितनी भरी हुई थी, उनमें आन बड़ोंके प्रति कितनी रहती थी, जिसके फलमें कदाचित् कष्ट भी भोगना पड़ा तो आखिर अन्तिम जीवन तो सुखकारी रहा और प्रसन्नता तो कष्टके समय भी रही। श्री रामने भी अपने पिताकी आज्ञा मानी, राज्य छोड़ा, स्वयं जंगलमें बसे, पर चूँकि न्यायपर थे, उनका आत्मा प्रसन्नता की ओर ही रहा। आन में कष्ट भी हो तो भी प्रसन्नता और आनसे विपरीत हो जाय कि वहाँ कितने ही मौजके साधन हो तो प्रसन्नता नहीं रहती। एक बार ऐसे ही एक मित्रने सेठ से कहा कि सेठ जी तुम्हारा लड़का तो वेश्या के घर जाता है, बिगड़ गया है तुम्हारा लड़का, तो सेठ बोला कि अभी हमको विश्वास नहीं है कि बिगड़ गया। तो मित्र बोला––चलो इसी समय दिखाये तुम्हें, वेश्याके घर है कि नहीं। सेठको ले गया। दूरसे देखा सेठने और उसी समय बालकने भी अपने पिता सेठ को देखा, वेश्याके घर तो खड़ा हो था, सेठने लड़के को देखा, उस लड़के ने सेठ को देखा तो लड़के ने क्या किया कि अपनी आँखों के आगे दोनों हाथ लगा लिये, सेठ वापिस आया, तो मित्र कहता है देखो बिगड़ गया ना तुम्हारा बेटा? तो सेठ बोला––नहीं हमारा लड़का नहीं बिगड़ा? .....अरे कैसे नहीं बिगड़ा? यो कि उसने हमारी लाज रखी, हमें देखकर शर्मिन्दा हो गया। आँख के आगे हाथ लगा लिया। तो देखिये जब तक बेटेमें पिताकी आन है तब तक उसे बिगड़ा नहीं कहा, बालक आया घर अनेक बातें सोचता हुआ, और पिताके पैरों में गिरकर कहने लगा––पिताजी माफ करो, आजसे कभी मैं ऐसा काम न करूँगा। तो भाई इस आनकी बड़ी महिमा है। जितने क्षण गुरु की आन रहती है उतने क्षण यह पुरुष विनयवान रहता है। जब तक विनय रहेगी तब तक यह जीव शान्तिका पात्र है। जब यह अविनयी हो जाता है तो वहाँ शान्ति नहीं रहती और न कल्याणकी पात्रता ही रहती है।

अन्य जीवों को तुच्छ मानकर अपना बड़प्पन समझनेमें आंतरिक बेईमानी––जब इस जीनके मानकषाय जग जाती है तो मानमें फिर यह दुनिया को किस तरह देखने लगता है कि दुनियामें मैं ही महान हूं बाकी लोग तो सब तुच्द हैं। पहली बात तो यह समझिये कि घमंड करने वालेकी यह बड़ी बेईमानी है कि जब जगतके सब जीव एक समान स्वरूप वाले हैं तो उसने यह बात मान ली कि मैं तो इनमें महान हूँ और बाकी सारे जीव तुच्छ हैं। तो यह बेईमानी जब तक चित्त में रहती है, मनमें ऐसा घमंड रहता है कि बस मैं ही हूँ सब कुछ ऐसी जब चित्तमें बेईमानी रहती है याने अपनेको सबसे महान मानना और दूसरे जीवोंको तुच्छ समझना या पर्यायको अपनानेकी बुद्धि रहती है तब तक यह जीव शान्ति नहीं पा सकता। शान्ति प्राप्त करना है तो पहला पाठ यह सीखें कि जगतके सब जीव एक समान हैं। जैसा मेरा स्वरूप है, ऐसा समस्त जीवों का स्वरूप है। तो जब जितने क्षण मान रहता है उतन क्षण इस जीवको शान्ति नहीं रहती। व्यवहार अपना इस ढंगका होना चाहिए कि वहाँ मानकषाय न बढ़े, न प्रवर्ते, मान किस बात का? ज्ञानका मान। ज्ञान क्या मिला? बड़े बड़े गणधर भी जो चार ज्ञानके धारी हैं, वे भी जानते हैं कि इस केवलज्ञानके आगे मेरा ज्ञान कुछ नहीं है। ज्ञानका क्या अभिमान? यदि कुछ चला प्रतिष्ठा मिली, लोगों पर कुछ प्रभाव बनता है तो उस चला प्रतिष्ठाका भी क्या मान? जहाँ संसारमें ऐसी बदलें

चलती हैं कि जो 5 मिनट पहले राजा है वह मरकर कीड़ा मकौड़ा, कुत्ता, गधा, सूकर जैसी खोटी पर्यायको धारण कर सकता है। अथवा जो अभी सूकर गधा आदि है वह भी मरकर क्षण भरमें ही देव हो जाय। देवों में वैक्रियक शरीर अनेक सुविधायें हैं ये सब बातें जग जाये? तो जहाँ इतनी बदलें चलती हैं वहाँ किस बातका घमंड किया जाय? कुलका घमंड, यह भी ऐसा एक भीतरी विभाव है कि ऐसा आशय हो जाता है––मेरा कुल, मेरी जाति बहुत उत्तम है। बड़ा हूँ, यह छोटा यह है व्यर्थ कल्पना। अरे यह कुल क्या सदा रहनेका है? यह शरीरके साथ कुल है। शरीर गया कुल गया। पता नहीं आगे क्या मिलेगा? यह कोई घमंड करने लायक बात नहीं है। जातिकाबल–मेरी माता बड़े ऊँचे घरानेको है, मेरा मामा बहुत धनिक है, इस प्रकार का भी लोगों के घमंड रहता। अरे यह कोई घमंड किए जाने लायक बात नहीं। शरीरमें बल मिला, ताकत मिली कुछ को तो उसका ही घमंड होता है। मैं बहुत बलशाली हूं। अभी देखो जिस बच्चेमें कुछ ताकत होती है वह अपनेसे कमजोर बच्चोंको कैसा सताता रहता है? वह किसी के वश नहीं होता। वह अपने बलका बड़ा साम्राज्य समझता है। तो यह बलका भी घमंड बड़ी दुर्वासना है। किसी को ऋद्धि मिली, यश मिला तो उसका भी घमंड उत्पन्न होता। ध्यान हो, व्रत हो, संयम हो उसका भी घमंड, शरीर सुन्दर हो उसका भी बड़ा मान। अब शरीर क्या सुन्दर है? अरे भीतरमें खून मांस मज्जा, हड्डी आदिक सारी पवित्र चीजें भरी हैं, ऊपरसे एक पतला चाम चढ़ा है। अब यह चाम जिस चाहे रंगका हो गया तो उसमें गर्व किस बातका? अरे यह रूप अगर मान लो लोकमें एक महनीव हुआ तो गंध तो दुर्गन्ध हो सकती, स्पर्श भी रूखा रह सकता, और और भी अनेक अपवित्रतायें बसी हुई हैं। और फिर विनाशीक चीज। और एक मांसकी पतली चमड़ी बन गई उसी को मानते सुन्दरता। तो जगत में कुछ भी चीज ऐसी नहीं है जो अभिमान किए जाने योग्य हो। लेकिन जीव जब मान रखता है तो सब जीवोंसे अपने को महान समझता है, ऐसा मान रखने वाला पुरुष बेईमान है।

लोभ और रोषमें जीवका अहित और अहित से हटने के प्रयास में भलाई––जब–जब इस जीवको लोभ का रंग सताता है उतने क्षण उस पर ऐसी विपत्ति दिखती है कि जैसे कोई विष खा ले और विह्वल हो जाय और उस पर जैसे आपत्ति दिखती है ऐसे ही लोभ तृष्णाके रंगमें जगत के जीवों पर विपत्ति छायी हुई है। जहाँ ऐसा कुध्यान बनता है, कषायोंकी बाधायें बनती हैं वहाँ इस जीव को कल्याण का मार्ग कैसे मिल सकता है? ये कषायें ये दुर्ध्यान ये सब इस जीवको बरबाद करने वाली चीज हैं। इष्ट मिला, राग किया। अनिष्ट मिला, द्वेष किया बस रागद्वेष इतना ही धंधा होता रहा है संसारी जीवोंका। यह सब टोटेका धंधा है। राग करते जावो, बढ़ाते जावो, सम्पदा होती जाय, आखिर किसी न किसी दिन तो छूटेगी ही और दुर्ध्यान से मरण होगा। और सम्पदाका त्याग कर दीजिए तो मरण समयमें शान्ति समता होगी। जिस जीवको सुबुद्धि आती है उसके तो होता है प्रिय त्याग और जिसमें दुर्ध्यान आता है उसको प्रिय होता है लोभ। जोड़ते जावो, यही प्रिय रहता है। जिसका होनहार खोटा है उसे धनका जोड़ना प्रिय लगता है और जिसका होनहार भला है उसको त्याग प्रिय है। अरे यह सम्पदा कभी न कभी तो छूटेगी ही। जरा अपना कुछ सही ज्ञान बनाकर अपने मनसे छोड़ दें कुछ तो। जो कुछ–कुछ छोड़ते रहते, त्याग करते रहते, यह जिसकी आदत बनती है उसको मरते समय फिर क्लेश नहीं होता है। स्वामी कार्तिकेयने बताया है कि तीन बातें होती हैं––दान, भोग और नाश। जो पुरुष ऐसा कृपण है कि दान भी नहीं दे सकता और अपने भोगने में भी नहीं खर्च कर सकता उसको मरण समयमें बड़ा संक्लेश होता है, क्योंकि वह सोचता है कि हाय मेरा यह सब धन यों ही छूटा जा रहा है। वहाँ दुर्ध्यान होता है और कोई पुरुष ऐसा हो कि जिसने जीवनमें दान भी

किया हो, लेकिन अपने खाने–पाने शौक आदिमें खूब खर्च किया हो तो बताते हैं कि उस कंजूससे तो भला है, जो न दान कर सकता, न भोग सकता, ऐसा जो दोनों ओर से कंजूस ह। उसको तो मरण समयमें बहुत वेदना होती है। वह सोचता है कि हाय यह सब यों ही छूटा जा रहा है और जिसने दान तो नहीं किया, किन्तु भोगमें लाया वह कमसे कम इतनी बात तो संतोष में रखता है कि मैंने खूब भोगा, खूब खर्च किया। आखिर हैं दोनों ही गल्तीपर, क्योंकि भोग भी लोभ ही है, मगर अपेक्षाकृत बात कह रहे हैं। तो लोभकषाय पाप है, पापका जनक है। जितने क्षण लोभ रहता है उतने क्षण जीवको विडम्बना रहती है और क्रोध में तो सारे ही गुण भस्म हो जाते हैं। क्रोधसे महान संकट आते हैं। जिस क्षण क्रोध आता है उस क्षण यह क्रोध अपने अन्तरको जला देता है, चैन नहीं पड़ती। तो ये कषायें, विषयोंका ध्यान इस जीनके लिए अहितकारी है। इनसे हटकर अपने आत्माके ध्यानमें लगें, यही कल्याणका सही पथ है।

(29)

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता न कभी हुआ, न है, न कभी हो सकेगा, विकार निमित्तसान्निध्य बिना न कभी हुआ, न है, न कभी हो सकेगा। इन दोनों तथ्योंके परिचयसे परमात्मतत्त्व की कृपा जगती है।

दृश्यों में मूल अदृश्य देखनेका उपक्रम––जो आत्मकल्याण चाहता है, जिसको संसार के समागमोंसे, सुखोंसे ऊब हो गई है, जिसको जन्ममरणका चक्र महान् संकट दिख रहा है जन्ममरणसे छुटकारा पानेकी ही उमंग बनी रहती है, ऐसा पुरुष कहाँ दृष्टि लगाता है, उसको कहाँ दृष्टि देनी चाहिए और इस जगतमें दिख क्या रहा है, इन सब बातों पर विचार करें तो संक्षेपमें यह कहो कि ज्ञानी दृश्यजगतमें अदृश्य की खोज कर रहा है। जो जगत में दिखता है वह सब दृश्य है, पर इस दृश्यको नहीं देखना चाहता, इस दृश्यमें आस्था नहीं है। इस दृश्य में अदृश्य तत्त्वके प्रति आस्था है। तो अब क्या करता है? दृश्य में अदृश्य की खोज करता है। अच्छा, यदि अदृश्य की खोज करना चाहते हो तो दृश्य का भी सही परिचय जानना होगा और अदृश्यका भी सही परिचय जानना होगा। कोई कहे कि दृश्य के निर्णय से इसका क्या मतलब? हम तो अदृश्य को ही जानते जायेंगे सो बात न बनेगी। कोई कहे कि अदृश्यको जानने से क्या फायदा है जो दिख रहा है उसे ही जानते रहें, तो येां भी काम न बनेगा। दृश्य का सही निर्णय करें और अदृश्य का अन्तः परिचय करें और दृश्य में अदृश्य की ओर बढ़ें। इसका एक सामान्य तरीके से अर्थ क्या हुआ? जो दृश्य है वह क्या है? वह सब विकार है, वियाम, परिस्थितयाँ हैं। वहाँ भी देखना चाहिये शाश्वत तथ्य वह क्या है? एक मौलिक आधारभूत शाश्वत सहजभाव। और संक्षेप में कहना है तो कहिये पर्यायमें स्वभावको निरखना है तो देखो पर्यायका भी सही बोध करें और सहज भावका भी सही बोध करें।

पर्यायनिर्माणकी विधिका निर्णय––अच्छा पर्यायोंका सही बोध करें। जो कुछ यहाँ बीत रहा है आकार और भावरूप, द्रव्यपर्याय और भावपर्याय वह सब बन कैसे रहा है? तो इसके निर्णयके लिये दो दृष्टियां जगेंगी। एक तो वस्तुस्वातंत्र्य की दृष्टि, एक निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टि। स्वातंत्र्य तो बताता है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का कर्ता नहीं, कभी न हुआ, न है, न होगा, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपना–अपना स्वरूप लिए है और निमित्तनैमित्तिक भाव यह कहता है कि कोईसा भी विकारपरिणमन निमित्त संग पाये बिना न हुआ, न है, न होगा। दोनोंके अपने विषय ही अलग हैं। दोनों ही एक साथ रहते हैं और दोनोंके हुए बिना विकार बनता नहीं। जैसे वस्तुस्वातंत्र्य का एकान्त करके कोई कहे कि भाई मुझमें जब विकार होता है तब विकारका नंबर आता है। अपने सिलसिले

में विकार होते चले जाते हैं। ऐसा एकान्त तो विद्वानों की गोष्ठी में न चलेगा, क्योंकि विद्वानों की गोष्ठीमें तो युक्तिसाध्य बात हुआ करती है। युक्तिसे सिद्ध करो, क्या मुझमें विकार मात्र मेरी योग्यता से होते जाते हैं? जब जो होना है सो होता है, इतनी बात करते हैं, तब तो व्यवस्था न बनेगी। क्रोधके बाद मान क्यों आया? मानके बाद लोभ क्यों आया? हमको क्यों आया? साधुको क्यों नहीं आता? और भी अनेक प्रश्न होते हैं। वहाँ कोई समाधान दे कि भाई जिसमें जैसी योग्यता है सो होता है। तो भाई उनमें यह योग्यता क्यों नहीं बन गई? सिद्धोंमें योग्यता क्यों नहीं हुई? प्रश्न पर प्रश्न चलते जायेंगे। आखिर मानना पड़ेगा कि जो विषम पर्याय होती, जो विकारपरिणमन होता वह परसंगका निमित्त पाकर ही होता है, परसंग बिना नहीं होता। जिसको समयसारमें भलीभाँति स्फटिक मणिका, रागादिक परिणमन दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है। कोई दूसरी बात का एकान्त करे कि भाई कर्मोदय जीवमें राग पैदा करते, जीव विचारा क्या करे? जब कर्मकी मर्जी आती तब राग करता मर्जी न आयेगी तो राग नहीं करता। इसमें जीवका क्या वश है? सारा निमित्तका ही साम्राज्य है। देखो इसमें भी बाधा है। निमित्त राग करता है तो निमित्त अपना भी काम करता और जो राग किया वह किसका? जीवका। तो उसका भी काम किया। तो एक पदार्थ दो का परिणाम करने लगे तो अव्यवस्था बन जायगी। खुद कुछ न रहे, खुद का परिणमन न रहे तो खुदपर प्रभाव क्यों? खुदकी बात क्यों रहे? सो भैया! दोनों ही तथ्य हैं? कोई पदार्थ किसी अन्यका न कर्ता है, न होगा यह भी तथ्य है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने–अपने प्रदेशोंमें ही अविभक्त है और दूसरा भी तथ्य है कि जो भी विकारपरिणमन होता है। वह अन्य पदार्थोंका संग पाकर होता है। स्वयं अपने आप अपने अकेलेमें खुद ही निमित्त बनकर कोई विकार नहीं करता।

निमित्त व आश्रयभूत तथा उनका स्थान––अब परखिये कुछ थोड़ा भ्रम ऐसा क्यों हो जाता है कि जब जीवनिमित्तपर लक्ष्य दे तो राग होता, निमित्त पाकर राग नहीं होता, किन्तु यह किसी निमित्तपर लक्ष्य दें, उपयोग दे तो राग होता है। निमित्तकी क्या बात आयी? यह तो खुद राग करता चला जा रहा है और यही निमित्तपर लक्ष्य देता चला जा रहा है। यह बात सब जगह घटाओ कि जो मनमें आता है उसके भ्रमका कारण क्या है भ्रमका कारण यही है कि निमित्तकानाम जीवविकारके प्रसंग में दो प्रकार के पदार्थों पर पड़ता है––नोकर्मपर भी और कर्मपर भी। नोकर्मको भी निमित्त शब्द से कहते हैं और कर्मको भी निमित्त शब्द से कहते हैं। जिसको और सीधे अर्थ से समझे तो आश्रयभूत पदार्थ और कर्मविपाक, तो इनमें से जो आश्रयभूत पदार्थ हैं, नोकर्म उनमें यह बात है कि उनमें उपयोग जोड़ें, उन निमित्तों का लक्ष्य करें तो जीव राग करता है। जीनके राग करने की पद्धति यह ही चली आ रही है कि निमित्तपर लक्ष्य करता हुआ राग कर रहा है। तो यहाँ तो यह बात सत्य है कि वह निमित्त क्या निमित्त है, इसमें निमित्त ही नहीं है। वह तो जीवने उन बाह्य पदार्थों पर लक्ष्य दिया और राग करने लगा। उनके निमित्तकी बात ही क्या रही? यह बात तो सत्य है कि यह पर केवल आश्रयभूत है, पर दूसरा जो कर्मविपाकरूप निमित्त है वह तो वास्तविक निमित्त है, ज्ञान ही नहीं जीवोंको। जो एकेन्द्रिय आदिक जीव क्या कर्मविपाकको जानते हैं? मनुष्यों में भी कौन जानता कर्मविपाकको? कुछ ने सीख लिया, आगममें बताया है, बात करते हैं, पर कर्मविपाकको जानने की बात परमावधि ज्ञानी, सर्वावधि ज्ञानी और केवलज्ञानी, इनके ही सम्भव है। तो जिसका ज्ञान नहीं, जो अज्ञज्ञत है उसका कोई लक्ष्य कर सकता क्या? उसमें कोई उपयोग जोड़ सकता क्या? अरे उसका तो इस विकारके साथ सम्बन्ध ऐसा है जैसे कि दो अजीव पदार्थोंमें सम्बन्ध रहता है। सो यह नोकर्म, एक अधिक है जो जीव विकारके प्रसंग में अलग निमित्त रूपसे कहा गया है। तो अब यहाँ यह

विचार करें कि कर्मविषाकका सन्निधान पाकर जीवमें विकार हुआ, उस समय यदि जीवने इन बाह्य पदार्थोंमें उपयोग न जोड़ा तब तो रहेगा वह अव्यक्त विकार अथवा कहो अबुद्धिपूर्वक विकार और यदि इन नोकर्मों में विकार जुड़ता है तो वह कहलाता है। व्यक्त विकार बुद्धिपूर्वक विकार।

शास्त्रों के वर्णन का प्रयोजन स्वभाव के दर्शनकी प्रेरणा––अध्यात्मशास्त्रमें जो चर्चा चलती है वह स्थूल चर्चा होती है याने बुद्धिपूर्वक आस्रवका अभाव, बुद्धिपूर्वक बंधका अभाव आदि इसका ही चर्चा रहती है, पर जो समय–समय पर गुजरता है, जो अबुद्धिपूर्वक है, जो अव्यक्त विकार है उसकी चर्चा होती है करणानुयोगमें। ये तो सब कम चले, बुद्धिपूर्वक बने, ज्ञानमें तत्त्व आया। जो कुछ वर्णन होता है वह बुद्धिपूर्वक होता है। ऐसे सब वर्णनों का भी प्रयोजन अभी जानेंगे कि सबका प्रयोजन है स्वभाव का दर्शन। स्वभाव दर्शन होना चाहिए। मेरा जो निज शाश्वत स्वभाव है उसकी दृष्टि बने, बस यह ही है आत्मकल्याणका प्रयोजन। जो प्रयोजन पर रहेगा उसका कहीं विवाद न जंचेगा और जिसको प्रयोजन है ही नहीं चित्तमें तो वह अनेक विडम्बनायें कर लेता है। तो हाँ देखते जाइये––वस्तुस्वातंत्र्यने बताया कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपना अपना स्वरूप लिए हुए है। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कर्ता नहीं होता, न है, न होगा। यह एक ध्रुव सत्य है। तीनों कालों में ऐसी ही बात रहती है। एक तो यह है तथ्य की बात और दूसरी बात यह आयी कि कर्मविपाकका सन्निधान पाये बिना जीवविकार नहीं होता, अब यहाँ दोनों तथ्यामें प्रयोजनकी बात निरखियेगा। पहले तथ्यमें जब यह जाना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं, उससे परखा क्या गया? कुछ भी सम्बन्ध नहीं। सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं, किसी का किसी पर कुछ प्रभाव नहीं, किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं। इस निश्चयमें उपयोगने केवल एक अद्वैत पदार्थ को देखा और उसमें भी बढ़ तो अद्वैत खण्ड आत्मतत्त्वको देखा। सो यह उपाय स्वभावके दर्शनका स्पष्ट मिल ही गया। अब दूसरे तथ्यकी बात देखिये––जहाँ यह पहिचान किया कि जीव तो केवल सहज स्वच्छ ज्ञानमात्र है, जीवमें विकारका क्या काम? कोई पदार्थ अपने विकारको करने वाला स्वभाव नहीं रखता। स्वरूप विकार उत्पन्न नहीं करता। जीव अपने आपमें अपने आप ही विकार करता। स्वरूप विकार उत्पन्न कर दे, ऐसा स्वरूप किसी भी पदार्थ का नहीं होता। हुआ क्या फिर यहाँ? यह आत्मा अपने में स्वच्छ चैतन्यमात्र है, याने स्वरूपकी निजकी बात कही जा रही है, घटना क्या घट रही है इसकों अभी बतावेंगे। अभी तो निज स्हजस्वरूपकी बात कही जा रही है। है यह चेतन अपने आपमें एक शुद्ध चेतनारूप, अर्थात् किसी भी पदार्थमें किसी दूसरे पदार्थका प्रवेश नहीं है, याने किसी के स्वरूप में किसी दूसरे का स्वरूप नहीं लगा रहता है। अन्यथा उनकी सत्ता ही नहीं रह सकती है। इस निगाहसे जब आत्माको देखें तो आत्मा तो स्वयं एक अपनी ज्ञानचेतना स्वरूप है। अच्छा और जो विकार आया सो। अरे ये विकार मेरे स्वरूप नहीं, मेरी चीज नहीं, मेरा काम नहीं, यह तो कर्मविपाक की छाया माया है। अब देखो निमित्तनैमित्तिक भावनिमित्तनैमित्तिक भाव कभी यह नहीं बताता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता है।

डपचार की असत्यता और उपचारमें तथ्यकी खोज––एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता है––यह भाषा उपचार की है और उपचार जिस भाषामें बोले उस भाषामें वैसा मानना यह ही है बात ठीक यों जानें तो यह मिथ्या है। पर उपचारका कोई तथ्य समझे कि ऐसा कहने का आखिर प्रयोजन क्या? अटपट उपचार क्यों नहीं दुनिया करती? किन्तु एक ही किस्म से लोग बोला करते हैं। जैसे कहते हैं ना––मंदिर की धोती ले आवो, घी का घड़ा ले आवो, टट्टी का लोटा ले आवो क्या क्या नहीं बोलते उपचार भाषामें? अच्छा कभी कोई अटपट

भीबोलता क्या? 10 पुजारी आयेंगे तो सब कहेंगे कि मंदिरकी धोती लावो। अरे तो क्या मंदिर की धोती होती है? होती तो नहीं। तो जिस भाषामें बोला उसमें तो सत्यता नहीं दिखती, मगर उसमें कुछ तथ्य न हो, प्रयोजन न हो तो सब लोग एक समान ही क्यों बोल रहे हैं? फिर तो पागल की तरह कोई कहे कि लकड़ी की धोती ले आवो, कोई कहे हि पेड़की धोती ले आवो। यों अटपट तो कोई नहीं बोलता। सभी ऐसा ही बोलते हैं कि मंदिरकी धोती ले आवो क्योंकि अभी मंदिर में पूजा करता है। तो प्रयोजन रहा ना सबका एक। प्रयोजन देखो तो उस दृष्टि को बताया है खुद समयसारमें कि वह ईषत् प्रयोजनवान है। तो बात निर्णय में रखें। जिसको आत्महित की कामना है वह सब जगह से स्वभावदर्शनकी शिक्षा ले लेगा और उसका अर्थ भावार्थ पद्धति नीति सब तरह से निश्चित कर लेगा कि जिससे स्वभाव का दर्शन करने की पात्रता होती है। हाँ बात क्या कही जा रही है दूसरे तथ्यकी कि विकारभाव परनिमित्त संग बिना नहीं होता। उससे हमको दीखा क्या कि ये विकार मेरे स्वरूप नहीं हैं, मेरे स्वयंसे उठे हुए, स्वभावसे उठे हुए भाव नहीं हैं, किन्तु पूर्वबद्ध कर्म का विपाक हुआ और उस विपाकमें स्वयं रागद्वेष की मलीमसताका अनुभाग है। सो वहाँ यह भाव बना कर्ममें कर्मका। अब उसका हुआ प्रतिफलन उपयोग और उपयोग में इस प्रकार मलीमसता बनी और उसे मान लिया जीवने अपना स्वरूप तो यों संसरण चलने लगा। निमित्तनैमित्तिक भावकी विविक्तता बहुत बड़ी पुष्टताको बताया है। मैं इन विभावों से निराला हूँ, ये नैमित्तक हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, इस तरह से वह परखता है कि रागादिक भाव मेरे स्वरूप नहीं। मैं तो एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं।

मुक्तिका प्रयोजन होनेपर विवादका समापन––भाई बात यह समझना कि अपना प्रयोजन है स्वभाव की दृष्टि। अगर प्रयोजन रहेगा तो विवाद न उठेंगे। अभी यहीं देख लो कि जो पुरुष अपना कोई प्रयोजन निर्धारित कर लेता है तो उस प्रयोजन की साधना की धुनमें बहुत सी बातोंकी उपेक्षा कर जाता है। इसका क्या मतलब? हम तो इस रास्तेसे चलेंगे। इसमें हमको लाभ है। लौकिक बातोंमें भी आप यह समझेंगे कि प्रयोजन निश्चित कर लेने पर प्रयोजन से बाहरकी जो बात है उनमें यह अपना दिल नहीं लगाता। तो यहाँ भी प्रयोजन एक ही बनावें कि मुझे यहाँ किसी भी परवस्तुका विश्वास नहीं। किसी में मुझे लगाव नहीं रखना। मेरेको तो समस्त बाह्य पदार्थों से विविक्त होना है, मुक्ति पाना है। यों सीधा बोलो––हमको तो सिद्ध भगवान बनना है। एक बात निश्चय में आये। शब्दों से जानें, स्वभावसे जानिये––मुझमें तो केवल एक अन्वय आत्मतत्त्व रहे वह उपाय बनाना है। सो यह बात चित्तमें आ जाय तो वह जैन सिद्धान्त के सब कथनों में अपने स्वभाव दर्शनकी युक्तिको पा लेगा और जिसे किसी प्रकारकी कषायका आग्रह है वह आग्रह में डोलेगा, स्वभावके दर्शन का पात्र न बन सकेगा। तो यहाँ दो तथ्य कहे जा रहे हैं। पहला तथ्य एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है, न हुआ न होगा। इसमें मिली हमको एक वस्तुके विविक्तपनेकी दृष्टि। सभी पदार्थ मुझसे निराले हैं, मैं भी समस्त पदार्थों से निराला हूं। मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को कोई दूसरा नहीं करता, किसी अन्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको मैं नहीं कर सकता, सब की अपने आपमें अपनी फैक्ट्री चल रही है, अपना उत्पाद व्यय चल रहा है। यह एक तथ्य है। दूसरा तथ्य यह है कि स्वभाव परिणमन तो बराबर स्वप्रत्ययक होता है, उसमें पर–प्रसंग की आवश्यकता नहीं होती, मगर जितने भी विषम कार्य हैं चूँकि वे विषम है, अतएव नैमित्तिक हैं।

विकारपरिणामों के नैमित्तिकत्वकी अनुमान प्रमाण से सिद्धि–एक यहाँ अनुमान बना लें कि विकार भाव नैमित्तिक हैं, क्योंकि विषम होनेसे। जो जो विषम होते हैं वे नैमित्तिक होते हैं, जो नैमित्तिक नहीं होता वह विषम भी नहीं होता। आप अनुमान प्रमाणके समस्त

अंगों को घटा लीजिए–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, अन्वय व्याप्ति, व्यतिरेक व्यप्ति, अन्वयदृष्टान्त, व्यतिरेक दृष्टान्त आदि। दार्शनिक शास्त्रकी युक्ति, दृष्टि, सभी तथ्यों से घटा लीजिए। वह कैसे? जैसे लौकिक दृष्टान्तमें लोग कहते हैं कि इस पर्वत में अग्नि है धुवां होनेसे। अग्नि तो दिख नहीं रही थी, धुवां दिख रहा था। तो पुरुष कहता है ि कइस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे। अब युक्तियों के सारे अंग बना लो। जहाँ–जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है–अन्वय व्याप्ति, जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता–व्यतिरेक व्याप्ति, जहाँ धूम होता वहाँ अग्नि होती, जैसे रसोईघर––अन्वय दृष्टान्त। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवां नहीं होता, जैसे तालाब––व्यतिरेक दृष्टान्त और धुवां है––उपनय, अतः यहाँ अग्नि होनी चाहिए निगमन। जैसे लोक प्रमाणमें अनुमान प्रमाणमें सब युक्तियाँ घटित हो तो वह निश्चित प्रमाण। ऐसे ही विकारमें घटा लीजिए, विकार तो है कभी ज्यादा हो गया, कभी कम हो गया, कभी कुछ हो गया कभी कुछ। तो जो विषम कार्य है, जिसका आदि अन्त है, विषमता है जिसमें, वह कार्य नैमित्तिक होता है, निमित्त संग पाये बिना नहीं होता है। यह दूसरा तथ्य है।

नैमित्तिकताके तथ्यके परिचय से स्वभावके दर्शनकी विधिका विवरण––नैमित्तिकता के तथ्य में स्वभाव का दर्शन कैसे मिलेगा? अरे विकार नैमित्तिक है, परभाव है, औपाधिक है, मेरा नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे स्वभावकी निधि नहीं है। इसमें क्यों लगाव करूँ? मेरा स्वभाव तो चैतन्यमात्र है, जो अनन्त अहेतुक है वह मेरा स्वरूप है। स्वरूपदृष्टि की ओर गया यह जीव। हाँ तो इन दोनों तथ्यके परिचयसे सहजपरमात्मतत्त्वकी कृपा जगती है। स्वभावका अभ्युदय होना, दर्शन होना, परिचय होना यही है हमारे सहज परमात्मतत्त्वकी कृपा। तो भाई जैसे अंधे से पूछो कि तुम्हें क्या चाहिए? तो वह कहता है कि मुझे दो नयन चाहिएँ। भूखे से पूछो कि तुम्हें क्या चाहिए? तो वह कहता है कि दो रोटी चाहिएँ। आत्मकल्याणार्थी से पूछो कि तुम्हें क्या चाहिए? तो वह कहेगा कि मुझे स्वभावदर्शन चाहिए। सहजस्वभावरूपमें निजको मेरे आत्माका परिचय रहे और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहें इसके सिवाय और कुछ न चाहिए। तो यही बात आगमके सभी वचनों से प्राप्त कर सकते हैं। एक मोह छोड़कर, कषाय छोड़कर, एक आत्महित की धुन बन जाय, बस मेरे को तो यही चाहिए तो उसे आगमके वचनोंमें स्वभाव के दर्शन की शिक्षा मिलती है।

(30)

कोई भी जीव हमारा विरोधी नहीं है, हम सबका स्वरूप एक समान है, अपनी शान्तिके अर्थ ही ऐसा करता जिसकी चेष्टा हमें प्रतिकूल जंचती वह उस प्रतिकूल चेष्टावान कर्माक्रात परमात्मस्वरूपका भी कल्याण हो।

कल्याणके कदमों में प्रथम कदम सकल प्राणियों में स्वरूपकी समता का दर्शन––अपने समयको शान्तिमें गुजारने के लिए सर्वप्रथम यह दर्शन आवश्यक है कि सर्व जीवोंमें हमको समान शुद्ध चैतन्यस्वरूपका दर्शन हो। जिस प्राणी को देखा उस ही प्राणीमें मौलिक सहज तत्त्व का दर्शन हो। और जो कुछ गुजर रहा है। परिणमन, जो कुछ पर्यायें दिख रही हैं ये सब नैमित्तिक औपाधिक एक परिस्थितियाँ ही नजर आयें और भीतरका जो अन्तप्रकाशमान स्वरूप है, स्वभाव है वह दृष्टि में रहे। कल्याण में प्रवेश करने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है। भले ही कषायके उदय होते हैं, पूर्वबद्ध कर्म का अनुभाग खिलता है, उपयोग दूषित होता है, सारी परिस्थितियाँ सिरपर आती हैं, तिसपर भी भीतरमें प्रतीति यह होनी चाहिए कि संसार के सब प्राणी एक समान स्वरूप वाले हैं।

समस्वरूप जीवोंमें विरोधित्वके दर्शनका अनवकाश––जब सर्व जीवों का स्वरूप एक चैतन्यमात्र है। तो अब उस स्वरूपकी ओर से देखें कि संसार के क्या कोई प्राणी मेरे

विरोधी हो सकते हैं? स्वरूपदर्शन करते हुए परखो। जगतमें कोई भी जीव मूलतः मेरा विरोधी नहीं है। द्रव्यस्वरूपकी ओर से निगाह करें तो न कोई मेरा विरोधी है, न कोई मेरा समर्थक है। प्रत्येक पदार्थ है और अपने–अपने सत्त्वके लाभ के लिए है। उनमें उत्पाद व्यय होता रहे यही उनके सत्त्वका निरन्तर लाभ है। कोई असत् न था, नया सत्त्व नहीं मिल रहा, मगर सत्त्व ही रहता है जब प्रतिसमय उत्पादव्यय होता रहे। तो प्रत्येक जीव एक अखण्ड ज्ञानस्वरूप है। सभी अपने–अपने स्वरूप को लिए हुए हैं और अपने उस स्वरूपका ही परिणमन करते हैं, पर विकट बात बन क्या जाती है कि अनादिसे अज्ञानवश हम आप शरीर और कर्म–इन दो के विराव में पड़े हुए हैं। सो कर्म जो पहले बाँधे हुए हैं उन कर्मोंका उदय उदीरणाके काल में अनुभाग खिलता है। उन कर्मवर्गणावोंमें जान नहीं है नही तो जैसे हम आप विह्वल होते हैं उससे अधिक दुर्गति होती कर्मकी। कर्म अचेतन है। अनुभाग खिलते हैं कर्ममें, उस समय जो कुछ अनुभाग का आत्मामें, उपयोगमें प्रतिफलन हुआ, छाया प्रतिबिम्ब हुआ और उससे उपयोग जो अबुद्धिपूर्वक दूषित हुआ वहाँ ज्ञान है जीवको, सो बाहरी पदार्थमें उपयोग जोड़कर उसकी विडम्बना विकार व्यक्त बना लेती है। तो हो क्या रहा है? इस ज्ञाननेतो अज्ञानरूप परिणमन किया वह ज्ञानपरिणमन ज्ञानकी ही स्थिति है। ज्ञान ही इस प्रकार के विकल्प रूप परिणम गया। और वहाँ उस दोषको, उस प्रतिफलनको अपने रूप परिणमा लिया तो बस यह जीव विह्वल बन गया। बात इस समय खुदकी खुदमें कही जा रही है। इस जीवने क्या किया? अपने उपयोगमें जो कर्म अनुभाग का प्रतिफलन हुआ उसको अपना डाला। इतना ही काम यह जीव कर रहा है। इससे आगे जीव और कुछ काम नहीं करता। यह लोगों का भ्रम है, ज्ञानकी विडम्बना है जो बहुत बाते चित्तमें आतीं कि इसने यह विरोध कर डाला, मकान बना डाला, मिटा डाला, और–और बहुतसे काम कर दिये।

जीवका अज्ञानावस्थामें कर्तृत्व व ज्ञानावस्थामें अकर्तृत्व––भिन्न पदार्थोके बारेमें कर्म करनेका जो ख्याल बनता है यह जीवका भ्रम है। जीवने तो यहाँ इतना भर किया कि इस उपयोग में जो कर्म अनुभागका प्रतिफलन आया, उसमें सम्पर्क पाया, उसको अपनाया, उसमें जुड़ गया और उसमें अभेद अनुभव करने लगा और अपने आपकी सुध भूल गया। अज्ञानी जीव यह कर रहा है मूलमें। अज्ञानी भी किसी बाह्य पदार्थको करनेमें समर्थ नहीं है, किन्तु अपने ज्ञानको अज्ञानरूप परिणमाये, यह ही कहलाता है जीवका कर्तृत्व। सो जीव करता है अज्ञान अवस्था में, सो भी बाह्य पदार्थका नहीं, किन्तु अपने अज्ञान परिणामका कर्ता है और उसमें बाह्य पदार्थके कर्तृत्व का विकल्प होता है, इसक कारण अज्ञानी को कर्ता कहा है। जब इस जीवको अपने स्वरूपमें और कर्म अनुभाग में भेदविज्ञान हो जाता तब यह जीव अपने ज्ञानको ज्ञानरूपसे परिणमाने का पौरुष करता है तब यह जीव ज्ञानी है। तो देखो जीव करता क्या है? अपने आपमें अपनी ही बात को यह कर रहा है। ऐसी ही सब जीवों की बात है। जब सब जीव केवल अपने आपके आत्मामें अपने आपके व्यापारको ही करते हैं तो दूसरा मेरा क्या कर सकता है? वह अपनेमें अपना परिणमन बनाकर अपनी पर्यायको पूर्ण करता है, अगली पर्यायको प्रारम्भ करता। यही तो कर रहे हैं सब जीव।

प्रतिकूल चेष्टाका प्रयोजन विरोध न होकर अपने सुखकी आशाका आधार––जब सब जीवोंका निज प्रदेशमें ही उपयोग का कर्तृत्व है तब फिर कोई जीव मेरेपर क्या करता है? कोई जीव मेरा विरोधी नहीं है, कोई मेरा विरोध नहीं करता। यदि कोई प्रतिकूल चेष्टा कर रहा हो तो हम ही तो समझते हैं कि मेरे प्रतिकूल कुछ चेष्टा कर रहा, वह तो अपनी शान्तिके लिए, अपने सुख के लाभ के लिए जो उसकी बुद्धिमें आया, विकल्प में आया

उसकी ही तो चेष्टा करता है कि मेरेमें वह कुछ कर सकता। यदि इस दृष्टिसे देखें तो कोई भी जीव किसी का विरोधी नहीं है। यदि गजकुमार मुनिके सिरपर उनके स्वसुरने आग की अंगीठी जला दी, तो इतना उपसर्ग होनेपर भी स्वसुर का जीव गजकुमार से विरोध न कर सका। किन्तु वह तो अपने में अपना विकल्प बना सका। सो गजकुमार को दंड देने के लिए नहीं, किन्तु अपने को शान्ति पाने की आशासे किया। अब कोई शान्त हो सके अथवा न हो सके, मगर जगतके जीव जो चेष्टा करते हैं वे अपनी सुख शान्तिके अर्थ चेष्टा करते हैं, दूसरे के लिए कोई कुछ चेष्टा नहीं करता। तब स्पष्ट विदित होता है कि कोई जीव मेरा विरोधी नहीं है। अगर मैं किसी को विरोधी समझता हूं तो वह मेरा अज्ञान है और वह मेरे विघातके लिए है। जब कोई मेरा विरोधी हो ही नहीं सकता तो मैं भी ऐसा सच्चा ज्ञान रखूं कि जगत में कोई जीव मेरा विरोधी नहीं।

अन्यको विरोधी माननेके भ्रमका माध्यम विषयसाधनोंमें बाधा––अच्छा फिर लोक में विरोधकी बात क्यों चित्तमें आती है? उसका कारण यह है कि सभी जीव विषयकषायों से भरे हुए हैं। सबको अपने विषयोंके साधनोंमें सुख दिख रहा है। अच्छा स्पर्श मिले जो अपने को सुहावना हो, कोमल कठोर, ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना, जैसा जो कुछ सुहावना लगे तो प्रीति जीवोंके बसी हुई है। जिसको रस जैसा मीठा लगता, जो सुहावना स्वाद लगता उसकी प्रीति है सुगंध स्वरूप, अच्छे शब्द, प्रशंसा इसमें जीवोंके रुचि जगी हुई है। तो जब इन विषय के साधनोंमें बाधा आती है तो जीव कष्ट मानता है ना। अब वह बाधा आती है तो उसमें कोई पुरुषकी चेष्टा निमित्त बनती है। तो जिस पुरुष की चेष्टा निरखकर हमने अपने विषयमें बाधा समझी तो बस वही जीव विरोधी जंचने लगता है। उसने तो विरोध नहीं किया। उसने तो अपनी सुख शान्तिके लिए अपना परिणमन किया, लेकिन दूसरे जीवने अपने विषयसाधनमें बाधा का निमित्त समझकर उसे विरोधी समझ लिया। तो देखो सत्य ज्ञान रहे तो भीतरमें कषायकी अग्निका संताप न रहेगा।

विरोधित्व की मान्यता दूर करनेके दो उपाय––बाह्यमें सर्व जीवोंमें अन्तः तो यह निरखें कि सबमें चैतन्यस्वरूप है, समान है और बाह्य चेष्टा में यह निरखें कि इस जीनके इस प्रकार के कर्म का उदय हुआ है, उस कर्मोदय में उपयोग दूषित हुआ और वहाँ अपनी सुखशान्तिके लिए उसको ऐसी चेष्टा करनेका बुद्धि उपजी, तो इसीका निर्णय सामने रखना चाहिए, पहले तो आन्तरिक यह निर्णय है कि सर्व जीव मूलमें एक समान ज्ञानस्वरूप हैं। सर्वस्वरूप समान है और संसारी जीवोंका ही समान नहीं, किन्तु जितने जीव हैं, मुक्त हैं, भगवान हैं, अन्तरात्मा हैं, बहिरात्मा हैं, एकेन्द्रिय हैं निगोद हैं, सर्व जीवोंका अर्थात् सत्त्वके कारण होने वाला स्वरूप में स्वरूपमें समान है। एक तो निर्णय यह होना है, दसूरा निर्णय यह रहता कि जो लोग जो कुछ चेष्टा करते हैं वे दूसरे का विरोध करके नहीं करते। दूसरेमें तो कोई कुछ करनेमें समर्थ ही नहीं होता। न विरोध कर सकता कोई किसी अन्यका और न दोस्ती ही की सकता है याने न सुख दे सके, न दुःख दे सके। कोई जीव अपने प्रदेशसे बाहर अपनी क्रिया नहीं कर सकता। तो जो भी जो कुछ चेष्टा करते हैं वे अपनी इच्छासे ताड़ित होकर अपनी विषयसाधनाकी रुचि से पीड़ित होकर जैसा उनको जंचा वैसी वे चेष्टा करते हैं। सो ऐसी चेष्टा वाले जीवको देखकर हम उसके अहितकी बात मत विचारें। किन्तु यह भावना बनावें कि इस जीव में ऐसा ज्ञान जगे, ऐसी सद्बुद्धि बने कि यह अपनी अज्ञानता की हठ छोड़ दे और अपने आपमें शान्ति का लाभ ले। यह जीव भी परमात्मस्वरूप है, पर वर्तमान परिस्थितिमें कर्मसे आक्रान्त है, यह मेरा विरोधी नहीं, किन्तु खुद यह दयनीय है।

कर्माक्रान्तता निरखकर हितार्थ चिन्तन––जैसे दर्पणके सामने हाथ कर दिया तो दर्पण में जो हाथ के अनुरूप छाया एकदम छोड़कर आयी, दूरसे देखकर नहीं आयी, किन्तु ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जिस कालमें दर्पण के सामने हाथ हिलाया, यह छाया बनने में देर नहीं लगती। तत्काल छाया प्रतिबिम्ब हो गया तो यह तो प्रकृष्ट दौड़ है। दौड़ में भी समय लगता। मगर यहाँ समयमें अन्तर नहीं पड़ा तो जैसे दर्पण के सामने हाथ आया तो दर्पणमें एक आक्रमण हुआ। साफ दिखता है तो जैसे वहाँ दर्पण में निमित्तभूत पदार्थका आक्रमण कहलाता, प्रदेशसे निकलकर आया कुछ यह बात नहीं है। किन्तु जैसा तात्कालिक निमित्तनैमित्तिक योग है––अनिवारित, उसको देखकर परखिये कि जैसे दर्पण के सामने हाथ आया तो दर्पण का प्रतिबिम्ब रूप हाथका आक्रमण बना, ऐसे ही इस उपयोगमें पूर्वबद्ध कर्म का जब विपाक आया तब यह कर्मविपाक सन्निधानमें हुआ, उस समय तो तुरंत एकदम उपयोग दूषित हो गया। उपयोगमें प्रतिबिम्ब हुआ, प्रतिफलन हुआ तो यह कर्मका आक्रमण कहलाया। हम आप लोगोंपर भव–भवके बाँधे हुए कर्मके आक्रमण चल रहे हैं कि उस ओर तो कुछ ख्याल नहीं करते और बाहरमें जगतके जीवोंको यह मेरा प्यारा, यह मेरा अनिष्ट यह मेरा मित्र, इस तरहके विकल्प बनाकर अपने आपके उपयोगको मथे जा रहे हैं। किसी भी जीवको विरोधी मान लें, शत्रु मान लें तो इसका असर उसपर कुछ होता है क्या? वह तो जो है सो ही है, पर जो विरोधी की मान्यता रखता है बुरा तो उसका ही उपयोग हो जाता है। कोई शिकारी शस्त्र लेकर किसी जीवका बध करनेके ख्यालसे चला और रास्तेमें उसे मुनिके दर्शन हुए। तो साधुदर्शन करके शिकारी के मन में रोष आता है–आज तो असगुन हुआ है, आज तो शिकार नहीं मिलनेका यह साधु सामने पड़ गया। शिकारी को साधु के प्रति क्या घृणा, विरोध, ईर्ष्या नहीं जगती? जगती, मगर इस दुर्भाव के कारण कुछ मुनिराज पर भी बात बीती क्या? वह तो अपने शुद्ध ज्ञानानन्दरसका ही स्वाद ले रहा है। वहां शिकारी की दुर्भावनाका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तो ऐसे ही समझिये कि जगतके जिन–जिन जीवों पर अपना दुर्भाव बना रहता है उस दुर्भावका फल स्वयंको ही भोगना पड़ता है, कोई दूसरा नहीं भोगने आता।

अपनी विडम्बना बनानेमें खुदका उत्तरदायित्व––भैया! एक मोटी बात हृदय में लो, हम पाप करें तो उसका फल हमको ही भोगना पड़ेगा। भले ही इसके पूर्व पुण्यका उदय है, जो अन्याय करे, पाप करे, फिर भी उसे कोई लौकिक बाधायें नहीं आ रही हैं, ऐसा ही पूर्व पुण्यका उदय है और उस घटना में हम अन्याय करें, पाप करें, अनाचार करें तो जो कर्म काबन्ध होगा वह कर्मका बंध छोड़ेगा नहीं। कर्मबंधसे निवृत्त होनेमें, असमयमें ही कर्मबंध के फल को तोड़ देनेमें महान तपश्चरणकी आवश्यकता होती है। उत्कृष्ट समाधिभाव ही पूर्वबद्ध कर्मकोटालनेमें समर्थ हो सकता है। केवल एक उस अलौकिक स्थितिके अभावमें सारी स्थितियां ऐसी हैं जो पूर्वबद्ध कर्मको टालनेमें समर्थ नहीं हैं। तो हम जो कर्म बांधते हैं, कर्मका संचय होता है, भले ही कोई यह सोचें–हमारे इतना बड़ा ज्ञान है, हमारा इतना बड़ा बल है, इतना बड़ा चला है, ये कर्म मेरा क्या करेंगे? लेकिन कर्मको जब उदयउदीरणा होती है उस समय इस जीवको क्लेशभोगना पड़ता है। भोगता है वह अपने आपके विकल्पको, मगर निमित्तनैमित्तिक भावकी अनिवारिता तो देख लीजिये।

विरोधभावना तजकर स्वपरहित शिवमय आशीष की भावना रखने का परिणाम–भैया! हम कुछ अपनेमें भय रखें, हमसे बुरा काम न बनना चाहिए, क्योंकि मेरा जो बंध होगा वह मुझे ही भोगना पड़ेगा, कोई दूसरान भोगेगा। सो अपने आपपर दया रखते हुए अपने आपकी ऐसी सद्भावनाबनायें कि यह मोक्षमार्ग मेरेको मिले और कभी सदाके लिए इन संसारके र्संकटोंसे छूट जायें। ऐसी एक शुद्धवृत्ति पाने के लिए मेरे में कुछ ज्ञानका व्यापार

करना होता है। उनसबमें पहला नम्बर है इस बातका कि हम जगतके सब जीवों में स्वरूप समान देखें और उसे निरखकर यह निर्णय रखें कि कोई जीव किसी दूसरे का विरोधी नहीं है। कोई मेरा विरोधी नहीं, जो करता है वह कर्मसे आक्रान्तहोकर पायी हुई बुद्धिसे ऐसी–ऐसी चेष्टायें करता है, मेरे विरोधसे नहीं करता। ऐसाजानकर उन विरोधी जनोंके प्रति दयाभाव रखें और उसको एक आशीष देंकि कर्मसे आक्रान्त हुये इस जीवको अपने आपके अन्तः प्रकामानपरमात्मस्वरूपका दर्शन हो और अपने सहज शुद्ध परमात्मतत्त्व का दर्शन करके अपनाकल्याण पावे। उसके प्रतिकल्याणकी भावना बनायें। विरोधी किसी भी जीव को न निरखें तो इसमें हम आपकी सुरक्षा है।

(31)

किसी भी जीनके प्रति विरोधभाव रखनेसे मेरी ही बरबादी है, क्योंकि विरोधभाव पाप है, उससे स्वयंको संक्लेश होता है, अतः किसी के प्रति विरोधभाव न जगे और सभी जीवों में परमात्मस्वरूप दिखे।

विकारपरिणमनसे जीवकी ही बरबादी की सम्भवता––समस्त पदार्थ 6 जातिके हैं–– जीव, पुद्गल, धर्मअधर्म आकाश और काल। इनमेंसे चार द्रव्य तो सदा शुद्ध रहते हैं––धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पदार्थों में न कभी विकारपरिणमन हुआ, न है, न होगा। विकारपरिणमन केवल दो प्रकार के पदार्थोंमें ही सम्भव है––जीव और पुद्गल। सो पुद्गल तो अचेतन है, उसमें कुछ भी विकार हो उससे उसका क्या नुक्सान पड़ता है? कैसा ही परिणम लो, जब दुःख का अनुभव नहीं, जब किसी प्रकार का विकल्प नही ंतो पुद्गलकी कुछ भी परिणति बने उससे पुद्गल को क्या नफा–टोटा है? एक जीव ही द्रव्य ऐसा है कि उसमें विकार हो तो उसका प्रभाव इस पर पड़ता है। सुख हो, दुःख हो, क्षोभ हो, विकल्प ही यों इस पर विकारका प्रभाव होता है। तो जीव के बारे में ही सोचना है, यह जीव दो प्रकार के पदार्थोंको विषय करता हुआ अपने में क्षोभ मचाता है––जीव और पुद्गल। सो न तोवास्तविक पुद्गल को यह जानता है और न वास्तविक आत्मा को जानता है। पर्यायरूप ही पुद्गल में, पर्यायरूपही जीव में यह कुछ आस्था करता, विकल्प करता। तो यहां जीव जीव और पुद्गल के अतिरिक्त निकृष्ट जीव और पुद्गल में अपना उपयोग जोड़कर अपनेको क्षुब्ध बनाये रहता है। अब उपयोग जुड़ने पर दो प्रकार की बुद्धियाँ तो होती हैं––इष्टबुद्धि और अनिष्टबुद्धि, राग और द्वेष। सो राग भी इस जीनके लिये झंझट है और द्वेष भी जीनके लिये झंझट है, क्यों झंझट है कि ये जीवके स्वरूप नहीं हैं, स्वभाव नहीं हैं, पर निमित्त पाकर हुए हैं। सो जैसे यह मैं जीव वस्तुतः न किसी से दोस्ती रख सकता, न किसी से विरोध रख सकता, अपने ही विकल्प में हम इस तरह का भाव बनायें अथवा विरोधका भाव बनायें, ऐसी ही सब जीवों के साथ बात है। कल्पना से वह मित्रता और विरोधका भाव बनाता। तो जब हमारा अन्य किसी पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं, वे मेरे को कुछ करते नहीं, मैं अन्य में कुछ करता नही ंतो ऐसा निर्णय पाकर अपनेको ऐसा स्वच्छ बनावें कि यह सदा भान रहे कि जगत में मेरा कोई जीव विरोधी नहीं है, अविरोध है। कोई मित्र भी नहीं और विरोधी भी नहीं।

विरोधभाव रखने से विरोधभाव रखने वाले की बरबादी––जब जगतमें कोई जीव मेरा विरोधी नहीं, जैसा उक्त निबंध में आया था कि जितने जीव चेष्टा करते हैं। वे अपनी सुख शान्तिके लिए करते हैं वे मेरे विरोधके कारण नहीं करते । विरोध कहाँ मिलेगा? यह सिद्धान्त नहीं, किन्तु इष्ट बुद्धि में राग होना यह उनकी मौलिक बात बन गई मूलमें। सो लोकमें जिनसे बाधा जंयती है उन्हें यह विरोधी समझता है। वस्तुतः इस जीवका कोई जीव विरोधी नहीं है। किसी भी जीनके प्रति विरोध भाव रखना या विरोध की बुद्धि बनाना यह

तो अपनी बरबादी के लिए ही प्रवृत्ति है, दूसरे की क्या बरबादी? धन्यकुमार ही तो था ना, जिसके भाई ने कितना ही कोई मारनेका उपद्रव रचा और उन्हीं घटनाओं उसे धन लाभ हुआ, वैभव लाभ हुआ। श्रीपालको ही तो धवल सेठने समुद्र में गिराया। गिर गया, किसी तरह किनारे आया तो वहाँ आधे राज्यका लाभ हुआ, राजपुत्री के साथ विवाहकी बात हुई। तो धवल सेठने सोचा कि यदि मैं इसे समुद्रमें गिरा दूँगा तो यह मर जायगा, सो समुद्र में पटक दिया, पर हुआ वही जो उसके उदय में था। तो कोई भी जीव किसी का अनिष्ट नहीं करता। कोई जीव मेरा विरोधी नहीं, मुझको किसी जीनके प्रति विरोध भाव न रखना चाहिए। हाँ कोई परिस्थिति है और कुछ बात बनती है तो वह एक घटना है, मगर भीतर में श्रद्धान यही रखना चाहिए कि जीव–जीव तो सब समान हैं, किसी का कोई विरोधी नहीं होता। यह बात सब अपनी दया के लिए कही जा रही है। किसी दूसरे के ऐहसान के लिए धर्म नहीं हुआ करता। धर्मपालन का प्रयोजन है खुद को शान्ति और समता का लाभ होना। धर्म करके जैसे कोई समझता कि मैं महान् हूं, ये लोग हमें पूजें, हमें मानें, हम इनके धर्मका बड़ा काम कर रहे हैं, ऐसी कुछ भी ऐहसान की बात नहीं है। जो धर्म करता है वह एक अपने हितके लिए करता है। हाँ तो किसी जीवके प्रति विरोधभाव रखनेसे बरबादी किसकी है? जिसके प्रति विरोध रखा उसकी या जिसने विरोधभाव बनाया उसकी। जिसने विरोध भाव बनाया उसकी बरबादी है। क्योंकि विरोधीभाव पापभाव है और संक्लेशका करने वाला है। सर्वजीव एक समान स्वरूप वाले हैं, रहा ऊपर का अन्तर सो यह सब कर्मलीला है, यह अन्तर किसी जीनके स्वरूपमें नहीं बसा है, तब फिर मेरा विरोधी कौन? किसके प्रति मुझे विरोध होना चाहिए। विरोधीकी बात यह जगती है कि जब अपनेको कषायमें आग्रह रहता है तो उस कषायके आग्रह के कारण नाना स्थितियाँ बन जाती हैं। यदि दुःखसे मुक्त होना है तो कषायोंका आग्रह छोड़ना पड़ेगा।

जीवके व्यक्त विकारके प्रसंगमें उपयोग सम्बन्धित तीन बातें––कषायभाव, बाह्यभाव, परभाव जैसा अनुभाग खिला वैसा इस उपयोग दर्पण में वैसा ही यहाँ प्रतिबिम्बका प्रतिफलन हुआ। तो देखो जैसे कहा जाता ना कि किसी पदार्थ में उपयोग जुड़ा तो निमित्त कहलाता है, यहाँ तीन बातें समझनी चाहिएँ, किसी बाह्य पदार्थमें उपयोग जुड़ा तो निमित्त कहलाता है यह बात घटित होती है बहिरंग निमित्तपर। है ही ऐसी बात। जगत में विचरने वाले मनुष्यों पर, अन्य प्राणियोंपर या अजीव वैभवपर, जिसपर भी उपयोग जाय वहाँ यह जीव अपनेमें विकार करता है और ये पदार्थ निमित्त कहलाते हैं। दूसरी बात क्या समझें कि ये बहिरंग पदार्थ उपचरित निमित्त हैं, लेकिन कर्मविपाक पूर्वबद्ध कर्मका उदय यह है विकारमें वास्तविक निमित्त, अन्तरंग निमित्त, क्योंकि उसके साथ विकारका है अन्वयव्यतिरेक सम्बंध याने कर्मोदय होनेपर ही, कर्म अनुभाग होनेपर ही विकार बनता है, कर्मविपाक न होनेपर विकार नहीं बनता। तो यों कर्मविपाक है वास्तविक निमित्त उनतें कोई उपयोग नहीं जोड़ता, जुड़ ही नहीं सकता। वे कर्म भिन्न हैं, सूक्ष्म हैं, उनपर कोई उपयोग नहीं जोड़ता। अब तीसरी बात समझनी है कि कर्मविपाक जो कर्मकी परिणति है, कर्म का कार्य है उसमें तो जीव उपयोग नहीं जोड़ पाता, किन्तु उपयोग में जो प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब होता है उसकी तो बीत रही पद्धति की खबर है ना। उसमें सम्पर्क बनता है। पर कर्मविपाक में सम्पर्क नहीं बनता। देखो कर्म सूक्ष्म चीज है या रागद्वेष जीवभाव सूक्ष्म चीज हैं। इन दोका ही मुकाबला देखो––कम रागद्वेष जिसका नाम है क्रोधादिक, ऐसी कार्माणावर्गणाओं के स्पर्धक ये सूक्ष्म हैं या जीवमें जो भाव रागभाव, द्वेषभाव उठते हैं वे सूक्ष्म हैं। कहना होगा कि सूक्ष्म तो जीवभाव है, विभाव है। कर्म सूक्ष्म नहीं जीवविभावके सामने, क्योंकि कर्म तो पौद्गलिक हैं मूर्तिक हैं और जीवभाव ये अमूर्त आत्माके परिणाम हैं। तो कर्मसे भी अधिक

सूक्ष्म होनेपर भी यह जीव अपने रागद्वेष क्रोधादिक भावोंमें तो स्पष्ट परिचय रखता है और कर्मों से इसे परिचय नहीं बनता। इसका कारण क्या है कि कर्म यद्यपि जीनके रागद्वेष भावसे मोटे हैं, लेकिन हैं तो भिन्न पदार्थ, इसलिए उनका ज्ञान तो नहीं बना, पर उन कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवमें जो छाया माया प्रतिफलन दोष आया यह तो खुदपर, गुजरा ना, तो उसकी पहिचान जल्दी हो जाती है, उसका सम्पर्क जल्दी हो जाता है। तो तीसरी बात यह है कि कर्मविपाक के प्रतिफलनमें उपयोगका सम्पर्क होना यह बात है जीवविकार होनेकी विधियोंमें।

कर्मविपाक के प्रतिफलन का विवरण––हाँ तो उन्हीं उपयोगों में से एक विरोध वाले उपयोग की बात कहीं जा रही। द्वेषविकार, यह द्वेषविकार मुझमें हुआ। कैसे? कि हुआ तो कर्ममें याने पहले कर्म बाँधे थे उनमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बंधा था तो हुआ तो वह कर्मविपाक, अब उसका निमित्त पाकर जो प्रतिफलन हुआ वह जीवपर गुजरा। तो वह उपयोग की खबर हुई, ज्ञानमें आयी, ज्ञानमें कैसे आयी? ज्ञान जैसा ज्ञानमें नहीं आया, मगर अंधेरा जैसा झलका। दर्पणमें दूर रखी हुई चीज झलकती कि नहीं। पिछी रखी हो, घड़ा रखा हो, कुछ भी चीज रखी हो वह झलकती है। और यदि बहुत घनी अंधेरी रात हो और उस अंधेरी रातमें दर्पण रखा है तो बताओ उस दर्पणमें भी कुछ झलका कि नहीं? झलका तो है। क्या झलका? अंधेरा झलका। तो अंधेरे में क्या मिला? मिला क्या, वह तो अंधेरा है तो जैसे दर्पणमें लाल चीज भी झलकती है और अंधेरा भी झलकता है, पर अंधेरेकी झलक में कुछ झलका––यह विदित नहीं होता। इसी तरह जीवमें, उपयोग में ये बाहरी पदार्थ भी झलके, ये विषयभूत पदार्थ और कर्मविषाक भी झलका, मगर इस झलकमें ऐसा ही अन्तर है कि जब ये विषयभूत पदार्थ झलके तब तो कुछ–कुछ खबर है और जब कर्मविपाक झलका तो इसको कुछ खबर नहीं। मगर अंधेरे की तरह वह झलका, उसमें सम्पर्क बना। तो यह जीव इस प्रकार दोषी बन जाता है।

विरोधभाव न रखकर अन्तस्तत्त्वके दर्शनके पौरुषका कर्तव्य––कर्तव्य यह है कि किसी जीनके प्रति विरोध न रखना चाहिए। कलह भी हो जाय घरमें, विरोध भी हो जाय तो भी जैसे भीतर कुछ गुंजाइश बनाये रहते ना क्षमाशील होनेकी। किसी लड़के ने कोई काम बिगाड़ दिया या कुछ उपद्रव कर दिया तो बाप को, माँको, भाईको क्रोध तो आता है, मगर ऐसा क्रोध नहीं आता कि इसे निकाल दूँ, मार दूँ। भीतरमें ऐसा राग बसा रहेगा, प्रेम बसा रहता कि उसे कभी पीटेंगे भी तो पोले हाथोंसे पीटेंगे। शत्रुपर जैसे हाथ चलते वैसे हाथ इस पर भी चलते क्या? अपने बालकपर या अपने इष्टपर क्या इस ढंगसे कोई हाथ उठाता है जैसे कि लोकमें कोई बैरीपर उठाता है। तो बात क्या है वह परिस्थितिवश कषाय जग रही, मगर मूलमें इनका उच्छेद करनेका भाव नहीं बनता। तो ज्ञानी पुरुष वे पहले बाँधे हुए कर्म उदयमें आये तो वहाँ कुछ बिकार जग जाता है, लेकिन मूलमें ज्ञानीको सच्ची सुध बनी रहती है। नट खेल दिखाता ना, ऊपर रस्सी बाँध देता है एक ओरसे दूसरी ओर तक और वह नट उस डोरपर, रस्सीपर चलता है, तो चलता है रस्सीपर, पर उसका उपयोग कहाँ रहता है, कैसा केन्द्रित रहता है। और तो जाने दो––देखा होगा कि महिलायें अपने सिरपर तीन चार घड़े तक रखकर कुवेंसे जल भर लाती हैं, वे हाथसे पकड़ती नहीं, दो–तीन महिलायें हुई तो बीच–बीच गप्प–सप्प भी करतींसिर भी हिलता, पर उन घड़ों पर कुछ भी जोखिम नहीं आती। तो वहाँ क्या हुआ? वहाँ ऐसी साधना है, सिरका ऐसा संयम है कि वहाँ घड़ों पर कुछ भी जोखिम नहीं आने पाती। ऐसे ही बहुतसे नाच नाचने वालोंको भी देखो होगा, कई–कई घड़े अपने सिरपर रखकर बिना उन्हें पकड़े सब तरह से नृत्य कर लेते हैं। तो वहाँ बात क्या है? केवल एक सिरका संयम। ठीक ऐसे ही ज्ञानी पुरुष का

ध्यान एक निज अन्तस्तत्व में ऐसा संयत रहता है कि परिस्थितिवश अनेक घटनायें आयें तिसपर भी किसी भी घटनामें आसक्त नहीं होता। परिस्थिति आये कुछ विरोधकी, आक्रमणकी, झंझट की, तिसपर जो ज्ञानी पुरुष है वह तो मूलमें उस जीवस्वरूपका आदर रखता है। तो विरोधभाव जगे तो इसमें बरबादी। किसकी बरबादी? दूसरेकी नहीं, किन्तु खुदकी बरबादी है। अपने लिए भी भावना और समग्र जीवोंके लिए भी भावना कि कभी भी किसी के प्रति विरोधभाव, विनाशभावना न जगे और क्या बने कि जीवोंमें सहजपरमात्म तत्त्वका दर्शन हो।

(32)

कितना भी दुःख आवे, समझो यह दुःख तो अनन्तदुखियों के सामने थोड़ा सा ही है तथा समागत दुःख भी मात्र मानने का दुःख है, मेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र अमूर्त है, इसमें तो दुःखका काम ही नहीं।

घबड़ाहटमें मरण न हो एतदर्थ जीवनमें धीरता की आवश्यकता––यह सब संसार है, संकटोंका घर है। संकट एक भी नहीं, फिर भी संकटों का घर है। यह ही तो कहलाती है एक समस्या, गोरखधंधा, विचित्र बात, आश्चर्यकी चीज। संकट तो यों नहीं है कि सब जीव अपनी–अपनी सत्ता रखते हैं और सुरक्षित हैं, किसी जीवका विनाश नहीं होता। कोई यदि ऐसी मनमें दृढ़ता कर ले कि अगर देह भी घटती है तो मेरा क्या है? मैं तो अमर हूं, अविनाशी हूं, यहाँ न रहा, और जगह चला गया, लेकिन बताओ कि जब कोई ऐसी स्थिति आती है कि जहाँ यह लगता है कि अब तो मेरा मरण ही होगा, होने ही वाला है उस समय में शान्ति और समतापूर्वक कौन जीता है? विरला ही ज्ञानी जी सकता है, पर प्रायः करके घबड़ाहट बनती कि नहीं? अच्छा बतलाओ मरने में घबड़ाहट क्यों की जाती है? उस घबड़ाहटके मुख्य दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह सोच होना कि यहाँ जो कुछ पाया, जो कुछ बात बन सकी वह सब मिट रही है, उसका वियोग हो जाने वाला है। फिर अपने को उसका उपभोग नहीं मिलनेका। ऐसा ध्यान लगता है तो यह जीव घबड़ाता जाता मरते समय और कोई थोड़ा सा बुद्धिमान हो, कुछ धर्मरुचि वाला हो तो वह घबड़ाता है यो कि वह सोचता है कि मेरा जीवन व्यर्थ गया। मैं शान्ति समता से जीवन न चला सका। ज्ञान में मैं अपना जीवन न ढाल सका। मेरा यह मनुष्यभव व्यर्थ गया, यों ख्याल कर घबड़ाता है।

तो ऐसा उपाय तो बनावें कि मरते समय घबड़ाहट न रहे। वह क्या उपाय है? यह उपाय है कि जीने के समय में भी घबड़ाहट न रहे तब तो मरणसमय घबड़ाहट न रहे, यह बात तो सोची जा सकती है। जीनेके समय में घबड़ाहट न रहे, इसके लिए दो बातें समझनी चाहिएँ। एक तो यह हम निर्णय पहले से कर लें कि जो मिला है वह सब मिटने के लिए मिला है। जैसे बरसात के दिनोंमें बच्चे लोग रेतीली नदीपर जाकर जो पाँवके ऊपर रेत चढ़ाते हैं, थपथपाते हैं और फिर धीरे से पैर निकालते हैं और घर सा बना लेते हैं तो बताओ वे उस घरमें रहने के लिए घर बनाते हैं या मिटाने के लिए बनाते हैं? मिटानेके लिए खुद ही मिटा दिया तो कुछ झगड़े की बात नहीं और कोई दूसरा मिटा दे तो लड़ाई हो जाती है। है तो सब मिटने के लिए ना? मिटने में दूसरा कोई निमित्त बने तो उसपर विरोध करते। और अपने आप मिट जाय या खुद मिटा दे तो किसका विरोध करते? इस जीवको आदत है ऐसी कि प्रत्येक घटनामें दूसरेके दोष देखते। कोई सेठ है और गद्दीपर काली स्याही की दवात रखते हैं ना और सेठजी की लात लग जाय तब तो यह कहता सेठ कि देखकर दवात नहीं रखते मुनीम जी, और मुनीमसे वह स्याही बिखर जाय तो सेठजी उसपर यों कहकर नाराज होते हैं कि देखकर नहीं चलते। तो जब ऐसी दृष्टि

रहती है कि खुद का विचार नहीं दूसरे के दोष देखना और अपने आपके दोषका चिन्तन नही तो बतावो प्रगति कैसे हो सकती है? तो ऐसे ही विकल्पके कारण यह सारा सांार संकटमय हो रहा है।

ज्ञानबल से अपने संकट को न कुछ संकटसा समझकर दुःख दूर करने का सन्देश––भैया! यहाँ बहुत संकट है। यह जो निबन्ध पढ़ रहे हैं तो यह किस घटनाके समयमें बनाया हुआ है? अहमदाबादमें एक सुभाष अग्रवाल जैन हैं तो उनका बच्चा चार वर्षका था। वह बड़ा चतुर था, सबसे बड़े प्यारसे बोले। मेरे पास वह बहुत बैठता था, उसे हम अच्छे लगें और हमें भी वह अच्छा जंचे। एक दिन अचानक ही वह छतसे गिरकर मर गया तो उस बच्चे का बाप सुभाष उसके पोछे पागलसा बन गया। उस प्रसंग में एक यह बात सम्बोधी गई कि देखो यहाँ का कोई भी दुःख कुछ भी दुःख नहीं है। यद्यपि उसपर था बड़ा कठिन दुःख, मगर सोचना चाहिए कि जीवपर किसी समय कितना भी दुःख आये, मग रवह न कुछसा है। कैसे समझें कि हम पर यह दुःख बहुत थोड़ासा पड़ा है? आप इससे अनेक गुणा दुःख वालोंको और अनेक घटनाओं को देख डालें, आपको विश्वास हो जायगा कि मुझपर तो यह दुःख बहुत ही थोड़ा है। दृष्टिकी बात है। जब अपनी दुःखपर दृष्टि है तो वह लगता है बड़ा और जब दूसरे अनन्तगुणे दुःखों पर दृष्टि की है तो दुःख लगता है थोड़ा। जिससे आराग मिले, शान्ति मिले, ज्ञान मिले, धैर्य मिले वह काम करना चाहिए कि नहीं। तो यह जगत है तो संकटमय अपनी कल्पनासे, मगर यहाँ कितने ही प्रकारका संकट आये उन सब संकटों को थोड़ा जानें। प्रथम तो ऐसा समझें कि संकट है ही नहीं। बाह्य वस्तु है, आया, गया, रहा, जो हुआ सो हुआ। क्या ठेका है, आज यहाँ पैदा हुए, मरकर दुनिया के किसी और छोरमें पहुंच गया तो उसके लिए यहाँ क्या है? अनेक सम्बोधन हैं, जिससे यह समझना चाहिए कि मुझ पर संकट कुछ नहीं, और न सहा जाय तो इतना तो समझ लेवें कि और दुःखियों के मुकाबले में तो मुझपर ये कुछ भी संकट नहीं, थोड़ा सा ही संकट है, और जो भी संकट है यह भी केवल मानने का संकट है। हर एक संकट के प्रति ऐसा ही वार्तालाप करें। दुःखी का दुःख दूर करने के लिए कोई दूसरा न आयगा, कोई दूसरा दुःख दूर न कर सकेगा। खुद को ही ज्ञान बनाना होगा और पने ही ज्ञानसे अपने दुःख को शान्त कर सकेगा। तो यह ध्यानमें लाना कि मुझपर कुछ दुःख नहीं। और तो हमसे अनेक गुना दुःखी हैं और जो दुःख आया है वह भी एक मानने का दुःख है।

स्वरूपकी आराधना करके संकटों से अलग होने का अनुरोध––भैया! वास्तविकता तो यह है कि मै। तो अपनी ओर से अपने सत्त्व के कारण सहज चैतन्यज्योतिमात्र हूँ, इसका भवन ही है कि यह परिणमत्ता रहे। सो ईमानदारी तो यही है कि यह ज्ञानरूपसे ही परिणमत्ता रहे, मगर अनादिसे योग्यता खराब, मलीमसता, कर्मबन्ध प्रतिसमय, उदय उदीरणा, उसका झलक, उपयोग दूषित हुआ तो वहाँ विकल्परूप परिणमने लगा। तो यह विकल्परूप परिणमन तो औपाधिक बात है, मेरे स्वरूपकी बात नहीं हैं। मैं तो चैतन्यज्योति मात्र हूँ। मेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र है जो कि है अमूर्त। जिसे कोई पहिचानता नहीं, जिनका विकल्प कर हम परेशान होते, उनमें से कोई भी इस मुझको नहीं जानता। ऐसे इस अमूर्त चैतन्यस्वरूपमें दुःख का नाम ही नहीं, काम भी नहीं, ऐसा अपना अन्तर्ध्यान बनायें और जो दुःख आया वह कुछ नहीं है, ऐसा समझकर सर्वसंकटोंसे अपनेको अलग बनाये रहें।

(33)

जितना भी दुःख होता है वह अपने अज्ञान और राग के अपराध से ही होता है। यदि दुःख से दूर रहना चाहते हो तो ज्ञान और वैराग्य को पुष्ट करो, ज्ञान और वैराग्य ही दुःखसे छुटकारा पाने का उपाय है।

दुःख का जनक अज्ञान और राग––संसारमें ये सभी जीव अपनेको दुःखी अनुभव कर रहे हैं, कोई किसी पदार्थका विकल्प करके दुःख मानता है तो कोई किसी भावका विकल्प करके दुःख मानता है। उन दुःखों के होनेका कारण क्या है? क्या ये दुःख किसी बाहरी पदार्थके कारणसे हुए हैं? कोई बाहरी पदार्थ किसी तरह परिणमे या हुए, क्या किसी पदार्थ के कुछ भी परिणमनसे इन जीवको दुःख होता है? तो विचार करो तो स्पष्ट विदित होगा कि बाहरी पदार्थ के किसी परिणमन से जीवको दुःख नहीं होता, क्योंकि वह तो बाहरी पदार्थ है और बाहरी पदार्थसे दुःख होता तो बाहरी पदार्थ ये जिस जिसके निकट हों उस उसको दुःख होना चाहिए। पर काम वही है, उसको कोई दुःख मानता, कोई सुख। घर वही है उसे कोई दुःख मानता, कोई सुख मानता। बाहरी पदार्थ से दुःख नहीं होता। दुःख होता है तो वह अपने ही अपराधसे होता है। वह अपराध क्या? अज्ञान और राग। अज्ञान और रागके अपराधके समस्त दुःख है। किसी भी दुःखकी बात सामने रख लो और यह विचार करो कि मेरेको दुःख क्यों हा रहा है? तो उत्तर मिलेगा कि इस जातिका तो अज्ञान है और इस जातिका राग लगा है, अज्ञान और राग इनका अपराध लगा है इससे दुःख हो रहा। अज्ञान तो क्या है इसके अनेक उत्तर हो सकते हैं। पर मौलिक उत्तर यह सब जगह मिलेगा कि अज्ञान यह है कि मेरा जो सहज स्वरूप है उसका हम इन कर्मविपाक देश प्रदेशों से न्यारा परिचय नहीं कर पा रहे और उन कर्मों की माया छायामें लिपटे हुए अपने आपको देख रहे। यह एक मौलिक अपराध हैं। जिस कारण हमको दुःखी होना पड़ता है। अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान न होना अज्ञान कहलाता है और जब–जब अपने वास्तविक स्वरूप पर दृष्टि नहीं होती, ज्ञानमें वह स्वरूप नहीं रहता तब तब इस जीवमें विकल्प होते हैं और उन विकल्पोंसे क्लेश होता है। तो जीवको जो कुछ दुःख होता है उसका कारण है अज्ञान और साथ ही लगा हुआ है राग, इस जीवने जब अपने आत्मा के अनुभवका आनन्द नहीं पाया। ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाया, अन्य विकल्प हुआ ही नहीं, ऐसी परिस्थिति में होने वाला जो अनुभव आनन्द हैं, ज बवह सत्य आनन्द प्राप्त न हुआ तो चूँकि आनन्दका लेना ही तो जीवका प्रयोजन है, जब खुदमें आनन्द न मिला, जब निरपेक्ष सत्य सहज आनन्द न मिला तब यह आनन्द पानेके लिए बाह्य में मन, वचन, काय की चेष्टा करता है, बस वही कहलाया राग। तो जितना दुःख होता है वह अज्ञान और रागसे होता है।

जीवके क्लेशका कारण स्वकृत अपराध––

आप थोड़ा और विचार करेंगे, सोचेंगे कि मामूली जीवोंमें तो यह बात घटित हो जाती है, मगर जो न तो अज्ञान रखता और न कोई घर गृहस्थी का राग बनाये हैं, योगी हैं, साधु संत जन हैं उन पर भी तो बड़े–बड़े उपसर्ग आते, बड़े–बड़े कष्ट आते तो उनको यह दुःख क्यों होता? न वहाँ अज्ञान है और न राग है फिर उन्हें दुःखका कारण क्या? तो सामधान में यह सोचें कि उपसर्ग के समय यदि उनका दुःख जग रहा है तो उस दुःखमें अज्ञान और राग कारण पड़ेगा और अगर दुःख नहीं जग रहा जो यहाँ कोई नियम न रहा कि कोई उपसर्ग कर रहा, पीटता तो दुःख ही हो। यह तो अपने–अपने ज्ञानकी पुष्टता और निर्बलतापर आधारित है। कोई जरासी आँख दिखाता और यह मनमें बड़ा दुःख महसूस करता और कोई शस्त्र भी मारे फिर भी ज्ञानी योगीजन उसमें दुःखका अनुभव नहीं करते। तो दुःख कोई अनुभव करे तो उसमें सोचना पड़ेगा कि कुछ न कुछ अज्ञान और राग है। जैसे किसी योगी के सम्बन्धमें निरखा जाय, जो किसी से विरोध नहीं रखता, मौन रखता, अपनी आत्मसाधनामें लगा है और कोई पूर्व भवका बैरी या किसी कारणसे क्रोधी कोई हो जाय और वह उस योगी को सतान लगे तो वहाँ तो योगी कुछ दुःख अनुभव करता, तो

उसमें देखो राग कारण है। क्या विकल्प जगा कि मैं कुछ अपराध नहीं कर रहा और यह व्यर्थ ही मुझे सता रहा है। किसी न किसी प्रकारका राग तो चल रहा है और उस कालमें चूँकि विकल्प मच रहा तो उस विकल्प के समय इस जीवको अपने स्वरूपकी सुध नहीं, वहाँ दृष्टि नहीं, अनुभव नहीं, भले ही प्रतीति रहे, सम्यक्त्व भी रहा, मगर जब जब भी विकल्प है तब तब सहज ज्ञानस्वभावमें अनुभूति नहीं है। तो यह एक निर्णय रखें कि जिस जीवको भी दुःख होता है उसको अपने विकल्पके कारण होता है। और भी विशेष बात समझें, उस योगीने क्या अपराध किया जिससे दूसरे लोग सता रहे। तो अपराध समण्यि क्या? पहला अपराध तो यह कि वह दुःख मान रहा तो उसने कर्मविपाकके प्रतिफलन में सम्पर्क बनाया, और मोटे रूपसे सोचो कि उसे उपद्रव क्यों आया? उपसर्ग क्यों आया? ऐसा ही कोई पूर्वबद्ध कर्मका उदय आ गया। तो जितने भी क्लेश होते हैं वे सब जीवों को अपने अपराधसे होते। जिसमें दुःख अनुभव हो वह तो मुख्यतया वर्तमान के अपराध से है, और जिसमें बाहरी संकट मात्र हो वह पूर्वकालके अपराधसे है। जो वर्तमान दुःख है उसमं भी पूर्वका अपराध और वर्तमान का अपराध दोनों ही कारण पड़ते हैं। जहाँ दुःख नहीं हो रहा, उपद्रव उपसर्ग है वहाँ मात्र पूर्वके अपराधसे बाँधे हुए कर्मके उदयमें चल रहा है यह।

क्लेशों के दूर होनेका उपाय ज्ञान और वैराग्य––जितने भी क्लेश होते हैं जीवको वे अपने अपराधसे ही होते हैं, ऐसा निर्णय कोई बना ले तो उसको जीवनमें संकट नहीं आता। जिस जीवकी दृष्टि रहती है विपरीत कि देखो मेरे को यह व्यर्थ सता रहा, इसने मुझे कष्ट दिया, इस प्रकार के विकल्प उसने किये जिससे उसे कष्टका अनुभव हुआ। तो यदि कष्ट न चाहिए, दुःखसे दूर रहना चाहते हो तो अज्ञान और राग––इन दो अपराधों कर दूर करना होगा। जब अज्ञान न रहा तो ज्ञान जग गया, जब राग न रहा तो वैराग्य जग गया। तो दुःख दूर करनेका उपाय है ज्ञान और वैराग्य। चीजों का संचय, संग्रह, परिग्रहका समागम यह दुःख दूर करनेका उपाय नहीं, किन्तु ज्ञान और वैराग्य के भाव ही दुःख दूर करनेके उपाय हैं। जहाँ यह ज्ञान जगा कि जगतके ये समस्त पदार्थ मेरेसे अत्यंत भिन्न हैं, इन पदार्थों में मैं क्या करूँ, इनसे मेरा क्या मतलब? ऐसा जब ज्ञान जगता है तब मोह रागद्वेषकृत दुःख नहीं रहता और इसी ज्ञानके बल पर वैराग्य भी बनता है। जब ये सब जुदे हैं तो मुझे लगाव से क्या मतलब? ज्ञानी जन बाह्य पदार्थों से लगाव हटा लेते हैं और अपने आपमें अपना अनुभव करते हैं। तो दुःख से दूर रहने का उपाय है ज्ञान और वैराग्य। जब जीवके कुबुद्धि रहती है तो वह ज्ञान और वैराग्य में तो क्लेश मानता है और अज्ञान और राग में मौज मानता है, पर इस असार संसारमें काल्पनिक मौजों से क्या गुजारा चलेगा? काल्पनिक मौजका विकल्प छोड़कर ज्ञान और वैराग्यको ही पुष्ट बनायें, ज्ञान और वैराग्य ही दुःखको उत्पन्न करने का उपाय है। सबसे निराला ज्ञानमात्र यह मैं परमात्मस्वरूप हूँ, जिसमें सहज ही असीम ज्ञान ओर आनन्द भरा पड़ा है। भरा भी क्या पड़ा यह? आनन्दस्वरूप ही मैं हूं। मेरेमें अपूर्णता क्या? अधूरापन क्या? झंझट क्या? कमी क्या? जहाँ यह ज्ञान जगता है वहाँ विषयोंका राग हटता है और अपने आपके आनन्दस्वरूप ज्ञानभावमें दृष्टि लगती है, अनन्त आनन्द झरने लगता है। तो अज्ञान और राग दूर करें और वैराग्य भावसे अपने आपको यही अनुभव करें।

(34)

मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानपरिणमनको ही करता है, ज्ञानपरिणमन को ही भोगता हूँ, मुझमें किसी भी परका प्रवेश नहीं, फिर बाधा कहाँ से आये? निज सहजानन्दको भूलकर बाहर कष्ट बनाये जानेका प्रोग्राम कैन्सिल।

परपदार्थोंके कर्तृत्वके आशयसे क्लेश––स्वहित के अर्थी भव्य जनों को यथार्थ मनन करना होगा कि मैं क्या हूँ और मैं क्या करता हूं, मैं क्या भोगता हूँ––इन तीन बातों कीं धुन भी रहती है सबको। इन तीनके आशय बिना कोई मनुष्य है भी नहीं, पर यहाँ यह सोचना है कि हम कैसे अपने आपको इन तीन बातों में लगाते कि क्लेश होता और कैसे इन तीन बातों को यथार्थ समझे तो कष्ट मिटेगा। जब यह जीव किसी पर्याय में 'यह मैं हूँ' ऐसी मान्यता करता है तो उसे कष्ट होता है, क्योंकि पर्याय है, क्षणिक पर्याय है, औपाधिक पर्याय है, और उसे मान लिया कि मैं यह हूं तो उस पर्यायकी अदल–बदलसे यह जीव अपनेको बड़ा कष्ट मानता है। जब यह जीव ज्ञानभावको छोड़कर अन्यभाव और पदार्थ में 'मैं करता हूं' ऐसा विकल्प बनाता है तब यह जीव कष्ट भोगता है। ज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थको मैं कर नहीं सकता। कैसे? ऐसे अर्थ दो प्रकारके हैं––पर और परभाव। पर पदार्थ तो वे कहलाते हैं जिनकी स्वतंत्र सत्ता है, हमसे निराले हैं, ऐसे पदार्थमें मैं करता हूं, ऐसा आशय रखे तो वह कष्टका ही कारण है। क्यों कष्टका कारण है कि पर पदार्थ में कुछ करने का अधिकार तो है नहीं, और अधिकार यह समझता है, तो अपने मन के अनुकूल जब पर पदार्थ में परिणति नहीं हो पाती, तब यह कष्ट मानता है। जैसे कोई 50–60 मनकी गाड़ी बैल खींचे चले जा रहे हों और पीछे दो बालक गाड़ी पर हाथ लगाये कल्पनामें ढकेल रहे तो वे यह मानते हैं कि इस गाड़ी को मैं चलाता हूँ। तो क्यों जी, ऐसा मानने में कुछ हर्ज है क्या? मानने दो, कुछ हर्ज है क्या? आखिर बच्चे ही तो है, अरे हर्ज है। उनसे अपराध यह हो गया कि वे झूठी मान्यता कर रहे हैं। जब गाड़ी खड़ी हो जाती तो वे बच्चे बड़ा कष्ट मानते। अरे मैं इस गाड़ी को चला रहा था, अब यह क्यों नहीं चलती? तो मानने में क्या अपराध है? सो किसी को तो यों लगता कि क्या अपराध कर रहे? बैठे हैं अपने घर में सिर्फ मान भर रहे तो जैसा चाहे मान लें, मगर सारा दुःख तो इस खोटी मान्यतामें ही है। तो यह जीव ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावोंमें, परपदार्थोंमें करने की बुद्धि रखता है और दुःखी होता है।

परभावके कर्तृत्वके आशय से क्लेश––अच्छा पर पदार्थ तो अत्यन्त भिन्न हैं, उनमें यदि करने की बुद्धि रखते हैं तो यह तो हमको अपराध जंच गया, और जब अपराध करता है तो दुःखी हो रहा, लेकिन परभावों को करता हूँ––इस मान्यतामें क्या अपराध? तो समझिये परभाव मायने क्या? क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, ये जो विभाव हैं ये सब परभाव कहलाते हैं। परभाव क्यों कहलाते कि पूर्व में बाँधे हुए कर्मका उदय आता है और उस उदयका विपाकका, अनुभागका इस उपयोगमें प्रतिफलन होता, झाँकी होती, तो यह जो झाँकी हुई, उपयोग में दोष आया, आया है चेतना कि विकाररूप, मगर यह परपदार्थका, कर्मका, विपाकका निमित्त पाकर हुआ है। अतएव परभाव है, आत्मा के निज गुणका भाव नहीं है। तो परभावको मैं नहीं करता क्योंकि मैं तो उसका करने वाला हूँ जिसके करनेमें मैं स्वतन्त्र हूँ। व्याकरण में भी कहते ''स्वतंत्रः कर्ता''। जो क्रिया में स्वतंत्र हो उसे कर्ता कहते हैं। यद्यपि इस कर्ता की परिभाषा समझने के भी दो रूप हैं। पहला रूप तो यह कि जैसे सिद्ध भगवान प्रभु वीतराग अपने भावों के कर्ता हैं तो वे स्वतं हैं अर्थात् परनिमित्त वहाँ नहीं होता, पर निमित्त के बिना ही वे सब पर्याय हैं, सो स्वतंत्र कर्ता है। और दूसरी दृष्टि यहां लगाया संसारी जीवोंमें जो विकार परिणमन कर रहे हैं वे भी यद्यपि निमित्तका संग पाकर कर रहे हैं, पर जो किया जा रहा है वह तो आत्मा में आत्मा के परिणमनकी ही तो बात है। कहीं दो द्रव्य मिलकर जीव विकारपरिणमन को नहीं करते। तो एक स्वतंत्रता वहां भी सिद्ध हुई। अब पहली स्वतंत्रता की बात तो शुद्ध पर्याय की है, विकार की नहीं। दूसरी स्वतंत्रता की बात है तो वह जो विकार है वह परनिमित्त पाकर हुआ है। इतना तो कलंक

संग लगा ही हुआ है। तो मैं स्वयं अपने आप अपनी ओर से परसंग पाये बिना मैं इस विकारभावका करने वाला नहीं हूँ, इसलिए मैं परभावोंका कर्ता नहीं हूँ। तब मैं निरपेक्ष स्वतंत्र निःसन्देह बाधा रहित रूपसे किसका करने वाला हूँ? ज्ञानभावका करने वाला हूँ, ज्ञानस्वरूप हूं, तो ज्ञानका व्यापार चल रहा। जितना निरपेक्ष परिणमन होता रहे उतना तो मैं करने वाला हूं, पर उसके अतिरिक्त अन्य कुछ परभावोंका या परका करने वाला नहीं हूँ। जिसको अपने कर्तापन के रहस्यका परिचय हो जाता है वह जीव अपराध नहीं करता, उसको फिर कष्ट नहीं होता।

परके भोक्तृत्व के आशय से क्लेश––अब तीसरी समस्या जानें कि मैं किसकी भोगता हूँ? सारा जगत कहता है कि मैं स्पर्श भोगता हूँ, रस भोगता हूं, गंध भोगता हूं..... पर एक द्रव्य किसी भिन्न प्रदेश वाले द्रव्य को क्या भोग सकता है, क्योंकि भोगने का अर्थ है अनुभवना। अनुभवन खुदका खुदकी पर्यायरूपमें होता है, किसी अन्यकी पर्यायमें अनुभवन नहीं होता। तो किसी भी बाह्य पदार्थको मैं भागता नहीं हूं। हाँ बाह्य पदार्थका उपयोग करते समय यह जीव अपनेमें भोगने का विकल्प करता, ज्ञान करता है, उस विकल्पको भोगता है, अनुभवता है तो यह जीव किसी बाह्य पदार्थ को भोगता नहीं, किसी बाह्य पदार्थ का निमित्त पाकर विकल्प को भोगता है, ऐसा वह भी कर्मविपाक होनेसे परभाव है, शुद्धनयसे तो मैं परभावका भी भोक्ता नहीं हूं।

कष्टके प्रोग्रामों को नष्ट करके सहज आराम के पानेका कर्तव्य––जब मैंने, कर्तृत्व, भोक्तृत्व इन तीन प्रकारों में वस्तुका परिचय किया, तब यह स्पष्ट जाहिर हो गया है कि मेरे में किसी भी परकाप्रवेश नहीं। जब कभी परका मेरेमें प्रवेश हो नहीं सकता तब उससे बाधा कहाँ से आ सकेगी? मैं निर्बाध हूं, सहज अनादि अनन्त हूं। बस इस निज सहज आनन्दको जो भूल गया और इस सहज आनन्दको भूल जाने के अपराध को यह बाहर ढूँढने लगा। यहाँ सुख मिला, यहाँ सुख मिलेगा। जैसे किसी बालकको कोई घरसे निकाल दे तो वह यंत्र तंत्र डोलता फिरता है, कहीं बुआके घर, कहीं मौसीके घर, कहीं मित्रके साथ। तो जैसे घरसे निकाल दिये जानेपर बालक असहाय होकर यंत्र तंत्र डोलता है ऐसे ही जब इस अज्ञानी जीवके यह भाव बना है कि मेरेमें आनन्द कहाँ है भीतर? खुद कहाँ है? खुदके आनन्दका परिचय नहीं और बाहरी पदार्थोंमें जान बूझकर ढूक ढूककर शान्तिकी खोज करता है। मुझको यहाँ सुख मिलेगा, यहाँ शान्ति मिलेगो, यों जगह जगह डोलता है तो उस परिभ्रमणमें कष्ट ही मिलता है, आनन्द नहीं मिलता। जहाँ अपना वश नहीं चल सकता, जहाँ अपना ठिकाना नहीं रह सकता। यों बाहरी पदार्थोका आश्रय करे तो वहाँ शान्ति और आनन्द कैसे मिल सकेगा? यहाँ तो ज्ञानी सोचता है कि अनादिसे मैंने अपने सहज आनन्दस्वरूपको भुला दिया और बाहर में अनेक पदार्थों के निकट उपयोग घुमाकर कष्ट बना, सो बना लिया अज्ञानमें कष्ट, लेकिन उस अज्ञानका प्रोग्राम अब हम खत्म करते है और ऐसा कष्ट भोगने का प्रोग्राम भी हम खत्म करते हैं। व्यर्थ ही, है कुछ नहीं इस जीवका और बाहरी पदार्थोमें विकल्प करता, ममता करता, बाहरी पदार्थोंसे अपने आप विडम्बना करके कष्ट बनाया जा रहा है। अब इस कष्ट बनाये जाने के प्रोग्राम को हम कैन्सिल करते हैं और अपना जो सहज ज्ञानभाव है उसका आश्रय करते हैं।

(35)

आध्यात्मिक व शारीरिक ब्रह्मचर्य का पालनहार ही पुरुष पवित्र है। परमें कर्तृत्व भोक्तृत्व व स्वामित्वका व्यर्थ विकल्प करके मूढ़ मत बनो तथा देहवीर्य नष्ट करके अपनी विडम्बना मत बनाओ।

कल्याणसाधक उपयोग विषय की जिज्ञासा––जीवका लक्षण उपयोग है। उसके उपयोग लक्षणस्प होनेसे यही तो बात आयगी कि यह जीव कहीं अपना उपयोग लगाता है। उपयोग मायने ज्ञान और दर्शन। कहीं यह जीव ज्ञानको लगाता है। सो ज्ञानको लगाने के लिये ज्ञान चाहिए और ज्ञानको कहीं लगाया तो विश्वास भी चाहिए। तो उपयोगस्वरूप रहनेसे ही तीन बातें आ जाती है। विश्वास है, ज्ञान है और चारित्र है अर्थात् यह अपने आपमें अपने या परके प्रति कुछ विश्वास बनाये रहता है और जानता रहता है और कहीं न कहीं लगा रहता है। तो यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यह जीव कहाँ उपयोग लगाये तो इस जीवका भला है और कहाँ उपयोग लगाये तो इस जीवकी बरबादी है। जो भले वाली बात है वह पवित्रता वाली बात है, जो बरबादी वाली बात है वह अपवित्रता की बात है। तो अपने से बाहर उपयोगको अभिमुख करके जो कुछ लगाव बनता है वह तो है अपवित्रता और अपने स्वरूपकी ओर जो लगाव बनता है वह है पवित्रता। भगवानको क्या कहें? परपदार्थ कहें कि निजरूप कहें? देखो यद्यपि परमात्मा एक आत्मा है, मुझसे भिन्न पदार्थ है तो भी जिसकी दृष्टि यहाँ तक ही है कि वह तो परपदार्थ है, वह तो भगवानकी भक्तिमें ठीक न बन सकेगा, और परपदार्थ होकर भी जो स्वरूपकी सम्पदा तकता है और उस नाते भक्ति करता है उनकी भक्ति होती है। तो जहाँ स्वरूपका नाता नहीं ऐसे परपदार्थ तो कहलाते हैं कषायके नोकर्म। और जहाँ स्वरूपकी समता है, स्वरूपकी दृष्टिका नाता है वे कहलाते हैं हमारी भक्ति के विषय। हम कहाँ ध्यान जोड़ें, कहाँ उपयोग लगायें कि हम पवित्र बनें? इसके दो उत्तर है––एक उत्तर है परमार्थतः, एक उत्तर है व्यवहारतः। व्यवहारसे तो यह उत्तर है कि प्रभु गुणगानमें लगाओ चित्त, परमेष्ठियों की भक्ति में लगाओ चित्त, जो प्रभुताके मार्गपर चल रहे हों ऐसे संतजनोंकी भक्तिमें लगाओ जीवन। यह तो है व्यावहारिक पवित्रताकी बात। और निश्चयतः अपना जो एक सहजसिद्ध चैतन्यस्वरूप है उसमें चित्त लगावें, यह है परमार्थतः पवित्रता।

आन्तरिक व बहिरंग ब्रह्मचर्य में स्वकल्याण––यदि थोड़े शब्दोंमें कहो तो कहो, ब्रह्मचर्य ही पवित्रता है। आन्तरिक ब्रह्मचर्य और बाह्य ब्रह्मचर्य––आन्तरिक ब्रह्मचर्य तो है आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य का पालन। सो निजके सहज चैतन्यस्वरूपको जानकर उसमें मग्न होना यह है आन्तरिक ब्रह्मचर्य। और बाह्य ब्रह्मचर्य है। शारीरिक ब्रह्मचर्य। तो ऐसे दोनों ही प्रकार के ब्रह्मचर्योंका पालनहार पुरुष पवित्र कहलाता है। अब इन दोनों के खिलाफ वाली वृत्तिकी अपवित्रता देखिये, जहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य नहीं है अर्थात् निजका सहज ज्ञानस्वरूप परमब्रह्म रूप नहीं निरखमें आता और बाहर ही विश्वास बनाये है, कुछ तो उसमें बुद्धियां जगती हैं परके स्वामित्वकी। मैं इसका मालिक हूं। जीवोंके बारेमें भी सोचते हैं कि मैं इन जीवोंके मालिक हूं। ये मेरी आज्ञासे खिलाफ क्यों चलेंगे? चलते हैं तो क्रोध करता है। मेरा तो आदमी है और आज्ञा नहीं मानता, परके स्वामित्वका आशय बनना यह आन्तरिक ब्रह्मचर्यका घात है। इसी प्रकार परका कर्तृत्व मानना, मैं परको कर दूँगा, मैंने परको किया, इस प्रकार अत्यन्त भिन्न परपदार्थों में कर्तृत्वका अहंकार होना जहाँ यह भाव है वहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य नहीं है। तीसरी बात है परका भोक्तृत्व। तो जहाँ परपदार्थके बारे में मैं इसे भोगता हूं, मैं इसे खाता हूं, इस प्रकार का जो विकल्प है, जहाँ जिसके विकल्प है वहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य नहीं है। जहाँ आन्तरिक ब्रह्मचर्य है वहाँ कष्टका नाम नहीं।

परम ब्रह्मचर्य को धारण करके सदा के लिये संकटमुक्त होनेकी भावना––भैया व्यर्थ ही परका स्वामित्व, परका कर्तृत्व, परका भोक्तृत्वका व्यर्थ विकल्प क्यों करके मूढ़ बनें और क्यों दुःखी हों? कहीं बात विशेष अड़चनकी आत जाती और बहुत उल्झन बन जाती है तो कहते हैं कि मैंने इसका टंटा निपटा दिया, सदाके लिए झंझट तो मिटे। अपने बारेमें क्यों

नहीं सोचते कि एक बार तो भीतरका टंटा एकदम खत्म कर दें, सिद्धभगवानकी लिस्ट में अपना नाम लिखायें। अब बतलावो थोड़ा मिला वहाँ भी ममता है। अरे थोड़ा क्या, तीन लोकका वैभव मिल जाय तो उससे भी क्या पूरा पड़ेगा? जीवका पूरा पड़ेगा तो सम्यग्ज्ञानसे। सर्व पदार्थोंसे विविक्त केवल एक ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की प्रतीतिसे संकट टलेगा। एक बार टंटा तो मिटे। अनन्त काल व्यतीत हो गया बात करते–करते भी, कहीं धर्गध्यानकी बात भी करते, सोचते, पर एक बार ऐसा कड़ा जी करो, साहस बनाओ, भीतरमें ध्यान बनाओ और जो अपना सहजस्वरूप है उस स्वरूपमें आस्था आग्रह बनाकर ऐसा साहस बना लो कि बस मैं तो यह हूं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। मेरा सर्वस्व तो यह सहजस्वरूप है, इसके आगे कुछ नहीं। तो एक बार साहस जगा लें तो सदाके लिए दुःख इसके दूर हो सकते हैं। तो यही है आन्तरिक ब्रह्मचर्य––अपने स्वरूपको निहारकर अपने स्वरूपमें मग्न होनेका पौरुष करना। तो आंतरिक ब्रह्मचर्यका घात मत करो याने विकल्पमें उपयोग मत फंसाओ और दूसरा है बाह्य ब्रह्मचर्य। शारीरिक ब्रह्मचर्यके विरुद्ध चलकर अपनी देहशक्ति को नष्ट मत करें। तो जो प्राणी आन्तरिक और शारीरिक दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्योंमें रहकर तृप्ति पाता है तो सर्व अपनी विडम्बनाओं को समाप्त कर देता जो कि अब तक चला आया है, तो बस यह दृष्टि होनी चाहिए, मेरेको मेरा स्वरूप दीखे, स्वरूपमें ही मैं तृप्त रहूं बाह्यमें रंचमात्र भी किसी भी परपदार्थसे अपनायत न लाऊँ और अपने शारीरिक व आन्तरिक ब्रह्मचर्यकी रक्षा करके समस्त विडम्बनाओं को समाप्त करूँ।

(36)

प्रत्येक जीवमें सहजपरमात्मतत्त्व को देख यथोचित विनयशील रहो। केवल जीव तो शुद्धस्वभावी है, उसमें विकार अपराधका काम नहीं, मात्र ज्ञाता न रहकर विकल्प बनाया जाना तो कर्मविपाकका नाच है।

जीवोंमें परमात्मस्वरूपका दर्शन करने वालेके असुविधाकी विडम्बना का अभाव––जो भी संसार को असार जानकर इस देह सम्बंधी विकल्पको अपनी विपत्तिका हेतु जानकर आत्मकल्याणके मार्ग में लगना चाहे वह रहे कहाँ? रहने के दो ही तो स्थान––समागममें रहे या निर्जन वनमें। दोनों ही एक कठिन समस्यायें थीं। जब तक ज्ञानबल नहीं बढ़ता तब तक दोनों ही समस्यायें हैं। निर्जन वनमें रहे अकेला, तो वहाँ अनेक बाधायें हैं। सुविधाओं का यह जीव आदी बन गया है। जंगल में कब खाना, कहाँ रहना? वहाँकी असुविधाओंसे मन घबड़ा सकता और समागम में रहता है तो समागम में रहकर जो अनेक व्यवहार चलते हैं ऊँचे–नीचे, कटुक प्रहार और चूँकि कषायें बसी हैं, दूसरा कुछ बोलता है, दूसरा भी कुछ बोल उठता है तो ऐसी स्थितियाँ हैं, उनसे असुविधायें मिली हुई हैं तो वनमें रहे तो असुविधा समागमों में रहे तो असुविधा। अब तीसरी बात क्या हो सकती, सो बताओ? जब कुछ तीसरी बात हो नहीं सकती तो इन्हीं दोनों प्रसंगों में मार्ग निकालना चाहिए। निर्जन वनमें रहने का संहनन हो, शक्ति हो, वैराग्य हो तो उत्तम तो वह है और उसे फिर बड़ा उपसर्ग विजयी होना चाहिए। किसी और बात की परवाह ही न हो। केवल एक आत्मानुभवकी धुन हो, ऐसा पुरुष निर्जन वनमें अपना समय अच्छा व्यतीत कर सकता है और साथ ही शरीर भी ठीक चाहिए, संयम भी ठीक चाहिए। अच्छा और समागममें रहे तो वहाँ कमसे कम इतना ध्यान तो होना ही चाहिए कि जब जिससे बोलें, व्यवहार करें तो एक बार यह तो समझ लें कि यहाँ भी परमात्मस्वरूप विराजमान है जिससे हम बात कर रहे। चाहे कुछ पागलसा लगता हो, चाहे कम बुद्धिवाला हो, चाहे प्रतिकूल मार्ग वाला हो, चाहे किसी ढंग का हो, पर एक बार तो उसमें अपना इतना ध्यान बनायें कि यहाँ एक अपना

जैसा सहज परमात्मस्वरूप है। तो प्रत्येक जीवमें सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन करके फिर उसके प्रति विनयशील बनकर वार्तालाप करें।

जीव में परमात्मस्वरूप के दर्शनसे तथा विकारपरिणामको कर्मविपाकलीला समझ जाननेसे असंतोष का निरसन–परमात्मस्वरूपका दर्शन बहुत बड़ा तपश्चरण है, अपनी कषायों की बलि पहले देनी होती है तब ऐसा व्यवहार बन सकता है कि जीवोंमें परमात्मस्वरूपका ध्यान करे, उसके प्रति विनयशील रहकर व्यवहार करे और उसका व्यवहार उचित बनता है और फिर जिसने परमात्मस्वरूपका दर्शन किया वह दूसरे जीवके प्रति यह सोचता है कि यह तो केवल शुद्ध चैतन्यस्वभावी है। भीतर में स्वरूप जब खुद है, अस्तित्व है उस परमार्थ सत्का स्वरूप क्या है? केवल ज्ञानज्योति। निजके अस्तित्वमें विकार है क्या? वह तो स्वयं निरपेक्ष जैसे पारिणामिक भाव वाला होना चाहिए, सो ही है। तो जब दूसरे जीव में परमात्मस्वरूपका दर्शन किया तो उसका ध्यान बनावें कि यह है सहज परमात्मतत्त्वरूप। जीव तो शुद्धस्वभावी है। उसमें विकार अपराध का काम नहीं। देखो दूसरे को देखकर ध्यान जाता है कि अपराधी है, दोषी है, न कुछ है, बुद्धिहीन है, इस प्रकार का भाव जाता है तो क्षोभ होता है। और जब यह विचार कर लिया दूसरे जीवके प्रति कि यह तो शुद्ध ज्ञान वाला है अर्थात् अपने स्वरूपसे अपने ही सत्त्वके कारण स्वयंमें विकार नहीं होता और खुद जो मेरा स्वरूप है बस वैसा ही मसत्र इसका स्वरूप है। उसमें अपराध का क्या काम? दूसरे जीवको देखकर बात कही जा रही है––भीतरकी बात, ऊपर की बात। जैसा दूसरे जीवको देखा उसके भीतरकी बात निहारी, बाहरको बात निहारो। तो भीतरकी बात तो यों कि अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण तो वह एक प्रतिभास मात्र है और प्रतिभासन का काम जाननहार है। उस ओर से अपराध का कोई काम नही। अपराध मायने विकार। जो अपने आपको शुद्धि से अलग करे, तृप्ति से अलग करे, कल्याणसे अलग कर दे, वही तो कहलाता है अपराधी। तो वह क्या है अपराध? विार। तो ज्ञानी सोच रहा है जीवको निरखकर कि यह तो शुद्ध चेतनास्वरूप है अर्थात् स्वरूपतः यह अविकार है। इसमें विकार अपराधका काम नहीं। अच्छज्ञ और बाहरमें तो सब दिख रहा है कि यहाँ रागादिक कुटेव रहा करती, खुद अनेक विकल्पोंमें चल रहा है। क्रोध भी है, मान भी है, माया भी है, लोभ भी है, वचन बड़बड़ाहट है, नान प्रकार की देह चेष्टायें हैं। तो ये सारे विकार अपराध दिख तो रहे हैं, सो कहते हैं कि जो कुछ दिख रहा है वह सब कर्मविपाकका खेल है, कर्मविपाकका नाच है। स्वयं तो एक ज्ञायकस्वरूप ज्ञानमात्र परमात्म तत्त्व है, ऐसा दूसरे जीवमें कोई निरखे तो फिर उसके प्रति इसे असंतोष न होगा। दूसरेकी विकट क्रिया को देखकर खुदमें असंतोष होना यह ही तो दुःखका कारण बनता है। तो ऐसा ज्ञान बनाना कि दूसरे को देख कर हमको असंतोष ही न हो। तो दूसरे को किस तरह देखें कि हम असंतोषमें न रहे, बस वे ही दो बातें हैं भीतरमें, तो देखो कि यह तो अपने स्वरूपमात्र है, इसमें विकार अपराध नहीं है, फिर इसमें हमको असंतोष क्यों? ऐसे अंतस्तत्त्वकी साधना तो हमारी प्रसन्नताके लिए है। अब बाहरकी बात देखो तो जो बाहरमें चेष्टायें हो रही हैं, दोष हो रहें, विकार जग रहे हें, वह सब कर्मविपाकका प्रतिबिम्ब है और उसमें भूल गया, अज्ञान कर लिया, उस प्रतिफलनमें लग गया, सो यह कर्मका खेल है। इसका क्या अपराध? दोनों दृष्टियोंमें जीवको निरपराध देखनेकी जो कला है बस उस कलासे असंतोष दूर हो जाता है।

सहज अन्तस्तत्त्व के परिचय से निर्बाध होकर स्वरूपमग्न होनेका अनुरोध––जिसकी आत्माके सहज अन्तः स्वरूपका परिचय हो गया उस पुरुष को अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि करना लीला मात्र है, और जिसका अन्तस्तत्त्वका परिचय न हो वह कोई सरल पुरुष धर्मके नामपर

भक्ति करे, ब्रत करे, तप करे, संयम करे तो पाप करने वाले से तो भला है ही। हां, सम्यक्त्व नहीं है, इसलिए वह मोक्षमार्गमें नहीं आता। ऐसे जीवको क्या यह कहें कि तू व्रत, संयम छोड़ दे, ये विकार हैं, ये कामके नहीं हैं, पहले तू सम्यदर्शन ही धारण कर। तो लो अब उन्हें छोड़कर बांह पसारकर सम्यग्दर्शन धारण करने चलेंगे तो कर लेंगे क्या? अरे उन्हें सम्बोधो कि तुम जो कर रहे हो सो ठीक है, मंद कषाय है, सुगति का कारण है, यह धार्मिक वातावरण का एक आधार है, पर तुम इसमें तृप्तम त होओ। अपने अन्तः खोजा, सहज ज्ञायकस्वरूपको उसमें लगाते हुए उसका आनन्द पावो तो उन्हें अन्तः प्रयोग के लिए उत्साहित करना है। दुनिया अन्तस्तत्त्वका निरीक्षण नहीं करती। धार्मिक व्यवहार जो होता है वह सब प्रवृत्तिमेां है। यदि प्रवृत्ति का लोप कर दिया जाय तो इसके मायने हैं कि जो भावी सन्तान होंगे समाजमें, उन सब पर अदया की है, क्योंकि वे फिर कोई पेट से सीखकर तो आये नहीं निश्चय की बात। अरे जो निश्चयकी बात सीखी है, वह देखो व्यवहारमें था। माताके साथ मंदिर आये, विनय सीखा, गुरुजनों की भक्ति में रहे, अनेकानेक बातों में रहे और आज हम सीख गए परमार्थकी बात तो हम दूसरों को तो उल्झनमें नहीं लगायें। जैसे हम बने वैसे ही दूसरों को बतावें। तो प्रवृत्ति और व्यवहार इन सबको करते हुए में एक भीतरका ज्ञानप्रकाश बनानेका ध्यान रखें। मैं आत्मस्वरूपको जानूँ, आत्मस्वरूपमें तृप्त होऊँ, इसमें कौन बाधा देगा? प्रभु की भक्ति करें, संयम करें, व्रत करें, चारित्र को न खोवें, तो क्या ये आत्माके सम्यक्त्व में बाधा डालते हैं? अरे ये कार्य तो एक मंदकषाय वाले हैं, इनमें बाधाका सवाल ही क्या? बल्कि ये तो पात्र बनाते हैं।

अब हम अपना ज्ञानबल बढ़ावें और अपनेको ज्ञानस्वरूप निहारें और अनेको ज्ञानमात्र निरख़ाकर अपने आपमें प्रसन्न होवें। यह अपना भीतरी पुरुषार्थ बनावें। काम देगा भीतरी पुरुषार्थ। बाह्य बातें तो साधना के लिए हैं। तो ऐसा जो एक आन्तरिक पुरुषार्थ है उस पुरुषार्थकी ठीक व्यवस्था और प्रयोग बनाने के लिए पहले जो एक बाधा थी ना बहुत समागममें रहनेकी वहाँ पहले शुद्धता बनावें और समागम की शुद्धता तब बन पायगी जब हमारे चित्तमें ये दो बातें जंच जायें कि ये जीव, समागममें आये हुए लोग अंतगरंग में तो अविकारस्वरूप हैं, निरपराध हैं, प्रभु समान हैं और बाहरमें जो कुछ हो रहा है वह सब कर्मका नाच है, यह तो निरपराध है, ऐसी दृष्टि रहे और फिर व्यवहार चले तो योग्य व्यवहार बनता है। जैसे हो हमारे मुक्तिके मार्गमें बाधा न हो और निकट कालमें हम सर्वझंझटों से छुटकारा पाकर एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूपमें ही तृप्त रहें, ऐसा हमारा प्रोग्राम और निर्णय होना चाहिए।

(37)

ळलाहल विषपानसे तो इसी भवमें एक बार मृत्यु होती है, विषयविभोगसे अनेक भवोंमें मृत्यु होती रहती है अतः बार–बार मृत्युका काम तजकर, ज्ञानामृत पीकर अमर हो जावो।

ळालाहलविषपानसे एक भवमें मरण और विषयविषभोगसे अनेकभवोंमें मरण––ये संसारी प्राणी मृत्युसे बहुत भय खाते हैं। हरएकका अनुभव बता रहा होगा कि इस जीव को सबसे बड़ा डर है तो मरणका, पर एक अचम्भेकी बात है कि यह जीव एक मरण का डर करता है, अनेक मरणोंका डर नहीं करता। जिस भवमें यह जीव है उस भवके मरण का भय है इसे, पर अनेक जन्म मरण होंगे, उसका ख्याल ही नहीं करता, भय भी नहीं करता याने संसारमें रुलनेसे इसको वैराग्य नहीं है। हमको आगे कभी जन्ममरण न धारण करना पड़े, ऐसी बात चित्तमें नहीं समाती। बस जिस भवमें गया उस भवका मरण न चाहिए। अब यहाँ यह बात देखो कि एक भवमें मरण किस कारण होता है, भव–भवमें मरण किस कारण

होता है? एक भवका मरण निश्चयसे तो आयुकर्मका क्षय होनेसे होता है, पर बाह्य साधनोंमें रोगसे हो, विषपानसे हो, शस्त्र छेदसे हो, अनेक साधन होते हैं, तो यहाँ किसी एक खास कारणको लीजिए। मानो विषपान, विषका भक्षण करनेसे जीवका मरण होता है याने यह छूटता है, सो ठीक है और अनेक भवोंमें मरण किस कारणसे होता? इन्द्रिय और मनके विषयके भोगने से आगे भव–भवमें मरण होता है। तो यहाँ दो बातें सामने हैं। हालाहल विषके खानेसे तो एक बार मरण होता और विषयभोग, विषय साधन मौजसे भव–भवमें मरण होता है। तो अब जरा यहाँ छंटनी तो करो। एक बार मरण हो ले वह चाहिए या अनेक बार मरण करते रहना पड़े वह चाहिए? वहाँ एक सीधे गणित के हिसाबसे तो झट कह देंगे कि भव–भवमें मरण होना अच्छा नहीं, मगर दिलसे तो पूछो, भव–भवके मरण होनेके साधनमें राग करते हो या नहीं? और एक भवके मरणके साधनमें राग नहीं करते। विषसे सब कोई भय खाता है, विष न खाना, मगर विषयोंसे कोई नहीं डरता कि विषय न भोगें। तो विषके भक्षण करनेसे तो इस हो भवमें एक बार मृत्यु होती है, किन्तु विषयविषोंके भोगनेसे अनेक भवामें में मृत्यु होती है।

बरबार मरणके कामसे विरक्त होकर भवरहित होनेका उपाय करनेका अनुरोध––अब क्या करना है? बारबार मरण होवे, ऐसा काम नहीं करना है। बारबार मरण होनेका साधन क्या है? इन्द्रियविषयोंको भोगना। ये ही रोजके काम बन रहे––रोज खाते हैं, रोज स्वाद आता है, रोज अच्छा लगता है, रोज नया–नयासा जंचता है, उससे ऊब नहीं आती, वैराग्य भी नहीं बनता। यह तो भव–भवका भोग है। इसमें नवीनता क्या है तो विषयोंके भोगके अनुरागसे तो भव–भवमें मरण होता, तो उसका अनुराग छोड़ें याने बारबार मरणका काम छोड़ देवें और वस्तुके स्वभावका ज्ञान करें, यही है अमृतका पान। तो ऐसा ज्ञानामृत पीकर अमर हो जावें। अमर तो हैं ही सब जीव। कोई भी पदार्थ मरता नहीं है, पर यह जीव कल्पनामें समझता है कि मैं मर गया, एक इस शरीरसे निकलकर चला उसको यह मरण मानता है। वस्तु तो जो है सो ही है। आत्मा तो ज्ञानदर्शनात्मक है वह अपने सत्त्वको कैसे त्यागेगा? अविनाशी है, सदा रहने वाला है। बस अज्ञानी जन शरीरके वियोग को मरण मानते हैं और इस शरीर वियोगका भय खाते हैं, यह सब अज्ञानका प्रताप है। मरण समय में भय किस बात का? और मरण समय में भय मानने से क्या मरणसे छुटकारा मिलता है? लोग मरण समयमें भय करते हैं तो अज्ञज्ञनमें मान रखा था ना कि मेरा प्रताप है, मेरा वैभव है, मेरेको परिवजनसे, मित्र जनोंसे बड़ा आनन्द आता है। विषयोंको भोगते रहे, उनमें मौज मानते रहे, अब परिचित यह समागम कुछ नहीं रहनेका है, मिट जाने वाला है। वियोग होगा, इस जीवको अकेले जाना पड़ता है।

ते इन समागत पदार्थोंमें मोह रखने के कारण इसको क्लेश होता है, अब जब यह ज्ञानामृत पर लेवे याने मैं सहज चैतन्यस्वरूप हमं, चेतनामात्र प्राण है, यह चैतन्य प्राण मेरे से एक क्षण भी अलग नहीं होता, चैतन्यमय ही मैं हूं, मैं कुछ अलग चीज नहीं हूं, मैं कोई अलग हूं और फिर मुझमें प्राण आयें, ऐसा है ही नहीं। अरे चैतन्यस्वरूप ही यह जीव है। जहाँ इसने जाना कि मेरा स्वरूप तो चेतनामात्र है तो ऐसे बाह्य पदार्थोंके वियोग का दुःख न होगा। उसके तो दृढ़ निर्णय रहेगा कि जो मेरा प्राण है वह मुझसे कभी छूट नहीं सकता। जो मेरा प्राण नहीं, किन्तु परिस्थितिवश संयोगको लिए बन गए वे मेरे प्राण नहीं कहलाते। तो यह दृष्टिमें एक मोटी बात रही कि हलाहल विषपान हो जाय, शस्त्रसे सिर छिद जाय, ऐसी स्थितियाँ विषयविष भोगनेसे अच्छी हैं, क्योंकि विषपान आदिकसे तो एक भवमें मरण होता और विषयविष भोगसे भव–भवमें मरण होता। तो अनेक बारके मरणका

काम छोड़ें और अपने आपका जो निज सहजस्वरूप है उस ज्ञानको पाकर अपनेको अमर अनुभव करें।

(38)

कोई पुरुष कैसी ही लौकिक उन्नति कर रहा हो, उसकी आकांक्षा मत करो, वह सब तो मायाजाल है, विपरीत परिश्रम है, अनर्थकारी है। निज ज्ञानानन्दधाममें बसकर तृप्त होओ व सहज आनन्द भोगो।

दूसरों की उन्ननि देखकर आकांक्षा करनेकी विडम्बना––इस मनुष्यलोकमें इन मनुष्यों को एक बैठे–बैठेका कठिन दुःख बड़ा गजबका है और व्यर्थका है। वह क्या दुःख है कि अनेक लोग उन्नतिमें बढ़ रहे हैं, कोई करोड़पति बन रहा है, किसीका सरकारमें बहुत बड़ा प्रभाव बन रहा, किसीके विद्याचातुर्य इतना विशेष हो गया कि सब लोग प्रायः उससे हार जाते हैं, ऐसी कुछ लौकिक उन्नतियाँ दूसरेकी कोई देखता है तो यह जीव अपने लिए उस लौकिक बड़प्पन की इच्छा कर बैठता है। यह जीवमें बहुत दुःख है। कोई बड़ा धनी बन रहा तो बनने दो। बहुत धन हो गया तो यह समझ लो कि वह बहुत अधिक कीचड़ में फंसा हुआ है। रहता तो किसीका कुछ नहीं। कोई बहुत बड़ा धनिक हो गया तो उसके भी कुछ साथ नहीं रहनेका, कोई गरीब है उसके भी साथ नहीं रहनेका। आखिर फैसला तो एक है। चाहे धनी रहे, चाहे गरीब रहे, जितने दिनका जीवन है उतने दिनका काल्पनिक सुख है। आखिर फैसला एक है कि करोड़पति हो तो उसे भी छोड़कर जाना है, खोमचा वाला हो तो उसे भी अपनी सारी चीजें छोड़कर जाना है। फिर यह लौकिक उन्नतिकी आकांक्षा क्यों? दूसरे लोग धनमें, यशमें, कलामें बढ़ रहे हैं तो कौन सी बड़ी करामात पा ली है? यह तो संसारका एक संसरण है, रुलाव है। उसमें इस जीवको क्या मिल गया? तो किसी को लौकिक उन्नति देख करके आकांक्षा न करना, क्योंकि आकांक्षा ही दुःख है।

इच्छा के परिहार बिना परमविश्रामकी असम्भवता––भैया! बाहर अपना कुछ नहीं है। जो इच्छा है उसीका नाम दुःख है। दुःख से बचना है तो इच्छा मत करो। इच्छा दुःख है सो देख लो। जब छोटे थे, बचपन था तबका जीवन कैसा सुखमय था, सबको अपना–अपना मालूम है और जो वर्तमान में बालक हैं उनको देख लो, दुखसे बचे हुए तो न थे। दुःख तो था ही। इच्छा उनके भी थी। मगर जिस ढंग की इच्छा अब जवान और बूढ़ोंके चल रही है उस इच्छाको ऐसा पकड़ लेते हैं कि छोड़ ही नहीं सकते। ऐसी परिस्थिति बना ली है। ऐसा इच्छायें बचपनमें नहीं रहती। सुबह इच्छा की, घंटे भरमें भूल गये, मगर अब जो इच्छा चलती है आपकी वह तो कभी भूलती ही नहीं। रात–दिनदिलपर सवार रहती है तो देखो इच्छा ही तो दुःख है। बालक थे तब और तरह कीं इच्छा। वहाँ बिल्कुल बेढंगी इच्छा, मग रवह इच्छा घर न करती थी, बस यही बचपनकी विशेषता थी। बालक तो ऐसी इच्छा कर बैठे कि जिसकी पूर्ति होना ही असम्भव है। जैसे एक घटना है कि एक बच्चा इस बातपर मचल गया कि हमको हाथी चाहिए। हाथी वाले से कहकर उसके पिताने द्वारपर हाथी खड़ा करवा दिया। फिर बालक इस बात पर मचल गया कि हाथी हमको खरीद दो। तो पिताने हाथीको अपने बाड़े के भीतर खड़ाकर दिया और कहा––लो बेटा खरीद दिया। फिर वह बालक मचल गया कि इस हाथी को हमारी जेब में धर दो। भला बतलावो, उस बालक की इस इच्छा की पूर्ति कैसे हो सकेगी? तो जैसे उस बालकने अटपट इच्छा की, ऐसे ही ये बड़े–बढ़े लोग भी तो अटपट इच्छायें कर रहे हैं। अब किसी पर पदार्थ पर किसीका कुछ अधिकार है नहीं कि वह उसकी इच्छा के अनुसार ही परिणमन करे, और वह चाहता है अपनी इच्छा के अनुसार परिणमन। जब उसकी इच्छाके अनुसार बात होती नहीं तो उसे दुःखी होना प्राकृतिक बात है। अब तो एक ऐसा

ज्ञान बनावें कि ये इच्छायें न जगें। ऐसा किए बिना किसी को आराम न मिलेगा। योगी साधु–संतों की पहिचान ही क्या है? यही तो विशेषता है कि उनके इच्छाओं का अभाव हो गया। सब कुछ जान लिया, सब समझ लिया। इच्छा ही क्लेश है, इच्छा ही डाइन है, इच्छा हो पिशाचिनी है। जो इस जीव के बीच ऐसी लग गई कि इसे चैन नहीं लेने देती। भला बतलावो––किसी किस्मकी इच्छा करें तो क्या बिगाड़ होता है सो बतलावो। जिसके मनमें जिसकी इच्छा हों वह इच्छा न करे तो क्या बिगड़ता है? क्या विपत्ति आती है? क्या कष्ट होता है? फिर क्यों नहीं इच्छा का त्याग करते?

मायाजालके लगाव का महान् क्लेश––जीवोंको यह महान् दुःख लगा हुआ है, लोगों को देखते हैं, पुण्यके उदय हैं। जिसका जैसा उदय है उसके अनुकूल उसका वैभव, उसकी चला, प्रतिष्ठा, उसका अधिकार, उसका प्रभाव। उसे निरखकर यह इच्छा जग जाती है कि मेरा भी ऐसा प्रभाव हो, मेरे भी इतना वैभव हो, बस इस इच्छा के कारण इस जीवको निरन्तर क्लेश रहता है। सो भाई इच्छा के बारे में ठीक निर्णय बनावें। इच्छा क्या चीज है? इच्छा क्या कोई वास्तविक वस्तु है, परमार्थ सत् है या माया जाल है। वे इच्छा तो मायाजाल है, कर्मका उदय हो, उसकी अनुभूतिका प्रतिफलन हो और उसमें इस जीवने विकल्प बनाया, इच्छा बन गई, तो यह मायाजाल है। यह कोई परमार्थ वस्तु नहीं, जीवका स्वरूप नहीं, यह तो कृत्रिम चीज है। कर्मविपाकके प्रसंग में इच्छाका जागरण है। यदि मायाजाल मालूम पड़ जाय तो उससे कोई मोह नहीं रखता। यह तो मायाजाल है, इससे क्या मोह रखना? बादल कभी–कभी देखते हैं तो उनमें शक्ल बन जाती है। हाथी की, घोड़ेकी, पालकी की या मन्दिरकी, मकानकी, उन बादलों में शक्ल बन जाती है। तो उन शक्लोंको देखकर कोई रीझता भी है क्या? बादलका फैलाव है, यह मायाजाल है। आधा मिनटमें शक्ल बिगड़ जाती। तो जैसे बादलका आकर मायाजाल है, ऐसे ही जो खुदमें इच्छा जगती है वह भी मायाजाल है। उस इच्छाको छोड़ें और सुखी हो लें। तो यह इच्छा मायाजाल है, जो विपरीत परिश्रम है, उल्टा काम है। इच्छासे तो बनता है क्लेश और यह इच्छाको समझता है सुखकी चीज। इच्छा करता है सुख साधन मानकर तो दुःखी होता है।

विडम्बनाओं का मूल इच्छा––एक पुरुष नारियल खरीदने गया, बाजार में पूछा–– नारियल कितने का दोगे? 8 आने का। अरे 4 आनेका नहीं दोगे? 4 आनेका लेना हो तो नागपुर चले जावो। नागपुर गया। वहाँ पूछा––नारियल कितनेका दोगे? 4 आनेका। 2 आनेका नहीं दोगे? अरे दो आनेका लेना हो तो पूना चले जावो। पूना गया, वहाँ पूछा–नारियल कितनेका दोगे? दो आनेका। 1 आनेका नहीं दोगे? अरे एक आनेका लेना हो तो मैसूर चले जावो। मैसूर गया, पूछा नारियल कितने का दोगे? 1 आनेका। दो पैसे का नहीं दोगे? अरे 2 पैसे भी क्यों खर्च करते? पासके इन पेड़ों पर चढ़कर चाहे जितने नारियल तोड़ लावो। वह पहुंचा एक नारियलके पेड़ के पास। पेड़पर चढ़ गया, नारियल भी तोड़ लिया, मगर उसके दोनों पैर ऐसे फिसल गए कि वह उस पेड़ पर लट गया, उतर ही न पाये। वहाँसे निकला एक हाथी वाला। सो हाथी वाले से वह बोला––भाई हमें उतार लो, हम तुम्हें 500) देंगे। उस हाथी वालेने हाथी पर खड़ा होकर उसके पैर पकड़कर उतारना चाहा, पर वह उसे पकड़ न सका, क्योंकि वह करीब 1 बिलस्त ऊँचा था, सो उचककर उसके पैर पकड़ लिये, इतनेमें हाथी खिसक गया, वह भी उसी में लटक गया। अब दो व्यक्ति लटक गए। फिर वहाँ से निकला एक ऊँट वाला। वे दोनों ऊँट वाले से बोले–भाई हम दोनों को इस पेड़ से उतार लो, हम दोनों तुम्हें ये पाँच–पाँच सौ रुपये देगे। ऊँट वाला भी उसे पकड़नेको हुआ, पर करीब एक बिलस्त दूर होनेसे उचककर पकड़ लिया, इतने में ऊँट खिसक गया। वह भी उसी में लटक गया। अब तीन पुरुष एक

दूसरे के पैर पकड़कर लटके रहे। इतने में आया एक घोड़े वाला। उस घोड़े वाले से वें तीनों बोले––भाई हम तीनों को उतार दो, हम तीनों ही तुमको पाँच–पाँच सौ रुपये देंगे। सो उतारने का प्रयास किया। तो घोड़ा भी खिसक गया और वह भी उसीमें लटक गया। अब चारों ही एक दूसरे के पैर पकड़े लटके हुए थे, चारों ही एक दूसरे से कह रहे थे––भैया! ऊपर वालेके पैर नहीं छोड़ देना, नही तो गिरकर मर जायेंगे। हम तुम्हें 500) देंगे। भला बताओ उनकी कितनी विडम्बना बन गई? इस विडम्बना का मूल कारण बनी इच्छा। रात दिन यही बात देख लो। यह इच्छा इस जीवके दुःखका कारण बन रही है। तो भाई इस इच्छा को मेटो, 'देख पराई चूपड़ी मत ललचावे जीव, रूखा, सूखा खायके ठंडा पानी पीव।।' अरे दूसरों का ठाट बाट देखकर उसकी इच्छा न करो। यह इच्छा तो इस जीवका महा अनर्थ करने वाली है। जो जगत में फंसा सो इच्छाके कारण फंसा। जिसके इच्छा नहीं वह पूरा अमीर और जिसके इच्छा बनी है वह पूरा गरीब।

इच्छा विनाशक ज्ञान का स्फुरण––इच्छा त्यागें और ऐसा ज्ञान बनावें कि जिससे अन्दरमें इच्छा ही न जगे। वह उपाय क्या है जिससे कि इच्छा न जगे? वह उपाय वचनों से तो बता दिया जायगा, मगर बनेगा करनेसे। उसका प्रयोग करें। उपाय तो यह है कि अपने सहज ज्ञानस्वरूपको समझ लें कि वह अविकार है। और जगतके सब पदार्थोंसे अत्यन्त निराला है। इतनी बात ज्ञानमें आये तो इच्छा न बनेगी। ज्ञानमें लगाव कैसे आयगा? उसका प्रयोग बनायें, वस्तु स्वभावका अध्ययन करें उस तरह अपने भीतरसे ज्ञानकी प्रक्रिया बनायें, अनुभवमें आ जाय कि अहो मैं तो ऐसा अलौकिक ज्ञान और आनन्दका धाम हूं। लेकिन इसे न पहिचानकर अब तक जगतमें यत्र तत्र भटकता रहा। तो अपने ज्ञान और आनन्दको निधिको संभालो। ये बाहरके रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले पदार्थ ये निधि नहीं कहलाते, ये तो अत्यन्त निराले हैं। इनमें लगाव लगाने से तो इस जीवकी बरबादी है। ये निधि नहीं कहलाते। निधि तो है अपनेमें ज्ञान और आनन्दकी। स्वरूप ही ऐसा पड़ा है, तो बाहरमें मत ललचाओ। बाहरमें कोई वैभवान दीख तो उसे तो दयाका पात्र समझो। यह बड़ा दुःखी है, यह तो दयाका पात्र है। इन बाहरी जड़ वैभवों में दिल लगाकर अपनेको बेचैन किया जा रहा है। यह तो दुःखी जीव है, सुखी नहीं है। लौकिक उन्नतिमें बढ़े हुए लोगों को ऐसा देखो। उनको देखकर उन्हें दयापा़ समझो। और अपने आपके स्वरूपमें ज्ञान और आनन्द की निधि निरखें और स्वयं अपने आप यहीं बसकर तृप्त हो जावें। मैं तृप्त हूं। मेरेमें क्या कमी है? जो बाहरकी चीजें हैं वे कभी मरती नहीं, जो जिसका स्वरूप है वह कभी छूटता नहीं। तो जिसने अपने निज स्वरूप ज्ञानानन्द स्वरूपकी परख करली वह यहाँ ही बसकर तृप्त रहता है। तो जो अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमें तृप्त रहेगा वही अविनाशी सहज आनन्द प्राप्त करता है। तो हे भव्य पुरुष, हे आत्मन्! इस अधेरनगरी में तुम अपने को समाधानरूप बनाये रहो। जगतमें कोई कितनी ही आशा बना रहा हो? तुम ऐसा बड़ा बनने की चाह मत करो। वह उनका बड़प्पन नहीं है। वह बरबादी का स्थान है। बड़प्पन तो साधुसंत त्यागी जनोंमें दिखेगा। जिनको जगतके वैभवों की कुछ चाह नहीं, जो अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूपको निरखकर तृप्त रहा करते हैं, ऐसे योगी जन ही महान् कहलाते हैं। जगतके वैभवोंमें पड़ा हुआ पुरुष महान् नहीं कहलाता है। तो उन्हें देखकर इच्छा न करें। इच्छा व्यर्थ है, अनर्थ है, उससे हटकर अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूपकी सुध लें, उसही में तृप्त रहें और उसमें तृप्त रहकर जो अपना एक सहज आनन्द है उसका अनुभव करें। देखो आनन्द तो मिलता है सहज और संसार के दुःख मिलते हैं बनावट करके, परिश्रम करके और आनन्द मिलता है बिना दिखावट, बनावट तथा सजावटके। परिश्रम न करें, सत्य आराम पाकर मिलता है अविनाशी सहज आनन्द। तो इन काल्पनिक

सुखोंकी चाह न करें। काल्पनिक सुखोंका जो साधन है, इच्छा है उसे अपवित्र समझकर उससे भी हटें और अपनेमें तृप्त जो ज्ञानानन्द स्वभाव है उस ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि रखकर अपनेमें आनन्द प्राप्त करें, यह ही है ज्ञानामृत, जिसका पान करके जीव अमर होता है सर्व आनन्दसे सम्पन्न हो जाता है। बाहरमें कुछ मत पूछो, सर्व कुछ खोजो अपने आपमें। बाहर की चीज मत ग्रहण करो, जो अपने आपमें सहज है, सत्य है, अपने ही सत्वके कारण है उस स्वरूपको ग्रहण करें और उस ही स्वरूपमें अपने आपकी आस्था बनावें। मैं यह हूं, मैं अन्य कुछ नहीं हूं। यहाँ ही जो ज्ञानमें साधारणतया ज्ञानका आउैर अनाकुलता का अनुभव हो रहा है वही मेरा सत्य व्यापार है। बस यही वृत्ति मेरी रहे, अन्य वृत्ति मुझें न चाहिए।

(39)

धन इज्जत वैभवको आकारण जोड़े चले जानेकी क्यों मूर्खता कर रहे हो? परिग्रह जोड़–जोड़कर आखिर करोगे क्या, छोड़ना तो पड़ेगा ही। अभीसे ही परतत्त्वकी ममता तेजकर अनाकुल शान्त हो लो।

लोकवैभवके संगका दुष्परिणाम––लोकमें मनुष्योंको जो कुछ भी मिल रहा है धन कीर्ति, वैभव, इज्जत, उन्हीं के बारे में कुछ विचार करें कि इसका प्रयोजन क्या है? इसके मिलनेसे, रहनेसे, बढ़नेसे मेरेको कौनसा लाभ है? तो विचार करते जाइये। धन बढ़ गया, खूब जुड़ गया तो उससे क्या लाभ मिलनेका? हाँ लोग सोचेंगे कि लाभ कैसे नहीं है? बड़े हैं, बड़े सम्बन्ध होंगे, समाजमें प्रतिष्ठा रहेगी और सुखसे जीवन यापन होगा। यह तो प्रश्न किया जा सकता है, समाधान दिया जा सकता है। तो विचार करो कि बहुत धनी हो जाने पर यही तो सोचा जाता कि बड़े–बड़े घरोंमें रिश्तेदारी होगी। हो गई रिश्तेदारी तो उससे आत्माको क्या मिला? अजी अपनी बच्ची बड़े घर गई, बच्चा बड़े घर व्याहा गया। तो उससे आपको क्या लाभ मिला? अच्छा तो पहले तो यह ही अज्ञान कि मेरी बच्ची, मेरा बच्चा, अरे जिसका भाग्य है, अपने–अपने कर्मका उदय है, वैसा उनका भवितव्य है। दूसरी गल्ती यह कि उनपर कुछ मनमें बात रखी कि हमारे करने से होगा। तीसरी बात जितना यह जीवन मिला है क्या इतना ही सब कुछ है? जीवन समाप्त, आगे अकेला गया क्या होता है, क्या नहीं होता? पूवभवके भी समागम छोड़कर यहाँ अकेले ही तो आये हैं। पूर्वभवका क्या है यहाँ? ऐसे ही कुछ आज यहाँ हैं, आगे पता नहीं कहाँ होगे? अच्छा और नुक्सान कितना सो सुनो––उसमें विकल्प लगा, उसके सम्बन्धमें अहर्निश चिन्तन चला, तो आत्मा की सुध नहीं कर पाते तो खुद विकल्प विपित्तिमें है। कर्मबन्ध हुए, आगे उदय होगा, जन्म मरण चलता रहेगा। नुक्सान यह सारा हुआ। तब फिर कोई कहे तो क्या करें? धन आये तो क्या कुवेमें डाल दें? बहुत–बहुत धनकी निन्दा की जा रही है तो क्या करें बोलो? अरे कुवेमें डालने की बात नहीं कह रहे और ऐसा बोलनेकी बात नहीं कह रहे। सहज पुण्योदयसे जो आया बस उसकी व्यवस्था बना लें। ऐसा मत बनावें कि इतना और हो, ऐंसा हो। उदयानुसार जो उसीमें अपनी व्यवस्था बनावें। यह कर्तव्य है।

अकारण वैभवसंचयकी अनुचितता––भैया! जो जोड़ने का विकल्प है, संचय करने का जो भीतरमें अनिंश पौरुष रहता है वह सब अकारण है, उसका कोई प्रयोजन नहीं। और जो कुछ प्रयोजन समझा जाता वह सब अज्ञानमें प्रयोजन समझा जाता है। पहला अज्ञान तो यही है कि जिस पर्याय में हम हैं वह हम नहीं, यह मैं हूं ही नहीं, यह मायारूप है। इसको मानें कि यह मैं हूं तो पहली चोट तो यही मिलती है। अज्ञान यही है। तो ज्ञानमार्ग और संसरण मार्ग ये भिन्न–भिन्न हैं। ज्ञानमार्ग और संसारके अपवत्रि संगमख ये दो बिल्कुल जुदे–जुदे हैं, ऐसी चतुराई न चलेगी कि यह भी खूब रहे और वह भी खूब

आये, एक निर्णय बनाना होगा––मुक्तिपद चाहिए या संसार में संसरण चाहिए? तो जैसे धन वैभवकी बातको अकारण जोड़े चले जा रहे ऐसे ही यश प्रतिष्ठा की बात। जितने भवों का सम्बन्ध है उतने समयोंमें ही अपना मन खुश करना, सर्वस्व समझना यह तो भ्रम है, अज्ञान है। आगे क्या होगा उसकी तो कुछ दृष्टि दें। पहले क्या होता आया, इस पर भी ध्यान दो। तो धन वैभव, यश, प्रतिष्ठा जो कुछ भी लोग चाहते, जोड़ते, संचय करते वे सब अकारण। तो हे आत्मार्थी जनो, अकारण ही क्यों इनके पोछे पड़े? कितनी उन्मत्त दशा कि प्रभुभक्ति में मन न लगे। मन्दिर में आते तो एक लोकरीति आदत बनी है तो रोजका रोटीन बना बना है, पर प्रभु मुद्रा को देखकर और प्रभु के स्वरूपका स्मरण कर अपनी सुध लेकर कुद भावभीनी मन में बातें भी होतीं क्या? रोज न सही, पर 5–6 दिनोंमें एक दिन प्रभुदर्शन में भावभीनी बात भी चलती क्या? और चलती है बाह्य पदार्थों की धुन। तो ये सब बाह्य धुन विकार हैं ना, अकारण है, क्या प्रयोजन है, जो इतना उनके पीछे चला जा रहा? जरासे जीवनमें मानी कुछ मोही जीवोंने भला भलासा कह दिया तो इतने ही के पीछे भावुक बनकर निरन्तर वैभवको धुन रहे, अपनी सुध भूल जाय, प्रभुस्वरूपकी सुध भूल जाय तो यह तो कोई बुद्धिमानी नहीं है।

लौकिक बड़प्पन की अविश्वात्त्यता––बड़े–बड़े शूरवीर राजा महाराज सबको अपने–अपने पापका उदय आनेपर उनको पीड़ा सहनी पड़ी। श्रीपाल राजाके पुत्र ही तो थे, और अचानक हो गया कुष्ट रोग तो न जाने कितनी ही पीड़ायें सहन करनी पड़तीं। तो कोई कितना ही लौकिक बड़ा हो, क्या विश्वास रखें कि मेरा सब कुछ भला ही रहेगा। लोकदृष्टि में सब कुछ मौजकी ही बात रहेंगी, ऐसा कुछ विश्वास नहीं। तो यहाँ जो कुछ बड़प्पन मचाया जा रहा वह कितने दिनके लिए, औप उससे प्रयोजन क्या निकलेगा, इस बातपर कुछ गहरा विचार रखना चाहिए और फिर एक बात और है कि कमाई से थोड़े ही कोई कमा लेता। वह तो पूर्वमें पुण्य किया, धर्मभाव हुआ, मंद कपाय हुई, तपश्चरण, व्रत, दया आदिक कोई शुभ भाव हुए, पुण्यबंध हुआ, उदय मिला, सम्पदा हो गई। अरे जैसे किसी करोड़पतिके हाथ पैर हैं, दिमाग है बुद्धि है वही तो दूसरे के भी है, उदयका फैर है। जो आज मूर्खसा भी समझा जाता और उदय आया, वैभव मिला तो वह माह दो माहमें ही बुद्धिमानसा बन जाता है। तो यहाँ कुछ भी चीज आस्थाके योग्य नहीं। और इस वैभव का जोड़ना बिल्कुल अकारण है, निष्प्रयोजन है, वास्तविक प्रयोजन वहाँ नहीं, लेकिन जहाँ मोह वालोंकी संख्या ज्यादह है तो एक दूसरे को पागल कैसे कहे? अगर एक कोई किसी दूसरे को पागल कहता तो उसका अर्थ उसे पागलका नम्बर पहले मिलेगा। तो जब मोही जगत है तो यह सब एक दूसरे का अनुकरण करते हैं और एक यह बहुत बड़ी समस्या है कि थोड़ा बहुत ज्ञान भी जग जाय, आत्महित की भावना भी बन जाय तो भी इस तृष्णा के घेरेसे निकलना यों भी कठिन रहता कि उसी लक्ष्मी के उपासक तो सब बन गए। लक्ष्मी के संचयकी धुन रखने वालोंको क्या बोलते हैं? लक्ष्मीपुत्र। जैसे पुत्र माँ की सेवा करता है वैसा ही लक्ष्मीपुत्र लक्ष्मी की सेवा ही करता है। उसका दान भोग करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। आखिर लक्ष्मी माँ ही तो बन गई और यह पुत्र बन रहा। तो थोड़ा यह ध्यान देना चाहिए कि हम जिन बातों में अधिक चित्त लगाये फिरते हैं उससे लाभ क्या है? क्यों अकारण इस बात के पीछे हम जुटे चले जा रहे हैं?

सारहीन संगमकी उपेक्षा कर आत्महित में लगने का अनुरोध––भैया! अपने हितकी बात खुदको करनी है, खुदमें करनी है, गुप्त होकर करनी है। यहाँ तक भी समझ लें कि न होते आज हम मनुष्य, संसारकी किसी अन्य गति में होते तो मेरे लिए यह सब क्या कुछ था? और लोग क्या मुझे जानते? तब फिर ऐसा हो समझो कि हम तो सबसे अपरिचित हैं।

तो मुझे तो अपनेमें अपना ही काम बनाना चाहिए। तो यह बाहरी वैभव यश इनके अकारण जोड़ते चले जानेका नाम क्या रखा जाय? मूढ़ता। ऐंसी मूढ़ता क्यों कर रहे हो? एक हवेली में नौकर था, नीचे रहता या तो उसकी यह करने की आदत थी कि ''देंगे दयाल तो देंगे बुलाके। कौन जायगा लेने, देंगे खुद आके।'' एक बारक्या हुआ कि ऐसी ही कुछ चर्चा मालूम पड़ी नौकरको कि चोर लोग उस घरमें पीछे दीवार में से छेछ करके चोरी करना चाहते हैं तो वह अन्तर से ही बोला––अरे यहाँ क्यों आये नासके मिटे भींत खोदने, वहाँ उस बड़के पेड़के नीचे जाकर क्यों नहीं खोदते जहाँ धन गड़ा हैं? तो चोरोंने यह आवाज सुनली और वहाँ से चलकर उस बड़के पेड़के नीचे पहुंचे। एक जगह पर गड्ढा खोदना शुरू किया। रातका समय था, काफी गहराई तक खोदने पर उन्हें एक जगह एक हंडा गड़ा हुआ मिला। उस हंडे में अशर्फियाँ भरी हुई थीं, उसका कुछ ढक्कन खोला तो ततइयाँ निकलना शुरू हुआ। ततैयोंने उन्हें काटना शुरू किया तो उन चोरों ने समझा––अरे उस घरमें बोलने वाला वह आदमी तो बड़ा बदमाश निकला, इसमें तो सब ततैये भरे हैं, फिर उसे झट एक तवे से ढांक दिया और मारे गुस्से उसी पुरुषके घरमें ले जाकर पटक दिया, इसलिए कि ये सब ततैया उड़कर उसके घर वालोंको काट लेंगी। वहाँ क्या था? सारी अशर्फियाँ ही निकल पड़ीं। उस नौकरने सारा धन यों ही बिना प्रयास किए पा लिया। तो भाई वह बोला––देंगे दयाल तो देंगे बुलाके। कौन जायगा लेने देंगे खुद आके।'' जब उदय अनुकूल होता है तो पता नहीं कब किस बहाने धन प्राप्त हो जाता है? इन बाहरी बातों की तो कर्मोदयपर छोड़ना चाहिए। लगना चाहिए मोक्षमार्गमें। प्रभुभक्तिमें लगाव, वस्तुस्वरूपके अध्ययन में लगाव, कल्याणके चिन्तनमें लगाव, यहाँ बुद्धि लगाना चाहिए।

विनाशीक वैभ्झवकी धुन त्यागकर अविनाशी आत्मभाव स्वभावमय अपनी प्रतीति रखनेका संदेश––तो हाँ समझायें अपने आपको कि धन वैभव आदिके चक्रमें पड़कर क्यों इसे अकारण जोड़ने की मूर्खता कर रहे हो? आखिर ये सब नष्ट तो होंगे ही। कितना क्लेश है जीवोंको? बचपन से सोचते जा रहे––यों करूँगा, यों चलूँगा और जुड़ भी गया सब कुछ और किन्हीं का गुम भी गया सब कुछ, सब तरहकी स्थितियाँ मिलीं। अब कोई भी स्थिति मिली हो बुढ़ापे तक, उसके मनमें विकल्प रहता, चिन्ता रहता, प्रोग्राम रहता, सब कुछ रहता! कोई सोच भी लेता अजी पाँच वर्ष इसमें और लगेंगे, बादमें झंझट छोड़ देंगे और केवल धर्मसाधना करेंगे और जब वे 5 वर्ष पार हो गए तो सोचते कि 5 वर्ष तो नहीं, मगर दस वर्ष बाद देखेंगे, ऐसा होते–होते फिर फिर नहीं आते। तो एक यह चक्र पड़ा हुआ है जिसमें गर्क होता है और यह धुन, यह ज्ञान नहीं करते कि किसलिए इतना कर रहे? आखिर यह तो मिटेगा ही, आखिर वियोग होगा ही। जो मिलेगा नहीं, जिसको नियम से छोड़ना ही पड़ेगा उस परिग्रह की तृष्णा करके हो क्या रहा है कि यह भव भी ऐसा ही जा रहा है और अगले भविष्यके भव भी ऐसे ही व्याकुलता में जायेंगे इससे कर्तव्य यह है कि इन बाह्य समागमों को बिना प्रयोजन अकारण ही जोड़ने की धुनमें मत लगें। नही ंतो होता क्या है? उदय साथ नहीं दे रहा और थोड़ी–थोड़ी सी बात पर तृष्णा कर रहा, यहाँ तो थोड़ी सी चतुराई बनाकर कुछ पा रहे और कहो दूसरी जगह कुछ से कुछ लुट भी रहा। सब चलता है चलने दो उदयानुसार। तो उदय के पीछे मत भगो। अपने आपको मुक्ति कैसे प्राप्त हो? संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा कैसे बने? उस उपाय में अपना उपयोग लगाना चाहिए।

आत्मन्! प्राप्त यह देह घृणित, भयानक, विनश्वर व संतापकारी है, देहदृष्टि रंच भी हितकर नहीं, प्रत्युत सकल क्लेशों का स्रोत है, देहराग तेज विदेह ज्ञानस्वरूपकी रुचिमें ही कल्याण होगा।

देहानुराग की मूढ़ता––देखिये अनेकानेक नाम करके भी जो कुछ भी श्रम करके जीव विपदा बनाता है, जैसे धन चाहिए, वैभव चाहिए, और–और भी बातें चाहिएँ, उन सब विपदाओंका मूल है देहात्मबुद्धि। देहको समझना कि यह मैं हूं। बस इस बुद्धिपर ये सारी विडम्बनायें आलम्बित हैं। कुछ तो सम्पर्क है। फोड़ा हो जाय, कुछ हो जाय तो यहाँके आज करके ज्ञानी भी आखिर वेदनामें आते हैं, कुछ बात तो है सम्पर्ककी, मगर वह भी सब अज्ञान और निर्बलता के कारण है। कुछ भी कैसी ही घटना हो, कर्तव्य यह ही है कि देहसे निराले विभिन्न अपने स्वरूपको परखें। मैं देहसे निराला यह आत्मा हूं। देहमें और मुझमें बड़ा अन्तर है। देह तो अपवित्र है, घिनावना है और देह जिस भावसे पाया जाता वह भाव भी अपवित्र। लोग तो कोई जरासीट–ट्टी पड़ी हो, कूड़ा पड़ा हो तो नाक भौं सिकोड़ते हैं देखकर और यह नहीं जानते कि ऐसीं जो गंदी चीजें पड़ी हैं, सो वे गंदी चीजें बनी कैसे हैं? कहाँसे निकली हैं? अरे उस गंदगी का स्रोत तो यह देह है, जिस देह से प्रीति करते। तो उस गंदीसे भी गंदा रहा यह देह। अरे जहाँ गंदगी का निर्माण हो उसे गंदी न कहेंगे क्या? तो यह देह तो अपवित्र है और घृणित है, भयानक है। कभी कुछ जवानीमें सुन्दरता सी जंचती है, पर सुन्दरता क्या? जो छोटे–छोटे चमकीले सफेद दाँत सामने दिख रहे वे क्या हैं? अरे वे एक हड्डी हैं। वे मांस के बीच में से जरासा बाहर निकल पड़े, मोती जैसे चमकने लगे तो ये हड्डी ही तो हैं एक तो चमड़ेके भीतर की हड्डी और एक चमड़ेसे बाहर की हड्डी और हड्डी ही नहीं बल्कि हड्डी का मैल। अब समझ लो क्या हैं वे दाँत जो दिखने में बड़े अच्छे लग रहे? अच्छा और देखो–यह चमड़ी, यह रूप भी क्या चीज है? अरे मांस की एक पपड़ी ही तो है। जैसे सूखा माँस हो तो उसमें पपड़ीसी पड़ जाती है ना, तो यही तो पपड़ी है, चाम है, अब तो रूप रहेगा उसका। जिसको आप लोग बड़ा सुन्दर, पवित्र, सुहावना मानते वह क्या चीज है? हड्डी और मांसकी पपड़ी। इतने पर भी विनाशीक। एक तो भयानक दूसरा अपवित्र और तीसरा विनाशीक। कोई कहे कि चलो जितनी देर को देह मिला खुदका और दूसरेका कुछ अधिकारसा मिला, तो इतनी देर तो सुख से रह लें। सो भाई देखो विनाशीक चीज है वह, नष्ट हो जाने वाला है। तो कोई कहे कि नष्ट हो जाने दो। जितनी देर है उतनी देर तो मौज रहेगी। तो उतनी देरका मौज भी संताप करने वाला है। अपने देह में आत्मबुद्धि हो, दूसरेके देहसे कुछ आकर्षण लगाव हो तो संतापको ही करते हैं, शान्ति नहीं पैदा करते।

घृणित भयानक विनश्वर संतापकारक देहसे विरक्त होकर अशरीर अविकार आत्मस्वभावके अभिमुख होनेमें कल्याण––सब लोग अपनी–अपनी गई गुजरी मूर्खताओं की रोकड़ फिरसे देख लेवें? क्या–क्या मूर्खतायें करते रहे, वे सब फिर भी सोच सकते अपनी–अपनी। तो ऐसा यह देह जिसको यह जीव ढोये–ढोये फिरता वह देह घृणित है, भयानक है, विनश्वर है, संताप करने वाला है, इससे स्नेह करना व्यर्थ है। ऐसे देह से लगाव करनेमें हित नहीं है। बल्कि लगाव रहेगा तो क्लेश ही मिलेगा। एक राजा का पुत्र था। वह जा रहा था तो किसी सेठकी बहूपर उसकी दृष्टि पड़ गई, उसे देखकर वह राजपुत्र बड़ा अधीर हो गया। जब किसी दासी ने उससे उदासी का कारण पूछा तो राजपुत्र ने अपना उदासी का कारण उससे बता दिया। तो दासी ने कहा कि तुम्हारा यह काम मैं करवाऊँगी। आखिर गई सेठकी बहूके पास और सारा हाल कह सुनाया। तो वह बहू बोली ठीक है, राजपुत्र से कह देना कि अबसे 15वें दिन वह यहाँ हमारे घर आ जाय। ठीक है।

अब वह बहू तो थी चतुर। उसने क्या किया कि कोई ऐसी चीज खा लिया कि जिससे उसके दस्त आने शुरू हो गए। उसने एक बड़ासा मटका रखा था, जिसमें प्रतिदिन वह दस्तकर दिया करती थी। इस तरहसे 15 दिन बराबर यही काम किया। 15 दिन तक दस्त करने के कारण वह बहू बड़ी दुबली पतली और कान्तिहीन हो गई और दस्तसे वह मटका भी भर गया। उस मटके को बहूने किसी ढक्कनसे बन्द कर दिया और उसको बड़े ही सुन्दर रंगोंसे खूब सजा दिया। जब 15 वें दिन वह राजपुत्र उस बहूके घर आया तो क्या देखता है कि उस बहूमें तो सौन्दर्य का नाम न था बल्कि उसे देखकर कुछ घृणासी पैदा हो रही थी। उस बहूको देखकर राजपुत्र बड़े आश्चर्य में पड़ गया और बड़ा उदास हो गया। उसे उदास देखकर बहू बोली––हे राजपुत्र! आप उदास हो रहे? तो राजपुत्र बोला––देखो मुझे वह सुन्दरता अब नहीं दिख रही जो मैंने 15 दिन पहले देखी थी। तो फिर वह बहू बोली–हे राजपुत्र! आप इतना अधीर न हों, आप जिस सुन्दरता से प्यार करते हैं वह सुन्दरता तो हमने एक जगह छिपाकर रख दी है। अगर आप देखना चाहें तो मै। दिखा हूं? हाँ हाँ दिखाइये। वह बहू राजपुत्रका उस मटके के पास ले गई और बोली––देखो हमारी सारी सुन्दरता इस मटके के अन्दर भरी है। राजपुत्रने उसे खोलकर देखा तो दुर्गन्धके मारे वह घबड़ाकर वापिस चला गया। तो भाई यह देह रम्य नहीं है, यह महा घृणित है, हितकारी नहीं है, बल्कि क्लेश का कारण है। सो भाई इस देह का राग त्याग दो और इस देहरहित जो अपना ज्ञानस्वरूप है, सहजभाव है उसमें प्रीति करो तो कल्याण होगा। इस देहसे प्रीति छोड़ो। इस देहरहित जो आत्माका ज्ञानज्योतिस्वरूप है उसमें 'यह मैं हूं' ऐसी अपने आपको आस्था बनावें, यह ही कल्याणका मार्ग है।

(41)

स्वार्थी तो बनो, किन्तु सत्य स्वार्थकी पहिचान अवश्य कर लो। सत्य स्वार्थ अपने सहज ज्ञानस्वभावमें ज्ञानको रमाकर सहजानन्द पाना है। क्षणिक, भिन्न व तृष्णाके हेतुभूत विषयप्रसंग स्वार्थ नहीं, अनर्थ है।

लौकिक स्वार्थोंकी दुःखबीजता––मनुष्य परस्परमें एक दूसरे को कहते हैं कि यह तो स्वार्थी है, खुदगर्ज है, लेकिन स्वार्थी न हो तो कोई क्या परार्थी हो सकता है? जब संसार के प्रत्येक पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, एकसे दूसरे में अत्यन्ताभाव है तो क्या कोई किसी दूसरे को चाह सकता है अथवा कोई किसी दूसरे का काम कर सकता है क्या? यह बात तो सम्भव नहीं। व्यवहार जो चल रहा है कि हमने तुम्हारा उपकार किया, उसने उसका कुछ काम किया, तो यह सब निमित्तनैमित्तिक भावके आधारपर व्यवहार है वस्तुतः कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका न करने वाला है, न चाहने वाला है और न भागने वाला है, बल्कि और अर्न्तदृष्टि करें तो कोई किसी दूसरे का जानने वाला भी नहीं है, क्योंकि जानने परिणमन खुदका खुदके प्रदेशोंमें ही हो सकता है। ज्ञानक्रियाका प्रयोग बाह्य में नहीं हुआ करता। निश्चय से देखा जाय तो कोई किसी पदार्थका कुछ करने वाला नहीं है। तो जो लोग लोगों को स्वार्थी कहते हैं वे कुछ अपराध तो नहीं करते। ठीक ही तो कहते हैं, पर थोड़ा विचार करना होगा स्वार्थी सब हैं। स्वार्थी ही सबको रहना चाहिए। स्वार्थी होनेमें ही भला है, पर स्वार्थी किसका नाम है इस पर कुछ दृष्टि देनी जरूरी है। स्वार्थी तो बनो किन्तु वास्तविक स्वार्थ क्या है? इसकी पहिचान जरूर रखो। अच्छा इसकी पहिचानसे पहले थोड़ा लौकिक झंझट स्वार्थको भी परख करो। लोग स्वार्थ समझते हैं इस बातमें कि जो 5 इन्द्रिय के विषय और मनका विषय है, कषायें हैं, इनकी पूर्ति बने, इसमें समझते हैं लोग अपना स्वार्थ, अर्थात् कषायोंके भोगनेको लोग स्वार्थ समझते हैं, पर विचार तो करो कि इन इन्द्रियविषयोंको भोगोपभोग, मनके विषयका भोगोपभोग। स्वार्थ कैसा? स्वार्थ नाम है स्वका

प्रयोजन। जिसमें स्वका कल्याण होता हो वह कहलाता है स्वार्थ। तो भोगोंमें स्वार्थ कैसा है–इस बात पर विचार करो पहली बात तो यह है कि ये विषय सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं। इनका जुदा अस्तित्व हैं, इनका परिणमन इनके ही अनुसार है, अत्यन्त भिन्न है। अत्यन्त भिन्न पदार्थ मेरा स्वार्थ कैसे कहला सकते? और फिर क्षणिक भी हैं सब। कुछ देरको हुए हैं, कुछ देर बाद नष्ट हो जाते हैं। तो जो क्षणिक है, नहीं रहते, कुछ काल ही होकर नष्ट हो जाते हैं उनपर दृष्टि जमायें, उनका अनुभव करें, उनमें विकल्प बनायें, उनको भोगें तो वह अपना प्रयोजन कैसे हो सकता है? कोई कहे कि रहने दो भिन्न और रहने दो क्षणिक, मगर जितने काल भोगोंका प्रसंग है उतने काल तो जीव सुखी हो लेता है, सो यह भी बात ठीक नहीं है। जितने काल भोगका प्रसंग है उतने काल यह जीव दुखी रहता है, क्योंकि वह भोग तृष्णा का कारणभूत है। तृष्णाका संग लगा हुआ है। जहाँ–जहाँ तृष्णाभाव लगा है वहाँ–वहाँ क्लेश है तो इन भिन्न क्षणिक विषयोंका भोगोपभोग सुख शान्ति के लिए नहीं, किन्तु केवल कष्टके लिए है। ऐसा विषयोंका संगम स्वार्थ कैसे हो सकता है? वह तो दुःख का ही बीजभूत है।

इन्द्रियविषयोंकी प्रीतिसे बरबादी होनेके कुछ उदाहरण––पुराणोंमें अनेक चरित्र आये। तृष्णा के वश होकर कैसा बड़े–बड़े पुरुषोंने भी अपनी बरबादी की और लौकिक घटना में भी देखा जाता है। स्पर्शनइन्द्रियके विषयकी तृष्णाके कारण हाथी पकड़ा जाता है। जिसका कितना महान् बल होता कि अगर सिंह और हाथी के बल की तुलना की जाय तो हाथी का बल अधिक होता है, पर सिंह होता है फुर्तीला इसलिए दोनोंकी लड़ाई में विजय सिंह की होती है, मगर हाथी यदि सिंह को पकड़ ले तो उसके टूक–टूक कर दे। हाथ का बल बहुत बड़ा बताया गया है, मग रवह भी स्पर्शन इन्द्रियके वश होकर अपनेको गड्ढेमें गिरा देता है और पराधीन बन जाता है, वह कैसे? सो बताया गया है कि जंगलमें कोई बड़ा गड्ढा खोदते हैं शिकारी लोग, उसपर बाँसकी पतली–पतली तंचें बिछाकर उसपर पतली–पतली मिट्टी डाल देते हैं, उसपर एक झूठी हथिनी बनाते हैं और कोई 50 हाथ दूरपर एक दूसरा नकली हाथी उस हथिनी की ओर दौड़ता हुआ सा बना देते हैं। अब जंगल का हाथी इन दोनों कृत्रिम हाथी तथा हथिनी को देखकर हथिनी को अपने विषयोंका साधन जानकर दौड़ता है और आकर उस गड्ढमें गिर जाता है। कई दिनों तक वह भुख प्यासा उसी गड्ढे में पड़ा रहता है। जब वह बहुत शिथिल हो जाता है तो शिकारी लोग उस हाथी को अपने वशमें करनेके लिए गली निकालना प्रारम्भ कर देते हैं, फिर धीरे–धीरे उसका अंकुशके वश करके उसको गड्ढें से बाहर निकाल लेते हैं। तो देखो एक स्पर्शनइन्द्रिय के वश होकर हाथी ने अपने प्राण गंवाये या अपनी बरबादी की। रसनाइन्द्रिय के विषयका उदाहरण प्रसिद्ध है। मछली एक केंचुवा जैसा कुछ मांस के टुकड़े के लोभमें आकर अपने प्राण गंवा देती है। मछली पकड़ने वाले लोग एक लम्बे डंडेमें एक काँटे की तरहका कीला सूतमें फंसाकर तथा उसे काँटेमें माँस पिण्ड फंसाकर पानीमें डाल देते हैं तो माँसके लोभमें आकर मछली उसे खा जाती है। वह काँटा मछलीके कंठमें फंस जाता है और मछली अपने प्राण गंवा देती है तो रसनाइन्द्रियके वशीभूत होकर मछली ने अपने प्राण गंवाये। अब घ्राणेन्द्रियकी बात देखिये––जिस भंवरेमें इतनी शक्ति है कि काठको छेदकर आरपार हो जाय वह भंवरा गंध के लोभ में आकर कमलके फूलके अन्दर सूर्यास्तके समय बंद हो जाता है हाथी आता है और उसे खा जाता है। गंधके लोभमें आकर वह भँवरा कमलके उन कोमल पत्तोंकी भी छेदकर बाहर नहीं निकल पाता। तो देखिये एक इस घ्राणेन्द्रियके वशीभूत होकर भ्रमरने अपने प्राण गंवाये। अब चक्षुइन्द्रिय के विषयकी बात देखिये––चक्षुइन्द्रियके लोभमें आकर पतिंगे दीपकमें गिरकर जल जाते हैं, इसी प्रकार

कर्णेन्द्रियके विषयोंमें आसक्त होकर साँप तथा हिरण ये अपने आपको गायकके द्वारा गिरफ्तार करा लेते हैं। जब कोई बीन बजे, सितार बजे तो साँप और हिरन उसके निकट आ जाते हैं और शिकारी फिर उन्हें पकड़ लेता है। तो एक कर्णेन्द्रिय के वश होकर ये सर्प तथा हिरण अपने प्राण गंवा देते हैं और मनका विषय तो बहुत ही भयंकर है। इस से तो बड़े–बड़े राजाओंने भी प्राण गंवाया। तो ये विषय एक तृष्णाके हेतुभूत हैं ये रम्य नहीं है, और इनके भोगनेको स्वार्थ नहीं कहते। यह अपने कल्याणकी बात नहीं हैं।

वास्तविक स्वार्थ, आन्तरिक स्वास्थ्य, स्वरूपमग्नता के पौरुषका कर्तव्य––भैया! स्वार्थी तो बनें मगर वास्तविक स्वार्थकी बात पहिचान लें। क्या है स्वार्थ, किसमें है मेरा भला? किसमें मेरे आनन्दका प्रयोजन सिद्ध होता है तो स्वार्थ क्या है? वास्तविक स्वार्थ है स्वास्थ्य। अपने आपके स्परूपमें स्थिर हो जाना यह ही है वास्तविक स्वार्थ, क्योंकि स्वरूपमग्नता होनेमें ही जीवको निराकुलता है। स्वरूपसे हटकर बाहरी पदार्थोंमें उपयोग लगाये तो वहाँ इस जीवकी व्यग्रता ही है। जीवका स्वार्थ तो अपने आत्माके स्वरूपमें समा जाना है, विषयोंका संगम स्वार्थ नहीं है, किन्तु यह तो अनर्थ है, याने उल्टा बरबाद करनेका ही कारणभूत है। जगतमें जो जीव अब तक रुलते चले आये वे इन विषयोंकी प्रीतिसे ही तो रुलते चले आये हैं। तो इन विषयोंके संगमका ध्यान छोड़ें और अपने आपके सच्चे स्वरूपका सहज भावका परिचय करके 'यह ही मैं हूं' ऐसा दृढ़ निर्णय करके रह जायें। देखो संसार महा विपदा है। इस महाविपदा से छुटकारा पानेके लिए अपनी भीतर सहज सत्यका दृढ़ आग्रह करना होगा। कोई कुछ कह रहा है उल्टा सीधा, यहाँ दृढ़ आग्रह बनाना है कि मैं तो सहज ज्ञानानन्द स्वभाव हूंख इस स्वरूपमें किसी दूसरी चीजका प्रवेश ही नहीं है। जगतमें कितने ही पदार्थ मौजूद हैं, कभी दिख भी जाते हैं। कभी ध्यानमें आँखें बन्द करके अपने ध्यानमें रहते हैं। उनकी ओर उपेक्षा है, पर ज्ञानी जानता है कि जगतके जितने पदार्थ हैं उनका कुछ भी देखने लायक नहीं है, मेरे हितके साधन नहीं हैं। मेरे हितका साधन है तो मेरे अपने आपके स्वरूपमें स्थिर हो जाना है। तो समस्त विषयोंके संग प्रसंग से दूर होकर अपने आपमें अपने स्वरूपमें मग्न होनेका पौरुष करना कर्तव्य है।

(42)

निज अन्तः प्रकाशमान सहजपरमात्मतत्त्वके दर्शन बिना क्लेश ही पाया, अब ज्ञानधन परमबह्मके प्रसादसे सुबुद्धि पाई तो इसका सदुपयोग कर लो। यदि वह अवसर खो दिया तो न जाने पेड़, कीड़े क्या–क्या हो होकर दुर्दशा भोगोगे।

सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन बिना अनंतकालका व्यर्थ यापन––जरा अपना पिछला इतिहास देखो––आज हम मनुष्य हैं, कबसे मनुष्य हैं? सो लोग जानते है कि हम इतने वर्षसे हैं, अच्छा और उतने वर्षसे पहले हम क्या थे? कुछ भी न थे, यह बात तो हो नहीं सकती, क्योंकि कुछ भी न हों और आज कुछ बन जाय, ऐसा कभी नहीं होता। जो पदार्थ पहले से सत् है उसी पदार्थमें परिणमन अता है। जो सत् नहीं उसमें परिणमान कैसे हो? तो आज हम मनुष्य हैं तो इससे पहले हम कुछ जरूर थे। क्या थे? तो युक्तिसे विचार लो जब अज्ञान लगा है, रागद्वेष लगा है, बाह्य पदार्थों में अपना ध्यान लगा है तो ये जगतके जीव जो दिख रहे हैं इन्हीं में से ही तो मैं कुछ होऊंगा पहले। सूकर, गधा, कुत्ता, बिल्ली, कीड़ा मकौड़ा, पेड़ पौधे, पानी और निगोद, ये ही तो मैं था पहले। कितना काल व्यतीत हो गया खोटे–खोटे परिणमनोंमें? अच्छा कबसे काल है? क्या किसी दिनसे समय प्रारंभ होता कि अमुक क्षणसे दिनका प्रारम्भ हुआ। उससे पहले कुछ न था? समय अनादि है। युक्ति से सोच लो। समय को किसी ने बनाया नहीं। जो कोई ऐसा प्रोग्राम रचा गया हो कि अब तक तो समय कुछ होता ही नहीं, आजसे समय होते रहने का प्रोग्राम है, ऐसा कोई प्रोग्राम

बनाता है क्या? समयकी आदि नहीं। अच्छा, हमारी आदि है क्या कि किसी दिनसे हमारा अस्तित्त्व बना। था नही ंतो बना कैसे? जो असत् है उसका प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? तो हम भी अनादिसे हैं, समय भी अनादिसे है, और हमारी खोटी दशायें भी अनादिसे हैं। खोटी दशाओंको भोग–भोगकर कितना काल व्यतीत हुआ? अनन्त काल व्यतीत हुआ। इतना काल कैसे व्यतीत हो गया, क्यों व्यतीत हो गया? अपने आपमें बसे हुए सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन बिना अनन्तकाल हमने भोगोंमें खोया।

सहज परमात्मतत्त्वकी अन्तःप्रकाशमानता तथा उसके आश्रय का कर्तव्य––जिस परमात्मदर्शनके बिना अनन्त काल हमने बिता डाला वह सहजपरमात्मतत्त्व भी अनादिकाल से अन्तःप्रकाशमान है। देखो कितनी उल्झन है? जैसे कोई घरमें या मित्रमंडलीमें रहता तो है अच्छी तरह। सबका भाव उसके प्रति उत्तम है, पर इसे पता ही न हो, भ्रम हो जाय, जानकारी हो न हो, तो जैसे यह दुःखी होता है तो व्यर्थकी कल्पनाओंसे दुःखी होता है, ऐसे ही अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान है वह परमात्मस्वरूप, परन्तु भागोंकी आशासे, तृष्णासे इस सहज परमात्मतत्त्वको न निरख सके, उसकी वजह यह है कि अब तक हमारा अनन्तकाल खोटे भवोंमें व्यतीत हुआ। तो देखो अपने आपमें अन्तरमें प्रकाशमान इस सहज ज्ञानस्वरूप का जब दर्शन न कर सकें तो इस वृत्तिमें अनन्तकाल व्यतीत हो गया। अच्छा पुराना इतिहास तो ऐसा है, अब वर्तमानमें क्या किया जाय सो बताओ? तो सुनो––वर्तमान में क्या करना चाहिए? पहले यह ही सोचो कि कुछ कर सकने यायक हमारी बुद्धि है या नहीं। हाँ हाँ बुद्धि तो है। जब हम बुद्धि द्वारा लोकके बड़े–बड़े टेढ़े कामोंको संभाल लेते हैं तो हम इस बुद्धि द्वारा अपने आपके सहजस्वरूपको न संभाल सकेंगे क्या? बुद्धि तो है, सहबुद्धि तो मिल गई और वह मिली है किसके प्रसादसे? इसी शुद्ध ज्ञानदर्शनमय परम ब्रह्मके प्रसादसे। कारण पाकर जैसे–जैसे आत्माके कलंक दूर होते गए, ज्ञानविकास होता गया। आज हमने इतनी बुद्धि पायी कि हम हित अहितका विवके कर सकते हैं, तो यही तो है अपने स्वरूपका परमपद। हम इस लायक आज बने कि हम सही परिचय बना लें। यदि ऐसी सद्बद्धि पायी है तो भाई इतना सदुपयोग कर लेना ठीक है, उसके लिए विलम्ब न करना। जैसे जल्दी भावना बने वैसे इसका सदुपयोग करना चाहिए। सदुपयोग क्या हैं कि अपनी बुद्धिका उस प्रकार प्रयोग करते रहें। ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वका दर्शन करते रहें। उसका लक्ष्य बनाये रहे। तो यह कहलायगा अपनी सद्बुद्धिका सदुपयोग।

गये गुजरे समयका चिन्तन करके कुछ शिक्षा लेनेका अनुरोध––देखो जिसमें ममता है, घरके लोग हैं, मित्रमण्डलीके लोग हैं उनके लिये तो हर एक कोई तन, मन, धन, वचन सब कुछ हाजिर करते हैं और अपने आपको ऐसा ही उनके लिये सर्वस्व समझता है। लेकिन यह तो सब धोखा है। देव, शास्त्र, गुरु जिनसे हमारा ममताका नाता नहीं, केवल आत्माके कल्याणके लिये ही जिनका दर्शन है उनके प्रति, धर्मके प्रति तन, धन, वचन ये कुर्बान हों समर्पित हों तो समझिये कि हममें अपने आपके स्वरूपमें भक्ति करने की पात्रता आयी। मोज आयी यह भी एक तफरी। मन्दिर आये, पूजा किया, दर्शन किया, कुछ स्वाध्याय किया और जैसे ही निकले तो वही टेंढ़ खीर, वही परिणाम, वही अन्याय करना, और और बातें सोचना, तो ऐसी एक घटनासे कल्याण न बनेगा। कल्याण होगा तो अपने सत्यस्वरूपके बारबार अभ्याससे। हां तो सुदपयोग कीजिये अपनी बुद्धिका, अपनेको अहर्निश ऐसा अनुभवमें लें कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ। जो बात सच है उसकी भावना बनायें। बात जो मिथ्या है उससे अपनेको अलग हटायें। यदि हम सदुपयोग कर सके अपनी पायीं हुई बुद्धि का तब तो जीवन सफल है, नही ंतो यह भव हमने व्यर्थ ही खो दिया समझिये। जैसे आज जिसकी जितनी उम्र है कोई 50 सालका, कोई 60 सालका तो

वह सोचता है ना–अरे ये जीवन के इतने वर्ष कैसे निकल गए? कुछ पता हीन पड़ा। उस बीते हुये समयके बारेमें तो यह ही जंच रहा ना कि आननफनन कैसे गुजर गया सारा समय? तो जैसे अब तकका जो समय गुजर गया, ऐसे ही चंद दिनोंका यह भव भी तो गुजर ही जायेगा और जल्दी ही गुजरेगा। तो यों यह अपना भव इन भोग साधनोंमें ही गुजर गया, तो फिर पता नहीं पड़ता कि उद्धार कैसे होगा? आज मनुष्य हैं तो सब तरह की हम व्यवस्था बना रहे हैं। दूसरेके मनकी समझ रहे हैं, अपने मन की बात दूसरों को बता रहे हैं। सारे कार्य चलते हैं और जब यह आत्मनिर्णय न रहेगा तो रहेगा क्या? पर्यायमें आत्मबुद्धि किया मैं हूं। जो पर्याय पायी उसीको मानेंगे कि यह मैं हूं। तो जैसी पर्याय पायेंगे और उस रूप अपनेको मानेंगे वैसा ही कर्मबन्ध है, विकल्प है और इस कर्मके उदयकाल में दुर्गति होना निश्चित है।

दृश्य लोको देखकर आत्महित करनेकी शिक्षापर चलनेका औचित्य–यह आजका जो दुर्लभ अवसर पाया इसे व्यर्थ न खोयें। इससे कोई ऊँचा काम अपना बना लीजिये। अन्यथा मर गये और हो गये फिर वही कीड़े मकोड़े तो फिर न जाने क्या दशा होगी? इस से इन कीड़ा मकौड़ोंको निरखकर जो आपको दिख जाते हैं उनसे ही एक ऐसे ढंगका चिन्तन बना लीजिए अपना कि हमारा कल्याण कैसे होगा? ये कीड़ा मकौड़ा अब क्या कर सकते हैं? तो इन कीड़ा मकौड़ोंकी दुर्गति देखकर अपने आपमें कुछ तो ऐसा चिन्तन लाइये कि मेरा भव न बिगड़ जाय। देखो सबसे बड़ा धन ज्ञान हम आपने पाया। यदि ज्ञानतत्त्वके निरखनेकी भीतरमें तैयारी बनेगी तो वर्तमानमें भी शान्तिसे रह लेंगे और आगे का भव भी न बिगड़ेगा। यदि ऐसा मौका पाया, ऐसी भावना पायी तो मक्ति के निकट पहुंच जायेंगे और यदि यह आत्मभावना न मिल सकी तो संसारमें रुलना ही रुलना बना रहेगा। तो देखो आज इस भवमें जो कुछ धन वैभव आदिक बाह्य समागम पाया उसे सर्वस्व न समझें। अरे यह सारा समागम स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्न में में जो कुछ दिखता है वह उस समय तो सच लगता है, पर जगने पर मालूम पड़ता है कि अरे वह तो कुछ नहीं था। ऐसे ही इस मोहकी नींदका आजका पाया हुआ समागम अपनेको सब कुछ दिख रहा है, लेकिन जब यह मोह–नींद नष्ट हो जाय, पदार्थका वास्तविक स्वरूप दृष्टिमें आ जाय तो उसे मालूम पड़ता है कि अहो अबसे पहले इसने मोहकी नींदमें न जाने क्या–क्या मान रखा था और उस मान्यता से अपनेको दुःखी बना रहे थे। तो भाई कुछ अपने आपके बारेमें विचार करें, हमारा अनन्त काल तो खोटा गया और आज हमने कुछ हित समझने की बुद्धि पायी तो उसका सदुपयोग करें। ज्ञानधन जो परमपिता परमेश्वर निज ब्रह्म है, उसकी दृष्टि बनायें और इससे अपना शेष जीवन सफल करें। यदि इस भवमें न चेत सके तो फिर आगे चेतना बड़ा मुश्किल है। कदाचित् चेतने का मौका मिले तो ऐसी आशा रखकर वर्तमान भवको बिगाड़ दिया तो ठीक नहीं। जो आगेकी आशा रखकर वर्तमान भवको बिगाड़ दें तो वहाँ आगे के लिए हिका अवसर पानेकी सम्भावना नहीं है।

(43)

खुद ज्ञानधन और खुदका ही ज्ञान न रहा, इससे गजब और क्या हो सकता है? ज्ञानस्वरूप होकर भी खुदका ज्ञान न करना अपने आपपर गजब सितम ढहाना है। अज्ञान महा अपराध है। आत्मज्ञान करो, अन्य सबकी उपेक्षा कर दो।

ज्ञानमय होनेपर भी स्वयं स्वयंके ज्ञानस्वरूपको न जानने की गजब बातपर आश्चर्य–जब कोई सुनाता है कि पानीमें रहने वाली मछली भी प्यासी रहा करती है अथवा किसी गुरुने, किसी भव्यको भेजा, कहा कि जावो नदी के तटपर मगर रहता है, वह ज्ञानी है, वह तुम्हें आत्माका ज्ञान देगा। गया वह और कहा––मगरराज मुझको मेरा ज्ञान दो। तो

मगर राजने मानो कहा कि भाई हमको इस समय बहुत तेज प्यास लगी है, तुम्हारे हाथमें लोटा है कुबेसे पानी भर लावो, हम अपनी प्यास बुझा लें तब आपको उपदेश देंगे। तो वह पुरुष वहाँ सोचता है कि यह मगरराज कितना मूर्ख है, अरे पानी में तो बस रहा और अपनेको प्यासा बता रहा। तो ऐसे ही यह बात कितने गजब की चल रही है कि हूं तो मैं ज्ञानधन, ज्ञान ज्ञान ही मेरा स्वरूप है और फिर उस ज्ञानको ही नहीं जान पाता तो यह तो बड़े गजब की बात, अचम्भे की बात समझना चाहिए। क्या वजह है? खुद हैं ज्ञानस्वरूप और खुदको ज्ञानमय नहीं समझ पाता। जब यह है ज्ञानस्वरूप और ज्ञान ही का नाम आत्मा है और फिर यह ज्ञान इस ज्ञानस्वरूपको ही न समझ पाये कि यह है स्वयं ज्ञानस्वरूप तो इससे और बड़े गजब की बात, अचम्भेकी बात और क्या हो सकती है? अपने आपके स्वरूप को जानने की कोशिश करें। भीतर देखो कि मैं क्या हूं, किस तरह से क्या हो सकता हूं? दृष्टि पसारो, पसारो नहीं, किन्तु संकोचो, अपनेको देखो। यह मैं किस स्वरूप हूं, मेरा सर्वस्व क्या है? किससे रचा हुआ हूँ, क्या तत्त्व हूँ। शरीरको भुलावो और एक आत्मा को निरखो कि मैं क्या हूं? मैं हूं यह थोड़े थोड़े ज्ञान वाला, ऐसा कोई समझे तो उसने अभी स्वरूप जाना ही नहीं। मैं हूं कोई सहज ज्ञानस्वरूप अखण्ड ज्ञान ज्ञान ही ये व्याप्त, ऐसा मैं ज्ञानमय आत्मतत्त्व ज्ञान, ज्ञान ही जिसके अन्दर है उसके अनुरूप बाहरी वृत्ति हो, बस यही है सर्वस्व। निरपेक्ष वृत्ति न हो तो भी अन्यके गुणका काम नहीं। सर्व परिस्थितियों में ज्ञान ज्ञान ही का काम चल रहा। किसीको दुःख मिला तो क्या मिला? दुःख। ज्ञानको ही उस प्रकार बना लिया कि जिसमें दुःखका अनुभव हुआ। किसीने सुख माना तो क्या मिला कहीं से? सुख। ज्ञानकी ही उस प्रकारका बना डाला जिसमें सुखसाताका अनुभव होता है। तो जब ज्ञान ही स्वरूप है, ज्ञानमात्र ही मैं हूं, ज्ञान ही सर्वस्व है, ज्ञानमय ही हमारी वृत्ति है, ज्ञानमय ही रहता है, ज्ञान ही साथ चलता है, सर्व कुछ मेरा ज्ञानस्वरूपमय है और अपने ज्ञानस्वरूपको न जाना तो यह बड़े गजब की बात। इससे गजब और क्या हो सकता है?

अन्तः प्रभुसे प्रतिकूल हो जानेका अन्याय––ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञानके न होनेकी गजब बातके बाद फिर और देखिये––ज्ञानस्वरूप हूं मै, अन्तः सहजस्वरूप हूं मैं और नजमें बैठे हुए प्रकाशमान शक्तिरूप अपने भगवानबो न देखूँ और उसे न देखकर बाहरमें ही अपना उपयोग ढुलाये तो यह कितना बड़ा भारी हो गया अन्याय अपने प्रभुपर? अपने घरके किसी बड़े की उपेक्षा करना और पास–पड़ौसके छोटे तुच्छ, गुँडे, दुर्जनोंमें लग जाना, यह अपने घरके पालक रक्षक बड़ेपर अन्याय है कि नहीं और उसका फल कितना खोटा मिलेगा कि उसे दुर्दशाओं में जाना पड़ेगा। यह तो है एक लौकिक बात। यहाँ तो चाहे किसी तरह गुजारा भी हो सकता है, मगर अपने अन्तः प्रकाशमान अनादि अनन्त शाश्वत इस चैतन्य महाप्रभुकी दृष्टि न होना और इसे छोड़कर बाहरकी तुच्छ बातको बड़ा महत्त्व देना, उससे अपना बड़प्पन मानना यह अपने आपके प्रभुपर एक बड़ा गजब सितम ढाना है, इसका फल कौन भोगेगा? किसी बड़ेसे विपरीत चलेगा, जो अपने आपमें सर्वस्व है, जिसकी कृपा बिना शान्ति नहीं मिल सकती, ऐसे सहज परमात्मतत्त्वकी ओर अभिमुख न हों और छलमय माया स्वरूप बाहरके चेतन अचेतन वैभवकी और अभिमुख हो जाये तो यह अपने आपपर बहुत बड़ा भारी अन्याय है। मगर जहाँ अन्याय करने वाले सभी हों वहाँ अन्यायकी बात कहेगा कौन? संसारके सभी जीवों में यह ही बात तो बसी पड़ी हुई है। सब बाहरकी ओर बाहरका महत्त्व देते। अपने आपमें जो निधान है, ज्ञानस्वरूप है उसकी महिमा नहीं भाती, यह है अपने आपपर अन्याय।

प्रभुसे प्रतिकूल हो जानेके अन्यायका कारण अज्ञान––प्रभूसे प्रतिकूल होनेका अन्याय क्यों कर बैठा यह जीव? अज्ञान था असे। इसको अपने प्रभुकी महिमा का पता ही न था। जहाँ सहजस्वभावतः स्वच्छ ज्ञानकी उछालें चलती हों, ऐसे स्वभावका जिसको पता नहीं है वह तो बाहरके कृत्रिम बनावटी इन भ्रान्त कल्पित सुखोंकी ओर मुड़ता है, तो ऐसे अज्ञान का अपराध जब तक है तब तक संसारमें रुलता है। देखो हम आप सब यही बड़े सुखसे शान्तिसे समतासे यहाँ बैठ सकते हैं और आराम पा सकते हैं, किन्तु जहाँ अपनेको न देखकर बाहरकी चीजों को अपना लेना, महत्व आँकना, यह वृत्ति जहाँ लग गई हो वहाँ शान्तिकी आशा नहीं होती। देखो अपने को मैं ज्ञानस्वरूप हूं। सब कर डाला काम इस जीवने, मगर एक यही काम नहीं किया गया। क्यों जी हजार काम कर डाला हो और सभी कामोंमें टोटा पड़ा हो और उससे कहीं अच्छा काम दीखे तो बड़े उमंग से कह उठते है कि हाँ हाँ अब एक काम और करके देख लिया जायगा। क्या हर्ज है? जहाँ हजार कामों में विजय न मिली तो चलो इस ज्ञानका एक काम और करके देख लें। इस अलौकिक कामको करनेके लिए न बाहर कहीं जाना, न किसी की प्रतीक्षा रखना। किसी भी प्रकारका कहीं कोई कष्ट नहीं है। एक अपनेको देखें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानज्ञानमय ही हूं, ऐसा अपना एक बोध बनाया फिर अन्याय नहीं, फिर तो न्याय ही न्याय बर्तेगा। तो जहाँ यह न्याय नहीं, जहाँ यह ज्ञान नहीं, जहाँ यह आराधना नहीं वहाँ तो इस अज्ञानपरिणामका फल अतीव भयानक है। सो भाई अपने आपपर दया करो, व्यर्थ कष्ट मत भोगो, विकल्प जाल बढ़ाकर अपनेको अशान्त मत बनाओ। एक इस अंतस्तत्त्वका बोध करके इस ही एक आत्माराम में आत्मज्ञानमें अपनेको रमावो और संकटोंसे सदाके लिए मुक्त होने का उपाय बनाओ।

(44)

प्रियतम चैतन्य महाप्रभो! तुमसे बिछुड़कर मैं बहुत बरबाद हुआ, आनन्द घन चैतन्यप्रभु तो मुझमें ही था, मेरी ही भूलसे गुप्त रहा, प्रियतम चैतन्य महाप्रभो! दर्शन दिये, अब कभी ओझल न होना।

ज्ञानस्वरूपकी महिमा की समझसे विकल्पविपदाका विलय––जब अपने ज्ञानस्वरूपकी महिमा समझमें आती है तो ऐसे ही यह ज्ञानी कह उठता है कि अहो एक इस ज्ञानप्रकाशके पाये बिना अब तक अनन्त सारा समय विकल्प–विकल्पमें ही गया और कहो झुंझलाकर भी बोले––तुम यहीं तो थे जो मुझे दिख गए। जो मेरी आराधनामें आया वह तो कहीं बाहर तो था ही नहीं। था तो यहाँ ही, क्यों नहीं अब तक दीखा? एक ऐसे सहजस्वभावकी रुचिमें ये शब्द निकल सकते हैं। क्यों इतना काल व्यर्थमें व्यतीत हो गया? खैर जब चेते तभी भला। तो यह ज्ञानी पुरुष अपने इस अन्तःप्रभुसे कहता है कि हे चैतन्यमहाप्रभो, हे सहज चैतन्यस्वरूप! तुझसे मैं अब तक बिछुड़ा रहा था। मैं के मायने उपयोग और तुझके मायने सहजशुद्ध परमात्मतत्त्व। हे परमात्मतत्त्व, तुमसे अभी तक उपयोग बिछुड़ा रहा और इसी बिछोह के कारण बरबाद हुआ। बरबादके मायने यह हैं कि क्रोध, मान, माया, लोभ––इन कषायोंमें उपयोग को लगाना और अपने आपको अधीर बनाना, सो हे चैतन्यमहाप्रभो! तेरी कृपा बिना, तेरी दृष्टि बिना अब तक मैं इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ बरबाद ही होता चला आया। यह आनन्दघन सहजचैतन्यस्वरूप जा दृष्टिमें आया, जब आया तब ही से संकट समाप्त। एक निजकी बात सीखनेके लिए ही ये सब प्रभुभक्ति, स्वाध्याय, सत्संग ध्यान और ये विषयपरिहार, ये व्रतनियम संयम ये सब इतनी सी एक कला पानेके लिए किए जाते हैं। मैं समझ जाऊँ––यह मैं ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व सबसे निराला स्वयं सहज ज्योतिर्मय निराकुल हूं, ऐसा ज्ञान बना तो रहे, वहाँ फिर संकट नहीं, कोई मुझे नहीं

जानता। यह ही तो मेरे लिए बड़ा अच्छा है और जो कोई मुझे जानता है सो जो जानता है न वह सच और जिस ढंग में मुझे जानता न वह सच। झूठ–झूठ की लड़ाईमें क्या दखल देना? मैं सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप मात्र हूं। यहाँ कष्टका कोई काम नहीं। देखो सबसे उत्कृष्ट जो अपने कल्याणकी बात है वह कितनी स्वाधीन है और कितनी सुगम है? पर इसके लिए निजका साहस बनाना होगा।

प्रबल भेदविज्ञान बिना संसरण प्रसंग से निवृत्ति की अशक्यता––यह संसार तो एक मानो वह फड़ है जहाँ जुवा खेला जाता हो। वहाँ कोई फंस जाय, कोई दो–चार आनेका दाँव लगा बैठे तो वहाँ फिर ऐसी धारा हो जाती है कि हारे तो खेलना, जीते तो खेलना। और खेलते–खेलते बहुत कुछ हार गए और थोड़े से पैसे रह गए जेबमें और सोचा कि अब हमें घर चलना चाहिए, तो उस फड़कर बैठे हुए जो लोग हैं, उनकी वाणी, उनके वचन, उनका व्यवहार ऐसा होता है कि वे वहाँ से भागने में समर्थ नहीं हो पाते। हार गए तो कहेंगे कि बस इतना ही दम था, हार गए अब चल दिये, और जीत गये तो कहेंगे कि अरे ये तो बड़े खुदगर्ज निकले, जीत गए और चल दिए। इस तरह से वह उस फड़ से उठ नहीं पाता। तो जैसे वह खिलाड़ी उस जुवेके फड़से निकल नहीं पाता, इसी तरहको एक बहुत बड़ी असुविधा है ज्ञानबल पाये बिना। कुछ थोड़ा चाहता है कि मैं इन विषय साधानोंसे हट जाऊँ, लेकिन यह सब एक ऐसा वातावरण है कि बहुत–बहुत चाहने पर भी नहीं हट पाता, और फिर थोड़ा बहुत ज्ञान भी न हो तब तो वह इसमें आसक्ति से लगता ही है। तो इस संसारके इस जुवे वाले, हार–जीत वाले अड्डे से हटने के लिए बहुत बड़े भेदविज्ञानकी आवश्यकता है। जहाँ यह बात समा गई हो कि मैं तो सबसे निराला हूं, मुझे यहाँ जानने मानने वाला भी कौन? जो जानता है वह झूठ, जिसको जानता है वह झूठ। यह तो सब ऐसा ही आत्माका प्रसंग है, मायाका प्रसंग है, मुझे ऐसे ज्ञानविकल्पमें लगना नहीं और जो मैं परमार्थ ज्ञायक हूं ऐसे मुझ का जानने वाला स्वयं ही स्वरूपमग्न हो जाता है। जब तक आन्तरिक बल प्रकट हो तब यहाँके दृश्य संसार समागमसे छुट्टी पायी जा सकती है।

अन्तः प्रभुके सतत् दृष्टिपथगामी बने रहनेकी भावना––यह अन्तः प्रभु जिसका कि अन्तर्दर्शन हुआ। था तो पहलेसे मुझमें अनादिसेही। अब समझा तो प्रथम तो झुंझलाहट हुई कि हे प्रभो! तुम जब नजर में आये, थे अनादिसे ही मेरेमें सतत और फिर आवश्यकता से अधिक जब झुंझलाहट होती तब फिर पछतावा भी आता। ओह, प्रभु भगवान तुम्हारा इसमें क्या? मैं ही भूलसे अपने आपमें अपने प्रभुको न पा सका। अंतः विराजे हुए प्रभु का अपराध है क्या है? वह तो तब भी वैसा ही, अब भी ऐसा ही। जिसने दृष्टि दी उसने इस पर्यायमें विकास किया। जिसको इस निज परमात्मतत्त्वकी सुध नहीं वह संसार में रुलता रहा। तो हे चैतन्य महाप्रभो, हे निज सहज परमपारिणामिक भाव, हे निज समरसपूर्ण सहजस्वभाव! तुमने अब दर्शन तो दिये। अब मेरे ज्ञानमें तुम कुछ आये तो हो, सो जाना, समझा कि यह सारी दुनिया बेकार है, और इस निजमें बसे हुए सहजपरमात्मतत्त्वका उपयोग ही सार है, सो अब आपके दर्शन तो हुए प्रभु। अब ऐसा न हो कि तुम हमसे ओझल हो जावो। इससे महान् वैभव दुनियामें और क्या हो सकता है कि अपने अविकार आनन्दघन सहज ज्ञानस्वभाव सुधमें रहे और सतत खबर रहे, धुन रहे, इससे बढ़कर और वैभव क्या हो सकता है? यदि कोई अज्ञानी मोही धनपति होकर चला, प्रतिष्ठा वाला होकर अपने आपमें अपना गौरव अनुभव करे, अपने ही अज्ञान विकल्पसे तो क्या परवाह ज्ञानीको? कोई अपने घरमें बादशाहसा बना फिरे तो रहे, पर शान्ति नहीं मिल सकती। शान्तिका उपाय तो मात्र यह ही अंतः प्रकाशमान चैतन्यमहाप्रभुके दर्शन हैं। सो अपने चित्तमें यही भावना बसायें कि

मेरेको मेरा यह सहज ज्ञानस्वरूप चैतन्यप्रभु दृष्टिमें आये और सतत इसकी सुध रहे, इसके अतिरिक्त और कुछ न चाहिए। क्यों न चाहिए? मिले तो भी छूटेगा। सो वियोग के समय कष्ट आये ऐसा उपाय क्यों बनावें? कुछ न चाहिए। केवल एक चैतन्यमहाप्रभु ही मेरी दृष्टि में विराजे।

(45)

परमार्थको निरखनेमें अधिक समय गुजरो, जहाँ देखो वहाँ परमार्थ, जीवमें निरखो परमात्मस्वरूप, पुद्गलमें निरखो केवल परमाणु, परमार्थके निरखनेपर अपरमार्थके व्यामोहका संकट मिट जावेगा।

प्रत्येक सत्की द्रव्यपर्यायात्मकता––प्रत्येक सत् द्रव्यपर्यायात्मक है अर्थात् वह बनता है, बिगड़ता है और सदा बना रहा रहता है जो सदा बना रहता है वह भाव तो कहलाता है परमार्थ! और जो बनना है, बिगड़ता है, याने जिसका उत्पाद व्यय है वह कहलाता है अपरमार्थ या पर्याय। तो जीवोंको दोनों ही बातें परिचय में आ सकती हैं––पदार्थ का ध्रुव स्वरूप और पदार्थका परिणमन। पदार्थके परिणमनको जानने वाले तो प्रायः सभी जीव हैं और उनमें अनन्त जीव हैं ऐसे कि जो परिणमन को ही सर्वस्व समझते हैं और अपने परिणमनको भी सर्वस्व समझते हैं। कोई विलक्षण ध्रुव परमार्थस्वरूप भी है उस भावकी ओर दृष्टि नहीं की। ऐसे जीव को कहते हैं अज्ञानी और कुछ बिरले ऐसे भी जीव है इस लोकमें कि जो परिणमनको भी जानते हैं कि यह परिणमन है, पर्याय है, परवस्तुके परमार्थ स्वरूपको भी जानते हैं वे कहलाते हैं सम्यग्दृष्टि जीव। अब यहाँ यह बात निरखें एक परिणमनको ही जानते रहनेमें क्या प्रभाव पड़ता है अपने परमार्थस्वरूपको जानते रहनेमें क्या प्रभाव पड़ता है? जब जीवके परिणमनपर ही दृष्टि है और यहर परिणमन यही विशेष है, सर्वस्व है, जहाँ ऐसी दृष्टि होती है वहाँ चूँकि परिणमन विनाशीक है तो विकार भी स्थिर कैसे रह सकता? जो अस्थिर परिणमन को जानता हो, फिर अस्थिर विषयको जानने वाले ज्ञानमें अनाकुलता शान्ति स्थिरता कैसे बन सकती है? तो जो परिणमन को जानने वाला ज्ञान है उसका प्रभाव तो दूषित होता है। और आत्माके प्रभुस्वरूपको जानने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान स्थिर हो सकता है। स्थिर विषयको जाना है वहाँ लोभ न होगा, निराकुलता हो सकती है। तो यह है एक निज ध्रुवस्वरूपको जानने का प्रभाव। यद्यपि पर्याय बिना परमाथ नहीं, परमार्थ बिना पर्याय नहीं। कौन सा है ऐसा पदार्थ जिसमें परिणमन तो होवे नहीं और वस्तु कहलाये? ऐसा तो कुछ है ही नहीं और कोई जबरदस्ती मंतव्य बनाये ऐसा कि पर्याय तो कुछ नहीं होता, परिणमन है ही नहीं और बताया जाए कि है कुछ तो वह केवल ब्रह्मवाद जैसा सिद्धान्त बन जायेगा। जहां परिणमन नहीं है वहाँ सत्त्व ही क्या है? तो परिणमन हुये बिना पदार्थ नहीं होता और परमार्थं हुये बिना भी पदार्थ नहीं होता। सिर्फ परिणमन परिणमन ही सब कुछ है और परिमणन है वह सब भिन्न–2 समयों में भिन्न–2। और प्रत्येक परिणमन है सर्वस्व चीज, परिणमन के सिवाय और कुछ सदा रहने वाला परमार्थभूत कुछ है ही नहीं। ऐसा मानने वालो! अब यह बतलावो कि वह परिणमन कहां हुआ और किस आधार में हुआ? कैसे संतान बने, तो होना चाहिये ना वस्तुका ध्रुवस्वरूप। तो जो ध्रुव वस्तु है उस ही में तो परिणमन होगा। परमार्थ बिना परिणमन नहीं, परिणमन बिना परमार्थं नहीं।

पदार्थमें परमार्थं व परिणमन दोनोंकी अनिवारितता होनेपर भी उनकी दृष्टिका भिन्न–भिन्न प्रभाव––वस्तुमें परमार्थ। परिणमन दोनों ही अनिवारित है, तिस पर भी यह जीव परिणमनपर दृष्टि देता है और उस परिणमन को ही सर्वस्व समझता है, उसके अतिरिक्त अन्यका कुछ बोध ही नहीं है, परमार्थ उसकी समझमें ही नहीं है तो ऐसा पुरुष

कहलाता हैं अज्ञानी और उस अज्ञानके कारण परिणमनको ही उपयोग का विषय बना बनाकर दुःखी होता है और यह सारा जीवन यों कहो कि व्यर्थ उसका गुजर गया है तथा अपने ध्रुव ज्ञानस्वरूपमें 'यह मैं हूँ', इस प्रकारका प्रत्यय जिसके बना है, विश्वास है, ऐसा पुरुष स्थिर, शान्त, निराकुल रहता है। तो जब परमार्थके निरखनेमें आनन्दका अभ्युदय होता है तब यही तो चाहिये कि परमार्थ के निरखनेमें अपना अधिक समय गुजरे। देखनेमें तो सब आ सकता याने जाननेमें परमार्थ भी जाना जाता है, परिणमन भी जाना जाता है, किन्तु परिणमनको भी समझ चुकेन वाला ज्ञानी पुरुष परिणमनको गौण कर जब मुख्यतया परमार्थको निरखता है तो उनके आनन्दका अभ्युदय होता है। परमार्थ और परिणमन का अर्थ क्या है कि कोई चीज है ना, मैं हूँ, आप हैं, कुछ हैं। तो जो भी चीज है वह सदा रहती है। तो जो बात सदा रहे और जिस बातमें फर्क न आये जो पहले से सबमें सदाकाल जो एक रूप रहे ऐसा जो स्वभाव है उसका नाम तो है परमार्थ और समय–समयपर जो परिणमन होते रहते हैं वह परिणमन कहलाता है पर्याय। पर्याय सदा नहीं रहती। जो पर्याय अभी हुई है अगले समयमें वह नहीं रहती, दूसरी हो जाती है। तो यों परमार्थ और पर्याय–इन दोनोंमें पर्यायको जानकर, पर्यायको गौण कर परमार्थको मुख्यतया देखे वहां अलौकिक आनन्दका अभ्युदय होता। तो ज्ञानी जीवका आशय यह बनता है कि परमार्थ को निरखनेमें ही अधिक समय गुजारा करें। ऐसी दृष्टि बन जाय कि जहाँ देखो वहाँ ही परमार्थ। जीवको देखो तो उसकी बाहरी बातें न देखकर उसके अन्तः प्रकाशमान जो सहजज्ञानस्वभाव है वह निरखने में आये, वही दीखे और जो आँखोंसे दिखने वाले परमार्थ हैं पुद्गल उनमें भी अणुवों का समूह रूप, स्कंध, इनमें ज्ञान न फंसाकर जो परमाणुका वास्तविक निरपेक्ष आनन्दका स्वरूप है उस स्वरूपपर दृष्टि आये तो यह निरखना हो गया पुद्गलमें परमार्थका। तो द्रव्यकी जब चर्चा हो, जानकारी करने चले तो हमें वहाँ छाया, माया परिणमन न देखकर एक शाश्वत अनादि अनन्तध्रुव स्वभाव ही निरखने में आवे। अपनी ज्यादह जानकारी बनती है तो जीव और पुद्गल के बारेमें, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन चार द्रव्योंमें जब हम कुछ जान कर उसमें जानकारी बनाते हैं और बहुत विशेष सोचते हैं तो उनका परिचय कर लेते हैं आगमके आधारपर और युक्तिके आधारपर। अधिकतया तो जीव और पुद्गल के सम्बन्धमें ही परिज्ञान चलता रहता है। तो जीवके विषयमें हमको कुछ दीखे वही सहज परमात्मस्वरूप और इसी तरह पुद्गल के बारेमें, स्कंधोंके विषयमें हमें दीखे तो वही एक सहज सत् परमाणु। तो इस तरह जब परमार्थ को देखने की हमारी वृत्ति बन जायेगी, अभ्यास बनेगा, परमार्थ ही प्रायः दृष्टिमें रहेगा तो अपरमार्थके व्यामोहका संकट दूर हो जायगा।

संकटका मूल अपरमार्थका व्यामोह––जीवों को संकट किस बातका है? किसी भी लौकिक संकटका नाम लेकर बताओ, तो आखिर यही बोलेंगे कि इसने यह अपरमार्थका व्यामोह बनाया है, इस कारण संकट छाया है। जीव तो भगवान की तरह विशुद्ध ज्ञानानदस्वरूप है। जीवमें संकटका क्या काम है? किन्तु जब–जब जीवपर संकट आया तो वह अपरमार्थके व्यामोहसे लगावसे ही संकट आया, और प्रकार से संकट नहीं होता जीवपर। संकटोंके नाम लेकर भी देख लो। कोई कहे कि हमको इसमें 10 हजार रुपयेका टोटा पड़ गया, तो भला बताओ वे 10 हजार रुपये क्या कोई परमार्थ वस्तु हैं? जीवका उससे कोई नाता है क्या? जीव तो ज्ञान दर्शनस्वरूप अमूर्त एक चैतन्य पदार्थ है। उसका किसी बाह्य से क्या नाता? तो सम्बन्ध कुछ नहीं, नाता कुछ नहीं, और फिर भी कुबुद्धि ऐसी छायी है कि वैभवमें इसका उपयोग फंस जाता है और उससे मानता है कि इस वैभव का संयोग मिले तो वह है हमारा बड़प्पन, महिमा और विघट जाय, कुछ चीज मिट जाय,

उसके पास न रहे तो उससे है उसकी बरबादी, विनाश। ऐसा एक झूठा आशय बना रखा अज्ञानी जीवोंने। तो इस अज्ञान के कारण उनकी पर्यायमें व्यामोह आ जाता है। किसीने सोचा कि हमारा कोई बच्चा–बच्ची गुजर गया, बड़ा संकट आया। अरे संकट किस बातका? अपरमार्थ जो बच्चा–बच्ची है, विनाशीक है, कल्पनामात्र कि जगतमें अनन्त जीव हैं, उन अनन्त जीवोंमें से किसी एक–दो जीवों को ही अपना बच्चा–बच्ची कह देना, यह है एक अपने आपपर अत्याचार। जब सर्वजीव एक समान हैं। प्रभु, संसारी हम, छोटे बड़े सभीका स्वरूप जब पूर्णतया एक समान हैं और सबके प्रदेश निराले, भिन्न–भिन्न हैं, फिर भी किसीको मेरा समझना, किसीको पराया समझना यह तो अपने आत्मदेवपर अन्याय अत्याचारकी बात समझिये––तो व्यामोह हुआ ना, उसका है संकट। संकट जितना है वह मोहका है। मोह नहीं तो संकट नहीं, मोह है तो संकट है। अब जिसका मोह बना है उसका संकट मिटानेके लिए बड़े से बड़े बुधजन, विद्वान्, पंडित कोई भी उसे समझाये या उपाय बताये तो क्या वह संकट दूर हो सकता? मोहसे उत्पन्न होने वाला संकट तो मोहके दूर होनेसे ही मिट सकेगा। मोहका संकट मोहके दूर करनेसे ही मिट सकेगा।

अपरमार्थ व्यामोहके संकट के मिटनेका उपाय परमार्थका आलम्बन–मोहका संकट मोह करनेसे नहीं मिटता। परमार्थ स्वरूपके निरखनेपर यह व्यामोह का संकट दूर हो सकता है। संकटोंसे मुक्ति चाहिए तो यहाँ बहुत ज्यादह समय देना पड़ेगा, अभ्यास बनाना होगा। देखो धनकी कमाई तो आपके आधीन है नहीं। पुण्यका उदय है तो थोड़े समयमें भी आप अपना पूरा काम पा लें और पुण्य का उदय नहीं है तो कितने ही सम्बन्ध जुटायें, कितने ही विकल्प करें, आपको लाभ न होगा। तो जो बात आपके आधीन नहीं है, आपके आत्मपरिणामके आधीन नहीं है उसमें तो लगाया जाता है सारा समय। कहते ही हैं धर्मके लिए, स्वाध्याय के लिए, विचार उपयोगमें समय देनेके लिए समय ही नहीं है हमारे पास। तो जो बात अपने आधीन नहीं उसमें तो तन, मन, धन, वचन, प्राण न्यौछावर कर दिया और जो बात अपने आधीन है, कौनसी बात है अपने आधीन? अपने ज्ञान द्वारा अपने आपमें जो स्वरूप बसा है उसकी दृष्टि करना, मानना कि मैं यह हूं, यह बात आपके आधीन है, सो लग रही है बहुत बड़ी कठिन। जैसे कोई रक्षक या पिता अपने पुत्रको, शिष्यको बहुत–बहुत समझाये, पर वह न माने, प्रतिकूल ले तो फिर यही तो कह बैठते हैं कि जा, जैसा तेरा होना हो हो, उसकी उपेक्षा ही तो कर डालते हैं। तो ऐसे ही इस जीवकी आचार्य संतोंने बहुत–समझाया, बात मान लें, स्वरूपको पहिचान लें, बाहरी पदार्थोंमें कुछ करनेकी कुटेव मत करो। बहुत–बहुत समझाया जाने पर भी यदि यह ज्ञानमार्गमें नहीं आता तब तो यह ही फैसला है कि जो तुझे भाये सो कर, चाहे एकेन्द्रियमें जा, चाहे दोइन्द्रियमें जा, चाहे भाड़में जा। भाड़ मायने आग। चाहे आग बनो, चाहे हवा, चाहे पेड़–पौधा। तुझे जो बनना हो सो बन। और आचार्य संतो के समझाने से अगर कुछ मान सकता है तो मान ले। आचार्य संतों का सदुपदेश है यह कितू इन बाह्य भिन्न असार पदार्थों में मोह मत कर। ये तेरे कुछ नहीं हैं। तेरा तो ज्ञान है। तो अपरमार्थ, पर्याय परिणमन इनके व्यामोह को छोड़कर यदि परमार्थका आश्रय लेगा तो तेरे सारे संकट दूर हो जायेंगे। तो चाहिए यह कि हम वस्तुस्वरूपको जानने के लिए और अपनेमें वैराग्य उत्पन्न करने के लिए अधिक समय दें। सत्संगमें, स्वाध्यायमें, ज्ञानार्जनमें, तो यह तो हमारा भला होनेका मार्ग और परमार्थ से उपेक्षा रखकर व्यावहारिक बातोंमें, परिणमनों में ही अपना समय दे तो यह है मेरे अकल्याणका मार्ग। अकल्याणके मार्ग से हटें और कल्याणके मार्ग में आयें।

दुनिया में क्या हो रहा––यह देखने के लिये तू ज्ञानामृतधामसे बाहर मत निकल, बाहर तो मायाजाल का महाजाली ही सर्वत्र छाया हुआ है। बाहर मत देख, देख, बुरा है तो बुरा, भला है तो भला, देख स्वको ही।

ज्ञानानन्दधाममें आकर वहिर्जगतकी ओर न ढूकने का संदेश––आचार्य संतोंकी वाणी सुन–सुनकर पहले कुछ अपने आपको प्रतिबोध ले और ध्यान ज्ञानसे अपने आपके स्वरूपको अपनेमें ही निरखने का दृढ़ अभ्यास बना ले, ऐसा पुरुष भी कर्मविपाकवश अपने लक्ष्यसे अनेक बार उचकता रहता है। तो जिसने आनन्दधाम निज महल में प्रवेश कर अपने आपके आनन्द का स्वाद लिया वह पुरुष मानो अपने आपसे कह रहा है कि रे उपयोग! ब्स तू यहीं रह, यहीं बैठ, इस अपने धामसे बाहर कहीं भी मत निकल। क्यों निकलता है बाहर? जब तू ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका ही यह सब उपयोग है, उपयोग ज्ञानस्वरूपमें आ गया, अब इससे बाहर ढूकने की क्या चिन्ता करना? शायद यह कही कि अपने स्वरूपमें उपयोगको लगाये रहनेमें बहुत बल लगाना पड़ता है, सो उसकी मनाई तो नहीं, यह भी करो, पर कुछ मनमें यह भी तो आता है कि मैं बाहर में देखूँ तो सही कि हो क्या रहा है? यह देखने के लिए तू अपने ज्ञानानन्दधामसे बाहर मत निकल। जैसे बरसातके दिनोंमें तेज वर्षा भी हो रही है, ओले भी पड़ रहे हैं, काली घटा छा गई है, बिजली भी चमक रही है और कहीं कहीं गाज बिजली भी गिर जाती है, ऐसे एक वातावरणमें कोई पुरुष कुछ थोड़ा निकले और शीघ्र ही कोई ऐसा धाम, कमरा मिले कि जहाँ जाकर वह बैठ गया, तो वह अपनेको कितना सातामें अनुभव करता। ऐसी भयानक स्थितिमें वह तो यही चाहेगा कि तू बाहरमें ढूक भी मत, बाहर जानेकी बात तो छोड़ो। ऐसी कठिन वर्षामें तू बाहर कहीं ढूक मत। तो ऐसे ही समझो कि बाहरमें यह सारा मायाजाल छाया है, जिसे देखते हैं तो देखकर चैन थोड़े ही आती, क्योंकि राग लगा है। दुःख तो होगा ही। तो बाहरके पदार्थोंको देखकर, इस मायाजालको परखकर तो यह जीव बड़े संकट में आ जाता है। कल्पना, रागद्वेष, नाना संकट, और उस कालमें इसे मिल जाय अपने ज्ञानानन्दस्वरूप निजका दर्शन तो देखो उसके संकटोंमें कितना अन्तर आ जाता है? जब उपयोग बाहर–बाहर ही विषय करता था, बाहरकी चीजों में ही अपना उपयोग जोड़ता था उस समय तो यह महान् संकट में था और अब वहाँसे हटकर ज्ञानानन्दस्वरूप निजधाममें प्रवेश किया तो वहाँ आता है विचित्र आनन्द। तो बाहर मायाजाल है, तू अपने ज्ञानधाम में एक बार आ गया है तो अब थोड़ा सा ही पौरुषकर, और बाकी रहा जो हो जायगा और संसार संकटोंसे मुक्त हो जायगा। तो अब अपने ज्ञानधाम में आकर बाहर क्या हो रहा, ऐसा निरखनेका तू ख्याल मत रख।

बाहर देखनेका विकल्प तजकर अन्तर में ज्ञानानन्दमय अन्तस्तत्त्वका आलम्बन करने का संदेश––जैसे मानो दो चार हवाई जहाज ऊपर उड़ रहे हों, प्रयोजन अपने को कुछ नहीं और कोई मुखिया यह कह दे कि ऊपर मत देखो, अपने काममें लगे रहो, पढ़ो लिखो, काम करो, ऊपर मत देखो तो ऊपर देखनेका नियंत्रण कर दिया। देखता तो नहीं, मगर चित्तमें जरूर रहता कि कैसा हवाई जहाज, कहाँ उड़ रहा, कितना है, ऐसी बात चित्तमें उठती है और देख भी आता है, तो ऐसा हो कुछ सही ठीक ज्ञान हो जानेपर भी बाहर कुछ निरखने को चित्त चाहता है। ज्ञानी पुरुष अपनेको प्रतिबोध रहा कि दुनियामें बाहरमें जो कुछ जो रहा उसको देखने के लिए तू अपने ज्ञानानन्दधामसे बाहर मत निकल। बाहरमें तू क्या देखेगा? मायाजालका महान् जाल ही सर्वत्र छाया हुआ है। यहाँ कोई सारभूत तथ्य नहीं है, इसलिए बाहरमें निकलनेकी बुद्धि न कर, बाहर कुछ मत देख। देख तो अपने

आपको देख। अपना दर्शन होगा ज्ञान द्वारा। और यह भी अपना निश्चय बना कि मुझे तो अपने आपको ही देखना है, बाहरके किन्हीं भी पदार्थोंके देखने से मेरा प्रयोजन नहीं।

ते देखो अपनेको। बुरा है तो बुरा देखो, भला है तो भला देखो। अपने को बुरा देख लोगे तो भी भला, अपनेको भला देख लोगे तो भी भला। देखो। अपने स्वको ही। बाहर कुछ न देखो। बाहर क्या है? जो बाहर में मौजूद है वह विषयकषायके आश्रयभूत ही तो हो सकता है। मुझमें कोई अलौकिक आनन्द तो नहीं बरसा सकता, इस बाहर कोई कुछ मत देखो। देखो अपने अन्दर ही तो अन्तर में देखनेकी कलाका प्रयोग क्यों न होगा? अपने को ज्ञानस्वरूपमें देखो तो अपने अन्दरका दर्शन होगा। कुछ ऐसा नहीं है कि घएरकी तरह आत्मा पोली चीज हो और उसमें कुछ बसा हुआ हो। यह आत्मा ज्ञानमय है। तो अपने ज्ञानस्वरूपको देखकर अपने आपमें तृप्त होवो, प्रसन्न होवो। अपने इस आनन्दधामसे मत निकली, बाहरमें कुछ मत ढूको। बाह्य स्पर्श है कुछ तो रहा आये, रूप, रस, गंध आदि हैं तो रहआयें, उनसे मेरे आत्माको कौनसी सम्पदा प्राप्त होती है? ऐसा एक दृढ़ निर्णय करके यह ही एक संकल्प बना लो कि रहना है अपने आपके स्वरूपके ज्ञानमें। इसके अतिरिक्त बाहरमें मुझे कुछ नहीं ढूकना। ऐसा अन्तर्दर्शन करना, परमार्थको निरखना, यह ही है हमारे कल्याणकी बात।

(47)

विकल्पों का विलय हो, ममता का समागम हो, यही सर्वोपरि वैभव है। स्वयंकी सुध न हो, बाहर ही उपयोग दौड़े, यही सर्वोपरिविपदा है। अन्यकी दृष्टि हटे, अनन्य चित्स्वरूप की दृष्टि रहे, यही सर्वोपरि शरण है।

भेय विपदा का तथ्य––संसारके प्राणी विपत्तिसे तो डरते हैं, विपदासे हटना चाहते हैं और सम्पदामें लगना चाहते हैं। संसारी प्राणियोंकी ऐसी वाञछा रहती है, सो इस बात को बुरा तो नहीं कहा जा सकता। विपत्ति से हटना चाहिए और संपत्ति में लगना चाहिए। सीधी बात है, लेकिन कोई विपत्तिको ही सम्पदा मान ले और सम्पदाकी बात को विपत्ति मान ले तब तो वहाँ गलत हो जाता है। लोक में यही देखा जा रहा है। जो वास्तविक सम्पदा है वहाँ तो शांति नहीं है और जो वास्तव में विपदा है उसको सम्पदा मान रहे हैं इस जीवपर कौनसी विपत्ति छायी है? लोग कहेंगे कि एक विपत्ति हो तो नाम बतावें, पर जहाँ हजारों विपत्तियाँ लगी हैं वहाँ किस–किसका नाम बतायें कि हमपर कौनसी विपत्ति लगी है? तो सुनो–विपत्तियाँ हजारों नहीं हैं। विपत्ति भी एक ही है और सम्पदा भी एक ही है। जिसको लोग विपत्ति कहते हैं वह तो विपत्ति है ही नहीं। बाहरी पदार्थ न मिले, कुछ मिल गए इसी में ही लोग विपत्ति और सम्पत्तिका भेद समझते हैं, पर यह विपत्ति और सम्पत्ति का सही लक्षण नहीं है। विपत्ति नाम है अपनी सुध न होना और बाहर की बातोंमें उपयोग लगाना, बस यही मात्र विपत्ति है जीवपर। जैसे सब मनुष्योंका जन्म एक तरह से ही होता है। ईसाई हो, हिन्दू हो, कोई हो, और मरण भी एक ही तरह से होता है, एक साधारणसी बात है। तो ऐसे ही विपत्ति और सम्पत्ति एक ही प्रकारसे होती हैं। सब जीवोंपर जो विपत्ति छा रही है वह विपत्ति यही है कि अपनी सुध न रहना, यह है विपत्ति। जो–जो भी लोग संकटमें हैं उन सबकी स्थिति परख लो, अपनी सुधमें नहीं हैं तब ही ये संकटमें है। ऐसा संकट, ऐसी विपत्ति सब पर एक विधि से चलती है। विपत्ति में कोई मनुष्यका भेद नहीं है कि अमुकको इस ढंग से आया, अमुकपर इस ढंगसे आया। प्राणिमात्र पर यह ही बात है कि जो जीव दुःखी हो रहे हैं उस दुःखका मूल कारण, साधन यह है कि वह अपनी सुधमें नहीं हैं। अपनी सुध क्या है? जैसा मेरे आत्मा सहजस्वरूप है, अपने सत्त्व के कारण जो भी यहाँ भाव है, स्वभाव है, स्वरूप है उसकी खबर न रहना, मैं यह हूं–ऐसी सुध नहीं है, तब

इस पर विपत्तियां है। सुध न होना ही विपत्ति है और जहाँ आत्मा की सुध नहीं है वहाँ बाहर ही बाहर उपयोग दौड़ेगा। जब आनन्दका धाम न पाया तो आनन्द पानेकी इच्छा तो रहती ही है। भीतरी आनन्द मिला नहीं, क्योंकि खबर ही नहीं उसकी। अज्ञान छाया है। जब यह बाहर में अपने उपयोग को दौड़ाता रहता है यही विपत्ति है। अपनी सुध न होना और बाहर ही बाहर उपयोगका दौड़ाना यही विपत्ति है। चाहे छोटा पुरुष हो, चाहे बड़ा पुरुष हो, सबपर विपत्ति आती है तो इसी ढंग से आती है। यह है विपत्ति की बात, जिससे कि यह जीव हटना नहीं चाहता। मान रहा है और और कुछ विपत्ति।

सम्पदाका तथ्य––अच्छा अब सम्पदाकी बात देखो––सम्पदा क्या है? विपत्तिका अभाव होना यही सम्पदा है। विपत्ति है विकल्प है विकल्प का विलय हो तो सम्पदा मिले। लोग विषयों के बश होकर, कषायों से पीड़ित होकर नाना तरह के विकल्प मचाया करते हैं, उन विकल्पों का विलय हो जाय तो यही सम्पत्ति है। जहाँ विकल्प का विलय है वहाँ सम्पदाका समागम है। विकल्प रहे नहीं, सम्पदा भरपूर स्वयं है, बस वही एक सम्पदा है। लोग जिसको सम्पदा मानते हैं वह तो सब विपत्तिका साधन है। बाहर भिन्न पदार्थ उनका समागम हो जाय इसको कहते हैं सम्पदा। लेकिन भाई मुक्ति का मार्ग और संसार का मार्ग ये बिल्कुल उल्टे–उल्टे रास्ते हैं। बाहरी पदार्थोंमें आसक्त होना, बाहरी पदार्थोंके संग होनेपर अपने को बड़ा अनुभव करना यह सब कहलाती है विपत्ति। इस विपत्ति में सभी ग्रस्त हो रहे हैं, यही कारण है कि उन्हें चैन नहीं पड़ती। छोटे लोगों को ये लोकमें बड़े धनिक लोग दिखते हैं कि ये बड़े सुखी हैं, लेकिन जो लोकमें लौकिक बड़ा है उसका दुःख इतना कठिन है कि उन दुःखों को नहीं सह सकता तो मरण ही शरण है। छोटे लोगों को क्या, कहीं बैठ लिया तो क्या हुआ? कहीं झगड़ा हो गया, कहीं गाली–गलौज हो गया, कहीं इष्टवियोग हो गया तो छोटे लोग उसपर बहुत महसूस नहीं करते और जो लोकमें बड़े कहलाते हैं, जिनके धन विशेष है, प्रतिष्ठा विशेष है वे कुछ ही विचार बनाकर अपने को दुःखी अनुभव करते हैं। तो विपत्ति क्या है? अपनी सुध न होना और बाहर ही बाहर उपयोग जोड़ना, और सम्पदा क्या है? विकल्पका विलय होना और सम्पदा का समागम होना, यही सम्पदा है। अच्छा कोई यह बता सकता क्या कि कितनी लौकिक सम्पदा मिले तो उसे सेठ (बड़ा) कहा जाय? तो इसका कोई निर्णय नहीं दे सकता। क्योंकि जितना मिलता जाय उतनी ही इसकी तृष्णा बढ़े, उतना ही इसक विचार बढ़े। भील लोग जब कभी आपसमें वार्ता करते तो कहते होंगे कि सुखी तो राजा होता है? .....कैसे? इसलिए कि वह तो रोज–रोज गुड़ ही गुड़ खाता होगा। अब भीलों की जितनी बुद्धि और जितने से उन्होंने सुख मान लिया, वहाँ ही तक उनकी दौड़ जाती है। और तो राजा है उनसे पूछो कि उन्हें कितना सुख है तो उन्हें ऐसी चिंतायें, ऐसी विकट समस्यायें आ जाती हैं कि जहाँ न चाहे अनेक काम करने पड़ते हैं। रात्रिको नींद न आये, फिक्र बनी रहे। तो कोई बाहरमें कितना निर्णय बना सकता कि इतना मिल जाय तो सुखी रहेगा। ऐसा कोई निर्णय नहीं दे सकता। इसका कारण यह है कि बाहरकी चीजें सम्पदा ही नहीं कहलातीं। और यह निर्णय बना बनाया है कि जहाँ आत्मसम्पदाका समागम हो वहाँ आनन्द ही आनन्द है, समता ही सम्पदा है। जहाँ विकल्प नहीं उठ रहा वहाँ सर्व सम्पदा है। तो पहला निर्णय क्या किया कि जहाँ आत्माकी सुध नहीं और उपयोग बाहर ही बाहर दौड़ता हो, बस वही जीवपर विपदा है। और दूसरी बात क्या कही कि जहाँ विकल्प न उठें और रागद्वेष का अभाव याने समताका परिणाम बने बस वही एक मात्र सम्पदा है। कोई कहे कि सम्पदा चाहिए तो झट उसका अर्थ लगाओ कि सबमें समता का परिणाम बने और किसी के प्रति भी द्वेष विकल्प उत्पन्न न हो, बस यही हुआ समता का रूप। दो बातें हुईं सम्पदा और विपदा।

लौकिक सम्पत्ति की चाह से व विपत्ति के भयसे हटकर परमार्थ शरण्य के आलंबन का कर्तव्य––अब तीसरी बात सुनो––अपने लिए शरण क्या है? बाहरमें तो अपना कुछ शरण है नहीं। केवल विकल्प ही विकल्प है। कल्पना ही की जाती है। वास्तविक शरण है क्या? तो वह मिलेगा अपने आपके आत्मामें और उस शरण को पाने के लिए कहीं से हटना और कहीं लगना––ये दो काम करने होंगे। एक अन्य की दृष्टि तो हट जाय याने ऐसी शानत गंभीर उदार धीर ज्ञानी वृत्ति बने कि जहाँ अन्य की दृष्टि न रहे। बाहरी पदार्थों पर दृष्टि गड़े, उनमें कुछ अपनायत बने तो उसका फल तो अशान्ति है, दुःख है। अन्य की दृष्टि न रहना चाहिए और दृष्टि बने तो किसकी? जो शाश्वत आनन्दस्वरूप है ऐसे निज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि बने बस यही मात्र इस जीवको शरण है। तो यहाँ तीन बातें कहीं गईं––विपत्ति क्या है? सम्पदा क्या है? विपदा है अपनी सुध न होना, बाहरी वस्तुमें उपयोग लगना। इस विपत्तिसे हटनेकी आवश्यकता है। अपना ज्ञानबल ऐसा पुष्ट बनायें कि अपनी सुध न भूल सकें। बाहरी पदार्थोंमें उपयोग देनेसे एकाग्र चित्त न हो सके, यह तो है विपदा और किसी प्रकार का विकल्प न उठे, समतापरिणाम रहे यह है सम्पदा और जो अपने आपका सहज स्वरूप है वही है शरण। उस ही स्वरूपका आश्रय करना, उस स्वरूपमें ही अपनी प्रतीति रखना बस यही वास्तवमें जीवका शरण है। विपत्तिसे हटो, सम्पदा में लगो और शरण्यका आलम्बन लो।

(48)

मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप ही हूं, मुझमें कष्टका कोई काम नहीं, परपदार्थमें व्यर्थ कुछ सोचने की कुटेव करने से दुःख होता है। मैं स्वयं में, स्वयंकी वृत्तिसे रहूं, यही मात्र मेरी ईमानदारी है।

कष्टरहित आत्मस्वरूपका मनन––अनेक प्रकारसे जब जीवने अपने आपको समझा लिया, प्रतिबोध लिया तो यह जीव अपने आपमें यह निर्णय करता है कि मैं तो सदा आनन्दस्वरूप हूं। उद्दण्डता न करें, वस्तुस्वरूपकी दृष्टि से बेईमानी न करें तो इसका आनन्द तो प्रत्यक्ष है। जीव बेइमानी क्या करता है? वस्तुस्वरूप यह है कि किसी भी वस्तुका परिणमन, गुण किसी अन्य वस्तुमें नहीं पहुंचता। भले ही यह जीव अपने स्वरूपसे विमुख होकर बेईमान बने याने किसी परपदार्थ की ओर अभिमुख बने तो भी परपदार्थ में नहीं गया यह, पर पदार्थको नहीं करता यह, किन्तु उस प्रकारकी कल्पना बना लिया याने जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा न मानकर अब अहंकार कर्तृत्वभाव रखना, यह ही कहलाती है बेईमानी। शब्द बुरा भले ही लगे, पर बेईमानी का अर्थ क्या है? सत्पथसे हटना और कुपथमें लगना। तो हाँ अपनी सच्चाईपर रहें, जैसा मेरा स्वभाव है उसके अनुकूल चलें तो यहाँ आनन्द में कोई बाधा नहीं आती। अनधिकार काम करनेसे अशान्ति बढ़ती है। सर्वत्र घटा लो, यह बात। जिस बातमें अपना अधिकार नहीं उसमें अपने को आसक्त बनायें, उसमें दखल दे ंतो वहाँ विपत्ति होना, कष्ट आना प्राकृतिक बात है। तो अपने स्वरूपके अनुरूप उपयोग बनाये ंतो आनन्द ही आनन्द है, वहाँ कष्टका काम नहीं। एक मोटीसी बात समझ लो कि जो कुछ जिसे मिला है अभी उससे इस जीवका पूरा पड़ जायगा क्या? इस भवसे जायगा। साराका सारा नहीं धरा रह जायगा। करोड़ोंकी माया हो, मरनेके बाद इस जीवका एक पैसा भी तो काममें नहीं आ पाता। तो जब मर गए और सब यहीं छोड़ गए, यह स्थिति आती है। तो जो छूट जायगा उसमें ममता क्यों की जा रही है? वस्तुस्वरूपके खिलाफ तो वहाँ विपत्ति आना प्राकृतिक बात है। तो अपने स्वरूपको देखो––आनन्दस्वरूप है, यहाँ कष्टका कुछ भी नाम नहीं। है। कष्ट होता कैसे है? बाह्य पदार्थोंसे बारेमें व्यर्थ सोच लगाये फिरते हैं और उसी लगाव की कुटेव बनाये फिरते हैं, बस यही है विपत्ति का

आधार। जो अनधिकार चेष्टा करेगा वह कर्मबन्धन में आयेगा, कष्ट होगा, संसारमें रुलेगा। तो अनुभव करें कि यह मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान ज्ञानस्वरूप को ही अपनेमें लगायें, ऐसे ही अपने में देखिये कि मैं आनन्द स्वरूप हूं। ऐसा जब अपने एक सहज आनन्दस्वभाव को देखा वहाँ कष्टका कोई काम नहीं।

संकटमुक्तिके लिये अपना कर्तव्य––अब सोचिये अपनेको क्या करना, जिससे कि अशान्ति न हो और शान्तिका विलास बने। क्या करना चाहिए? अपना स्वरूप निरखकर और यह कर क्या सकता है वास्तवमें, इतना निर्णय बनाकर बस उसीको करें जो निर्णयमें आया है अपने कल्याणके लिए। क्या करना? खुद–खुदके लिए खुदके द्वारा खुद जानकारी रूपसे रहे, यह ही तो है वास्तविक ईमानदारी और जो अपनी वृत्ति से चिगे और बाह्य वृत्ति में लगे तो बस वही सब है अपनी अशुद्धता। तो अपने को देखो, अपनेको जानो, अपनेमें लीन रहो, बस इसीका नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। जाप तो दे लेते हैं, जैसे रत्नत्रयका व्रत हो, और और समय हो। माला के अंतमें बोल ही लेते हैं–सम्यग्दर्शनाय नमः सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यकचारित्राय नमः, किन्तु जब एक प्रेक्टिकल करते हैं, इसको जो मैंने बताया, समझाया वह मैं अपने पर तो कुछ प्रयोग करूँ, जब अपने ज्ञानको अपने स्वरूपमें लेने बैठते हैं तो कुछ दिक्कतें आती हैं, उनका परिहार करते हैं। आखिर मोक्षमार्गके कामकी धुन होगी तो नियमसे मोक्षमार्ग मिलेगा, और मोक्ष मिलेगा, पर बात–बात ही हो केवल कि चार आदमियोंमें धर्मकी बात कहनेसे बड़प्पन होता है, इसी ख्यालसे अगर बात ही बात करें तो उसको लाभ तो कुछ नहीं, उल्टा बरबादी ही है। प्रयोग प्रेक्टिकल करें, जो सुना है उसे अपने आपपर घटित करें। उस धनमें आयेगे तो सब रास्ता मिलेगा। यह विश्वास रखना कि मेरेमें कष्ट नहीं। कष्ट तो हम उद्दण्डता करते हैं और सिर मार लेते हैं, बाह्य पदार्थों में कुछ से कुछ कर देनेकी कुटेव रखते हैं और दुःखी होते हैं इसलिये सब अपने–2 स्वरूप में रहने वाला देखें। कोई अपनेसे बाहर कुछ करता हो, ऐसा मत देखो। यह तो एक मिथ्या आशय है। मैं ज्ञानरूप हूं, आनन्दमय हूं, मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है, यह बात ध्यानमें रहे तो अशान्ति दूर होगी। और जो ईर्ष्या रहे, हमने इतना ही काम किया, इसने ज्यादा किया अथवा इसने इतने गहने पहन लिए, इसकी इतनी इज्चत है, हमारी इतनी ही इज्जत है, ऐसी बात जब चित्त में रहती है तो यह बिल्कुल बेकार बात है और संसार में रुलने जैसी बात है। अपनी शोभा बढ़ाओ ज्ञान द्वारा। जो सद्गुण हैं उन सद्गुणों के अनुसार चलेगे तो भला ही होगा और जो बुराई की ओर चलेगा, बुराई देखकर चलेगा, दूसरे जीव सुहाये ही नहीं, उसके भीतर बसे हुए परमार्थस्वरूपकी सुध ही न रखना, ऐसी प्रक्रिया अगर करता है जीव तो उसे दुःख होना प्राकृतिक बात है। अपने को संभालें तो सब संभल जायगा, अपनी संभाल न कर सके तो बाहरमें कुछ भी पदार्थका संचय करें, पर संभाल कुछ न पायेंगे। अपनेको सबसे निराला अकेला समझ लो, शान्ति का मार्ग मिल जायगा। और कैसा अकेला समझें कि शरीर से भी निराला, छुटपुट ज्ञानसे भी निराला, सहज शाश्वत एकस्वरूप रहने वाला मेरा स्वरूप। उसमें ही दृष्टि बनायें कि यह मैं हूं तो सब संकट दूर हो जायेंगे, सम्यक्त्व मिलेगा, ज्ञान बनेगा, चारित्र बनेगा। केवल एक अपने आत्माकी सुध रखनेसे सारे संकट सदाके लिए टल जायेंगे।

(49)

मृत्युसे डरने से मृत्यु न मिटेगी, सुखके चाहने से सुख न मिल जायगा। अमर आनन्दमय निजस्वरूपकी रुचि से मृत्यु भी मिटेगी, आनन्द भी मिलेगा। अन्तर्नाथ! तू ही सनातन स्वतः परिपूर्ण होनेसे अपने लिये सर्वस्व है।

मृत्युभयको दूर करनेका विवके––संसारके प्राणी एक बात चाहते हैं और एक बात से डरते हैं। डरने की बातें तो अनेक हैं, पर उनमें से एक मुख्य बात है मृत्यु और चाहनेकी बातोंमें प्रधान है केवल एक सुख। सुख तो चाहते हैं और मृत्यु से डरते हैं। लेकिन मृत्युसे डरने से क्या कभी मृत्यु से छुटकारा मिल सकेगा? मृत्युसे डरने वाला तो भविष्यमें मृत्यु ही पायगा। क्योंकि मृत्युसे डर उनको होता है जिनको देहसे ममता होती है। जिनको देहसे ममता है उनको मिथ्यात्व है, जिनके मिथ्यात्व है उनको संसारकी सब दशाओंमें भ्रमण होता है। वे सभी दुर्दशायें मिथ्यादृष्टि जीवको सहनी पड़ती है। तो मृत्युसे डरने का तो और भयंकर परिणाम है। मृत्युसे डर न आये, मृत्यु के समय धीरता रहे, मृत्युके समय आनन्दरसमें मग्नता रहे, ऐसा कोई उपाय बन सके तो मृत्युपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। जिन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त की उन्हें बोलते हैं कृतान्तकृत् याने यमराजको भी जीतने वाले, मृत्युञ्जय। मृत्युपर विजय कैसे होती है, उसका सीधा उपाय है कि कि मृत्युरहित जो आत्मा का सहज ज्ञानस्वरूप है 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव पुष्ट बने, अवश्य ही मृत्युपर विजय हो जायगी। जैसे बन्दरोंसे डरे तो बन्दर और आक्रमण करते हैं और बन्दर तो खुद डर करके बोला करते हैं, घुड़की देते हैं और लोग समझते हैं कि यह मुझपर बोल रहा। जैसे यह मनुष्य डरा बैसे ही बंदरों का और भी आक्रमण बढ़ता जाता है। तो मृत्यु क्या है, समय क्या गुजरता है, यह तो होता ही रहता है। अब उस मृत्युसे डर बना तो मृत्युका भव भवमें आक्रमण चलता है। मृत्युञ्जय बनना चाहिए और यह बात कब बन सकती है जबकि सारे जगत से निराला अपने आपके स्वरूपमें 'यह मैं हूं' ऐसा विश्वास बने।

अन्तः प्रकाशमान प्रभुके आश्रयसे मृत्यु आदि सर्वसंकटोंका निवारण––देखो अपना तथ्य स्वरूप। मुझको कोई दुनियाके लोग नहीं जानते और मैं ऐसा सोचूँ कि मुझको बहुतसे लोग जानते हैं, मेरा बड़ा परिचय है तो संकोच होगा, शर्म होगी, भय होगा, विकल्प होगा। तकलीफ में पड़ जाता है। और जहाँ वास्तविकता जाना कि मैं तो अविचलित चैतन्यस्वरूप हूं, इस अचलित चैतन्यस्वरूपका परिचय करने वाला यहाँ कोई नहीं है। जिस रूपमें लोग परिचय करते हैं वह मैं नहीं हूं। अभी कोई कुछ निन्दा कर रहा हो और यह समझमें आये कि यह मेरी ही बात शायद कर रहा है तो भीतर में बड़ा उद्वेग होता है और थोड़ा सुनकर, पूछकर जब यह जान जाय कि यह तो दूसरे की बात कह रहा तब फिर यह शान्त हो जाता है, ठंडा होता है, निराकुल रह जाता है। जैसे मानो नाममें भी एक दो अक्षरों का ही फर्क हो, जैसे दो नाम हैं––अमृतलाल और अमृतचन्द्र। अब अमृतलाल यह सुनता है कि यह हमारी बुराई कर रहा है तो यह दुःखी होता है और थोड़ी ही देरमें जब यह समझमें आया कि अरे यह तो अमृतचन्द्रकी बात कर रहा है तो यह खुश हो जाता है, मेरा कुछ नहीं कर रहा है। तो ऐसे ही एक तो है परमार्थ नाम, चैतन्यस्वरूप और एक है अपरमाथ चिदाभास। चित् और चिदाभास लोग बुराइयाँ कर रहे और यह समझे कि मेरी बुराई की जा रही तो यह दुःखी होता है। अरे जानो कि मैं तो चित् हूं और यह बुराई चिदाभासकी कर रहा है, यह समझें तो आकुलता न होगी। मैं चिदाभास नहीं, मैं तो चैतन्यस्वरूप हूं। चिदाभासका अर्थ है जो चैतन्य तो नहीं है, पर चैतन्यस्वरूपकी तरह लगे। क्रोध, मान, माया, लोभ, पर्याय, विकार, विचार आदि ये मैं नहीं हूँ, मैं तो अनादि अनन्त एक ध्रुव तत्त्व हूं। पर ये बातें मेरे में ही तो प्रकट होतीं, ये सब चिदाभास हैं। प्रथम तो लोग विभावको ही नहीं जानते। केवल एक जो आकार दीखा मनुष्यका, बस उसी आकार को समझते कि यह फलाने हैं। उसकी बुराई, उसके विभाग गुण पर्यायको भी नहीं समझते कि किसकी बुराई कर रहे? अरे कोई इन विभाव गुण पर्यायों की बुराई करे तो वह तो बड़ी भली बात है। मैं तो विकाररहित केवल एक शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, यह दृष्टि जगनी चाहिए।

तो जिसने मृत्युरहित अविकार चैतन्यस्वरूपको 'यह मैं हूं', ऐसा मान लिया तो उसको मृत्युका भय नहीं होता। मृत्युसे यह प्राणी डरता है और डरनेसे कहीं मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकता। किन्तु मेरी तो मृत्यु ही नहीं। मैं तो मृत्युरहित केवल एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। मुझे मृत्युका डर नहीं। देखो इसके साथ–साथ ऐसा ही दृढ़ भाव होना चाहिए कि जब मैं यह शरीर ही नही तो फिर यहाँ के ये धन–वैभव, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिक बाह्य चीजें तो मैं हो ही क्या सकता हूं? मैं तो इन सबसे निराला केवल चैतन्यस्वरूप हूं––यह जिसको बोध है उसको किसी का भय नहीं। जिसने मृत्युको जीत लिया उसको फिर किसी का भय नहीं। आखिरी भय तो जीवको मृत्युका है। धन जाता है और प्राण जाते, ऐसी घटना हो तो धनको तो चले जाने देते, पर प्राण बचाते हैं। किसी कुटुम्बीके या मित्रके प्राण जाते हों और खुदके प्राण जाते हों तो दूसरे की तो उपेक्षा कर देंगे और अपने प्राणोंको बचायेंगे। तो मृत्युसे अधिक भयकी चीज कुछ नहीं है लोक में। जिसने मृत्युपर विजय प्राप्त कर लिया उसने सर्व विपदाओं पर विजय पा लिया। तो मृत्युपर विजय पानेका उपाय यह है कि अविनाशी आत्मस्वरूपको, 'यह मैं हूं' ऐसा विश्वास बन जाय।

सुखकी चाहकी अनर्थकारिता व आनन्दकी आत्मस्वरूपता––अच्छा अब सुखपर विचार करो। जगतके प्राणी सुख चाहते हैं और उन सुखोंमें यह निर्णय कर रखा है कि यह ही तो है सुख–अच्छा खाना पीना मिले, अच्छा ऐश आराम मिले, पञ्चेन्द्रियके विषय साधन मिबें, सबपर हुकूमत चले, सबसे बड़े कहलायें, ये ही कहलाते हैं सुख। तो इन सुखोंको चाहने से क्या मिल जाता है? सो चाहते हैं सुख। तीनों लोकका वैभव तो जितना है सो ही है और हर एक जीव चाहता है कि मुझको तो सारा वैभव मिले। तो बताओ न तो ऐसा कभी हो सकता है और न यह कभी सुख मान सकता है। तो सुखका ही स्वरूप गलत समझा है तो सुखकी चाहसे सुख मिल सकता है? अथवा यों कहो कि सुखको तो चाहता है यह प्राणी, पर आनन्दको नहीं चाहता। सुखमें और आनन्दमें अन्तर है। सुख तो नाम है विषयोंकी साधना करना और आनन्द नाम है ऐसा ज्ञान जगे जिसमें समतापरिणाम हो और आत्माके गुणों का सर्वतोमुखी विकास हो, उसका नाम है आनन्द। तो आनन्दकी चाह तो बिरला ही भव्य पुरुषकर सकता है, लेकिन संसारके प्राणी सुखकी चाहमें निरन्तर रहते हैं, पर सुखके चाहे जाने से सुखकी प्राप्ति नहीं होती। सुख क्या, सुखसे बढ़कर असीम सुख अलौकिक सुख, सहज आनन्दके लाभकी बात करनी चाहिए। तो सुख कैसे मिले? पहले तो यह समझना होगा कि मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हूं। मेरे आनन्दमें कोई दूसरा पदार्थ बाधा नहीं डाल सकता। तब स्वरूप ही आनन्द है। मैं ही जब आनन्दस्वरूपकी सुध छोड़ देता हूं और बाहर–बाहर हो उपयोग भटकाता रहता हूं तो आनन्द गायब हो जाता है और उसके एबजमें सुख मिलेगा या दुःख–दुःख मिलेगा तो कष्ट और आकुलता मिलेगा तो कष्ट। ऐसा सद्बुद्धि बने कि मुझे संसारका रंच भी सुख न चाहिए। मैं तो अपने आनन्दस्वरूपमें ही मग्न रहूंगा वह पुरुष आनन्द पा सकता है। जिसने सुखकी चाहकी उसे आनन्द कभी न मिलेगा। सुख भी चाह छोड़ेंगे तो आनन्द मिलेगा। तो यह जीव हमेशा सुख चाहता है, पर चाहने से सुखका लाभ नहीं होता। विलक्षण सुखका, आनन्दका लाभ मिलेगा तो आनन्दस्वरूप निज स्वरूपकी रुचि करनेमें मिलेगा।

बनावट दिखावट सजावट के परिहारसे आनन्दका सुगमतया लाभ––बनावट, दिखावट सजावट छोड़ दो, आनन्द मिल जायगा। बनावट क्या होती है? मैं गृहस्थ हूं, त्यागी हूं, साधु हूं आदि सोचना यह ही तो कहलाता बनना। मैं हूं एक चैतन्यस्वरूप, उसके अतिरिक्त कुछ भी अपनेको मानना यह ही बनना कहलाता है। अभी 10–20 आदिमयोंके

बीच कोई कुछ बनता हो याने उनसे बढ़–बढ़कर या और–और रूपमें अपनेको पेश करता हो तो लोग कहते हैं कि देखो यह कैसा बन रहा है? तो बननेको तो लोग अच्छा नहीं कहते। बनना एक निन्दा की बात है तो मैं हूं एक अचलितस्वरूप और अपनेको मानूँ कि मैं पुरुष हूँ, त्यागी हूँ, अमुक हूँ, तमुक हूँ, तो यही बनना कहलाता है। जो बनेगा सो दुःख पायगा। मैं न बनूँगा। जो अपने आप सहज स्वयं होता हो वह हो। जो इसका ही आग्रह रखेगा। उसको कष्ट न मिलेगा। तो यह तो कहलाया बनावट और इस तरहकी बात दूसरे को दिखाना यह कहलाया दिखावट। बनावटमें तो संकल्प है, मानसिक बात है, पर दिखावट में अपनी कुछ मुद्रा दिखाना यह दिखवट कहलाती है। तो जो दिखावट करेगा वह भी क्लेश पायगा। और तीसरी चीज है सजावट। अपनेको सजाना, जैसा चाहे परिकर रखना, बहुत से लोगोंका संग रखना, उनके द्वारा अपना कुछ प्रचार कराना, यह बहुत बड़े हैं, फलाने हैं, विदेह से आये हैं, अमुक तमुक हैं, ऐसा दूसरोंसे प्रचार कराना, खुद भी अकेले अकेले प्रचार करना, यह कहलाता है सजावट, दिखावट, सजावट जहाँ है, भले ही इस मोही जगतमें उनका यश फैले, मगर मोक्षमार्ग तो नहीं मिलता। मोक्ष मार्गके पात्र वे ही हैं जो बनावट, दिखावट, सजावटसे अलग हैं और वे ही आनन्दको पा सकते हैं।

मृत्युभय व सुखाकांक्षाको तजकर सहज आनन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्व के आलंबन से सहज आनन्दके पानेका अनुरोध––सारी दुनिया सुख चाहती है, मगर सुख चाहने से तो सुख नहीं मिलता। सुख चाहता है और मृत्युसे डरता है। सदाके लिए संकटमुक्त होना है तो अपने आपके स्वरूपर विश्वास बनाओ। यह ही तुम्हारा अन्तर्नाथ है, भीतरका प्रभु है, जिसकी प्रसन्नता पर भली सृष्टि होती है और जिसके मुरझा जाने पर बुरी सृष्टि होती है। वह मेरा मेरे में ही है, उस अन्तर्प्रभुकी भक्ति करो। हे अन्तर्नाथ! तू ही मेरे लिए सर्वस्व है। प्रसन्न करूँ तो तुझको करूँ तो मेरेको लाभ है। और दुनियाके बाहरी लोगोंको, कर्मके प्रेरे पापी जनोंको प्रसन्न करना चाहूँ तो यह केवल मेरी मूढ़ता है। हे अन्तर्नाथ! तू ही मेरा सर्वस्व है, तू अनादि अनन्त है, सनातन है, खुद ही परिपूर्ण है। तू अधूरा नहीं है, अपनी सत्ता लिए हुए है। ज्ञानानन्द जो स्वभाव है उस स्वभावरूपसे पूर्ण है, घन है। तू ही मेरे लिए सर्वस्व है। यहाँ ही दृष्टि अधिकाधिक रहे, उसीको तो कहते हैं योगी, संसारके समस्त संकटोंसे पार होने वाला। तो सुखकी चाहमें, मृत्युके डरमें जीवन न गुजारें, किन्तु अविनाशी आनन्दमय स्वतः परिपूर्ण निज अन्तर्नाथ की भक्ति करें और अपना अच्छा भविष्य प्राप्त करें।

(50)

प्रगति चाहते हो तो मिथ्यावचनमत बोलो, अप्रिय, अहित भी मत बोलो, अपनी विफलता, कमी, त्रुटि ढांकने का प्रयत्नम त करो। अपनी उपलब्ध साधारण सफलताओं का डंका मत बजाओ।

आत्मप्रगति चाहने वालों का मिथ्या वचन न बोलने का कर्तव्य––सभी प्राणियोंके चित्तमें यह बात समायी रहती है कि मेरी प्रगति हो, उन्नति हो। भले ही किसी ने प्रगति समझी है एक लौकिक बड़प्पन में तो विवेकियों ने प्रगति समझी है रागद्वेष दूर करनेमें और समतापरिणाममें स्थित रहनेमें। तो वास्तविक प्रगति तो आत्मविकास है, और लौकिक प्रगति की भी बात समझो तो भी दोनों विकासों का उपाय है, मिथ्या वचन मत बोलें। मनुष्य का धन वचन है। पैसा तो घर में ही धरा रह जाता है। यहाँ आये हैं आप लोग तो क्या धन को अपने साथ लाये हैं, लेकिन आपके वचन तो यहाँ भी साथ हैं। वचनशक्ति सब जगह साथ है। मनुष्यका परिचय होता है तो वचनसे होता है। यह मनुष्य अच्छा है, बुरा है, कपटी है, साफ है, सब तरह की पहचान वचनों से होती है। तो वचनों की सम्हाल, वचनोंका संयम इस मनुष्य को उन्नति के लिये प्रति आवश्यक है। तो उस वचनसंयममें

पहली बात यह है कि मिथ्या वचन मत बोलें। मिथ्या का अर्थ क्या? जैसी बात है उससे उल्टी कहना। जैसा नहीं है वैसा कहना। जो है उसे न कहना, जो नहीं है उसे कहना, ये सब मिथ्या वचन कहलाते हैं। और इन सब मिथ्या वचनोंके न बोलने का प्रयोजन यह है कि खुद के आनन्द में बाधा न हो, दूसरे के आनन्द में बाधा न हो।

तो जब कोई जीव मिथ्या वचन बोलता है तब प्रथम तो वही अपने मनमें आकुलता उत्पन्न करता है, क्योंकि सत्यके विपरीत सोचनेमें, विचारनेमें, बोलनेमें, करनेमें आत्मामें घबड़ाहट बहुत होती है। पापकार्य करने में घबड़ाहट पहले होती है। भले ही आदत ऐसी बनी है अनादि से किपाप करते हैं और बड़े सुभट बनते हैं, घबड़ाहट नहीं करते, लेकिन कैसा ही कोई दुष्पाप हो और कैसा ही उसने पापका अभ्यास बना लिया हो, लेकिन अन्तरंग में एक किरण जरूर आ जायगी। जो अन्तरंग में गुप्त ही गुप्त यह सिखा रही हो कि यह काम तो ठीक नहीं, और जहाँ यह समझा कि यह कार्य उचित नहीं, फिर करे तो घबड़ाहट अवश्य होती है। तो मिथ्या वचन भी घबड़ाहट उत्पन्न करने वाले वचन है, और फिर यह समझिये कि मिथ्या वचन बोलकर हमने अपना बड़ा महत्त्व बताया तो प्रगति हमने क्या की और भविष्य में अनेक विपत्तियों का प्रोग्राम बनाया है। मिथ्या वचन बोलने से इस जीवकी हानि है, लाभ कुछ नहीं मिलता और कदाचित थोड़ा लाभ मिल जाये, लाभ क्या, लौकिक पुद्गल स्कंधका, तो वह लाभ यों नहीं है कि जब भीतर में पापकर्म का बंध होता है और संक्लेश कहा क्या गया है, तो कितने दिनोंका चिकनापन है? अन्तमें तो बड़ी दुर्दशा होने को है तो मिथ्या वचन, लोगों से बोलने का साधन है वचन, और जिसके मिथ्या वचन हैं उसकी प्रगति नहीं हो सकती।

लोग सोचते हैं कि मिथ्या बोले बिना दुकान भी नहीं चलती, रोजिगार भी नहीं चलता, पर यह बात बिल्कुल असत्य है। ग्राहक यदि समझ ले कि यह मिथ्या वचन बोल रहा है, तो वह आपकी चीज खरीदेगा क्या? आप चाहे मिथ्या बोल रहे हों, पर ग्राहकपर यह छाप रहे कि आप सच बोल रहे तब ग्राहक आपसे सम्बन्ध बनायगा। यदि ग्राहककी समझमें अगर मिथ्या बात आ जाये तब तीन चलेगी फर्म, न चलेगी दुकान। ग्राहक के चित्त में जब यह बात बैठेगी कि यह सच्ची दुकान है, ठीक बोलता है, सही बोलता है, तब ही तो बात बनती है। अच्छा अगर आप मिथ्या ही मिथ्या बोलते जाये ंतो यह नहीं हो सकता कि ग्राहक को सदा धोखा ही धोख हो। ज बवह समझजायेगा कि अरे यह तो मिथ्या बोलता है तो उसी दिनसे उसका व्यवहार समाप्त हो जाता है। तो ग्राहक समझता है कि यह सच बोलता है। और दुकानदार अगर सच बोले तो क्या उसका काम चलेगा नहीं? अरे विशेष चलेगा। सच बोलने का साहस क्यों नहीं बनाते? सच बोलना एक तपश्चरण है। उसमें बहुत–बहुत अनेक बाधायें आती हैं, किन्तु उन बाधाओं से न घबड़ाये ंतो उसकी सत्यवादिता से जीवनभर आनन्द मिलेगा। तो आत्मप्रगति चाहते हो तो पहली बात यह है कि मिथ्या वचन मत बोलें, जो कि अभी बताया कि मिथ्या वचन चार प्रकारके होते हैं।

आत्मप्रगति चाहने वालोंका अप्रिय अहित वचन न बोलनेका कर्तव्य––अब एक 5वां मिथ्या वचन भी समझिये–जो वचन अप्रिय हों, अहित हों वे वचन मिथ्या कहलाते हैं। चाहे चीज के हिसाब से सच भी वचन हों, मगर दूसरे को दुःख देदे, दूसरे की निन्दाका हो, दूसरे का अहित करे तो उसको भी मिथ्या वचन कहा है। बोलनेका प्रयोजन क्या है स्व–पर आनन्द। प्रयोजन को भूल जाये ंतो साधना ठीक न बनेगी। जैसे रसोई का प्रयोजन क्या है? भोजन करना। क्या कभी कोई ऐसा बेवकूफ भी देखा कि भोजन करनेकी तो बात ही न करे और भोजन–सामग्री दसों तरह की बनाता जाये, फेंकता जाय। यदि कोई प्रयोजनको छोड़कर साधनामें लगता है तो वह विवेकी नहीं है। जैसे व्यवहार धर्मका

प्रयोजन है रत्नत्रय भावका धारण। कोई रत्नत्रय भावकी सुध न रखकर फिर उस क्रियाकाण्डमें लगे तो उसे विवेकी नहीं कहते। क्रियाकाण्ड छोड़ने में विवके नहीं, क्रियाकाण्ड करते हुय में भीतरमें अपना ज्ञानबल बढ़ावें और रत्नत्रयकी साधना करें, आत्मस्वरूपको जानकर इस ही स्वरूपमें मग्न होवें। ऐसे ही सही वचन बोलने का प्रयोजन है स्व–पर आनन्द। यदि किसी वचनसे इस प्रयोजनमें बाधा आये तो फिर ये वचन सही न कहलाये तो आत्मप्रगति करना है तो कभी अप्रियवचन मत बोलें और अहितकारी वचन मत बोलें। अपने से वही वचन निकलें जिसमें दूसरे का हित हो और दूसरेको आनन्द हो। मिथ्या मत बोलें, अप्रिय मत बोलें, अहित मत बोलें, ऐसी साधना से प्रगतिका मार्ग मिलेगा।

अपनी त्रुटियां कमियां विफलताये ढांकनेसे आत्मप्रगति में बाधा––आगे बढ़ने के लिये व्यवहार की बात कही जा रही थी कि यदि आत्मप्रगति चाहते हो तो मिथ्यावचन मत बोलो। अप्रिय और अहित वचन मत बोलो, इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना है कि चूंकि यह मानव साधना में लगाकर भी अनेक कमियोंका, दोषों का यह घर रहता है। तो वहाँ जिसको प्रगति की वाञ्छा है। उसे यह चाहिये कि अपनेमें जो कमी है, त्रुटि है या विफलता है उसको कभी ढांके नहीं, अर्थात् खुद तो समझता रहे और जिस सत्संगमें साधनामें चलते हैं उस सत्संग से भी गुप्त न रखें। देखिये एक लौकिक बात है कि अभी सन् 1971 में जब पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में बंगला देश के प्रसंग में लड़ाई चल रही थी तो पाकिस्तानी हाईकमानने अपनी एक शान दिखाने के लिये अपनी विफलताओं को डाँका, कमियों को ढांका, त्रुटियों को ढाँका। पाकिस्तानियों को यह नहीं मालूम होने दिया कि हम कुछ पराजयपर हैं बल्कि और उल्टे उल्टे समाचार ही फैलाये, अब बम्बई हड़प लिया, अब आगरा को ध्वस्त कर दिया, अब थोड़ी ही देर में दिल्ली पहुंचने वाले हैं, और खुद में क्या विफलता थी, कहाँ हारे, कहां कमी पड़ी, इस बातको छिपा लिया तो उसका फल क्या हुआ? जैसा कि कभी इतिहास में नहीं सुना कि 90 हजार सैनिकों ने आत्मसमर्पण कर दिया, वह बात सुनने में आयी। यह तो है एक देश देशकी बात, पर उस रीति से अपने आत्मा पर भी घटाना। इस घटना को बताकर एक रीति बतला रहे कि हम साधना करते हैं और साधना करते हुये भी त्रुटियाँ रहती हैं। विफलतायें होती हैं, उनको ढाकना या उनको अपनी दृष्टि से ओझल करना और समाज को भी पता न लगने देना और उस ही ढांचेमें समाजको भी बहा ले जाना–ये सारी बातें खुदकी प्रगतिकी भी बाधक हैं और दूसरे की प्रगतिको भी बाधक है। तो आत्मप्रगति चाहने वाले पुरुष जैसे मिथ्या वचन, अप्रिय वचन, अहित वचन न बोलें, इसी तरह यहाँ भीयह ध्यान रखें कि अपनी विफलता हो, कमी हो, त्रुटि हो तो उसे भी ढाकें नहीं। अपनी दृष्टि में तो लायें ताकि उसका निवारण किया जा सके। सभी लोग अपने अनुभवसे जान सकते हैं। धर्मकी बात में सब लोक ऐसा दिख रहा, कितना समुदाय लोक है? कोई किसी ढंग से, कोई किसी ढंग से और कोई बिरलाको छोड़कर बाकी सब जिसे क्या कहते? कागजके फूल। भीतर में त्रुटि, विफलतायें, अशांति, असंतोष, तृष्णा ऐसी कषायें सब निरंतर चल रहीं और काम किये जा रहे सब, तो ऐसी विफलता प्रायः प्रत्येक व्यक्ति में पायी जाती है। सो भाई देखो अपने चारित्र में कितना पीछे हैं, अपना ज्ञानमार्ग और ज्ञानानुभवकी बात में कितना पीछे हैं, सो खुद दृष्टि में नहीं रखते और ऐसी दिखावट, बनावट, सजावट होती है कि दूसरे भी दृष्टि में नहीं ले पाते। फल क्या होता? जैसे कहावत है ना कि रातभी पीसा पाले से उठाया। रात भर रामायण पढ़ा, पर यह पता नहीं कि सीता रामकी थी या रावण की। बहुत बड़ी–बड़ी बातें कर जाते हैं ज्ञानके नामपर, धर्मके नाम पर, और सर्वविफलताओं के धाम बने हुये हैं। त्रुटिको निवारण करने के लिये, कमी को निकालने के लिये न कोई प्रोग्राम है,

न कोई अन्तः साधना है, केवल बात ही बात है और कोई प्रायोगिक बात नहीं हो पाती कि यह ज्ञानानुभव किया जा सकता है, तो प्रगति कहाँ से हो?

उपलब्ध कुछ सफलताओं का डंका बजाने से आत्मप्रगति में बाधा––आत्मप्रगति चाहने वाले को एक तीसरी धारा यह और जरूरी है, क्या कि कभी साधना करने में कुछ सफलता मिल जाये तो उन सफलताओं का डंका न बजाना। देखो ये सारी बातें देशप्रगति में भी लागू, समाजप्रगति में भी लागू गृहप्रगति में भी लागू और आत्मप्रगतिमें भी लागू होती हैं। जैसे कभी सफलता मिली, थोड़ा ज्ञान बना, ध्यान बना, भीतर कुछ शांतिकी झांकी सी आती, कुछ गुण भी बन गये, तो अपने मुख अपना डंका बजाये, मैंने यों किया, मैंने यों अनुभव किया, मैंने यों समझा। कितने ही लोग तो पूछने लगते, आपको सम्यग्दर्शन है कि नहीं? अच्छा वह क्या उत्तर दे सो बताओ। सम्यग्दर्शन है यह भी उत्तर नहीं बनता और स्मयग्दर्शन नहीं है यह भी उत्तर नहीं बनता। यह कोई पूछने की चीज नहीं और न उत्तर देने की चीज है। यह तो अपने–अपने समझने की बात है, क्योंकि कोई उत्तर दे तो उसका लोकों के लिये क्या प्रमाण? ऐसी कुछ थोड़ी सफलतायें मिल जाये तो उन सफलताओं का डंका न बजाना चाहिये। जैसे कहते हैं ना कि जो लोग अपने मुख से अपने गुणों की बात कह देते हैं उनके गुणों में कमी आ जाती है। अनुभव भी बतायेगा। जो अपनी बात अपने मुख से ज्यादह हांकते फिरेंगे फिर वह विकास नहीं रहता है। विकास हो रहा है, अपनेमें आनन्द ले रहा है, गुप्त ही तथ्य चल रहा है, प्रगति होती है। तो तीन बातें बतलाई गई इस निबंध में आत्मप्रगति चाहिये हो तो वचन की साधना बनाओ। आत्मप्रगति चाहते हो तो अपनी त्रुटियों को ढाँको मत, और आत्मप्रगति चाहिये हो तो अपनी कुछ पायी हुई सफलताओं का डंकामत बजाओ। साधक कैसा गुप्त, धीर, उदात्त होता है। उसका कोई परिचय करने वाला भी न हो तो उससे साधक में कोई कमी नहीं आयी और कोई झूठा ही एक यश प्रशंसा का पोलावा बाँधने वाला हो तो उससे कहीं गुण न आयेंगे। यह तो अपनी दृष्टि की बात है।

(51)

विकार में परिणाम मेरे मत जाओ, यही मेरी वास्तविक कमाई है, अन्य वस्तुओं का लाभ नहीं, बल्कि उल्झन और बरबादी का फन्दा है, नोकर्मके प्रसंग से हटकर ज्ञानमें ज्ञान रमाकर कर्मविपाकको फेल कर देना सच्ची शूरता है।

विकारपरिणाम की अनुत्पत्ति ही वास्तविक कमाई–मनुष्योंमें एक यह बात बहुत अधिक लगी रहती है कि खूब कमाई करके, संचय करके घर जाना। भी ही तृष्णा सबमें है, परिग्रह की संज्ञा सबमें है, मगर देखो, न तो नार की संचय करके कुछ रखते और न देव कुछ संचय का उपक्रम करते और प्शु पक्षी तो करें क्या, भले ही संज्ञा की वजह से परिग्रहसंपर्क चलता है, मगर मनुष्यों में जो बात देखी जाती। फर्म खुल रही, फैक्ट्री खुल रही, अनेक व्यापार चल रहे, कमाई कर रहे, संचय कर रहे, खुश हो रहे, यह बात मनुष्योंमें और यहाँके जहाँ कर्मभूमि है कमाई करनी पड़ती वहां यह बात चलती है और लोग अपनी कमाईपर गर्व और बड़प्पन अनुभव करते हैं। लेकिन पहले तो कमाई शब्द ही यह बतलाता है कि कमाईका क्या अर्थ है–कम आई सो कमाई। क्या कम आयी? ऋद्धि सिद्धि, इनकी कमी पड़ जाने का नाम है कमाई। जैसे लोग कहते है ना कि हमने बहुत कमाई की तो इसका अर्थ यह लगा लेना चाहिये कि उन्होंने अपनी बहुत कमी कर डाली। अर्थ तो यह है, लेकिन लोग परिग्रहसंचय का अर्थ समझकर फले नहीं समाते। अच्छा अगर कमाईका अर्थ तरक्की करें तो वास्तविक कमाई क्या है इस पर विचार करो। वास्तविक कमाई यह है कि मेरे परिणामों में विकार भाव न जगे। वही अमीर है, वही सत्पुरुष है जिसके परिणाममें

विकारका जागरण नहीं। अच्छा विकारका जागरण कहां नहीं जहां वस्तुका सत्यबोध हो। वहाँ जागरण नहीं जहाँ पर्यायबुद्धि है, पर्यायदृष्टि है, पर्याय को ही अपने रूप अनुभव करता है, पर्याय को ही यह मैं हूं ऐसा मानता है। उसको विकार न आयें यह कैसे होगा? सबसे बड़ा विकार तो यह ही मिथ्यात्वका बसा है कि पर्याय में अहं का अनुभव करना, यह मैं हूं और मेरा जो निज सहजस्वरूप है उसकी दृष्टि न देना। तो मेरी वास्तविक कमाई क्या है? मेरे परिणामों में विकारभाव न आये, विकारमें मेरा परिणाम न जाये, विकाररूप मेरी परिणति न बने, यह बात अगर हुई तो यही वास्तविक कमाई है। इसको चाहे निषेधरूपसे कहलो, चाहे विधिरूप से। मुझमें ज्ञातादृष्टा रहने की वृत्तित्त्जगी रहे यह ही मेरी वास्तविक कमाई है। मैं घबड़ा न सकू, अधीर न हो, विषमपरिणामों में न आ, जो है उसका ज्ञातादृष्टा रहू, ऐसी जाननहार देखनहार की वृत्ति रहती है तो वह है वास्तविक कमाई।

बाह्य परिग्रह के संचय में लाभ समझने की मूढता–अच्छा तो जो लोग समझते हैं कि बहुत परिग्रह जुड़ गया, संचय हो गया आदिक बातें जो करते हैं तो क्या वह लाभ नहीं कहलाता? हाँ हाँ वह लाभ नहीं है। परिग्रह का संचय होना, बाह्य अर्थ का एकत्रित कर लेना या जोड़ जाना यह कोई लाभ नहीं है। अच्छा लाभ नहीं है तो क्या हानि है? हाँ हानि तो कह सकते, क्योंकि उसमें विकल्प, संक्लेश, चिन्ता, भय आदि ये सभी बातें बनती हैं और यह ही जीव की बरबादी है। अच्छा तो फिर एक प्रश्न होता। तो कोई गृहथ ऐसा करके देखे तो सही कि कुछ न जोड़े, कुछ न रखे। अगर सभी लोग ऐसा सोच लें याने मुनि की तरह सभी बन जायें और गृहस्थ कोई हो ही नही तो बात कैसे बनती है किसी की व्यवहारमें? तीर्थप्रवृाकी बात कैसे बनेगी? तो पैसा तो आवश्यक है ना, ऐसा एक प्रश्न उठता है? तो उसका उार यह है आवश्यक अनावश्यक के प्रसंग में कि पुण्योदय के अनुसार जैसा जो कुछ स्वयं प्राप्त हो जाता है एक साधारण परिश्रम करते हुये, साधारण उद्योग में रहकर भी जो कुछ होता है उसमें व्यवस्था बनावें। गृहस्थ हैं इसलिये कहा जा रहा है क्योंकि गृहस्थ नाम उसका है जो त्रिवर्गका समान सेवन करता है। त्रिवर्ग मायने धर्म, अर्थ काम, इनका जो समान सेवन करता है उसे कहते है गृहस्थ। और गृहस्थका मोक्ष तो लक्ष्य है और प्रयोग में आ रही ये तीन बातें। सो बस इतना ही कर्तव्य है, किन्तु परिग्रह में उपयोग लगाकर चलना, धुन बनाना, दृष्टि रखना, से यब हैं अपने आत्मा के लिये बाधक। तथा जब यह बाह्य प्रसंग हट जाये, कुछ शुद्धता आ जाये तब फिर केवल आत्म का ही काम रहता है। तो अन्य वस्तुओं का जो लाभ होता है वह वास्तविक लाभ नहीं, वह तो एक कमी है, बरबादी का हेतुभूत है। सबसे बड़ी विपत्ति आती मरण समय में मोही जीवको, क्योंकि लाचार तो हो ही गया। इस भवसे जाना तो पड़ेगा ही, पड़ ही रहा है, छूट ही रहे हैं प्राण और खबर आ रही है धनकी, वैभव की। इतना सब कुछ कर लिया तो प्राण तो छूट रहे और वैभवकी आसक्ति है उसके तो उस समय जो उसे खेद होता है उसका और कोई उदाहरण क्या हो सकता है? तो अपनी सबसे बड़ी कमाई यही है कि अपना सहजस्वरूप अपने ज्ञानमें रहे, उससे अधीनता नहीं घबड़ाहट नहीं, भय नहीं, चिन्ता नहीं, क्षोभ नहीं और स्वभावके दर्शन होने के कारण परमसंतोष है, परमतृप्ति है।

नोकर्मके प्रसंग से हटने का पौरुष करने का कर्तव्य––हाँ तो बातें अभी दो आयीं कि वास्तविक कमाई तो यह है कि मुझमें क्षोभ न आये और क्षोभ के कारणभूत बरबादी का जो फंदा लिये हुए है ऐसा जो कुछ बाह्य वस्तुओं का लगाव है वहाँ बाह्य वस्तुओं का लाभ हो तो वह कोई लाभ नहीं कहलाता। तब क्या करना अपना कर्तव्य है सो सुनो–विकार होते हैं ना दो प्रकार के। अबुद्धिपूर्वक विकार और बुद्धिपूर्वक विकार। अबुद्धिपूर्वक विकार में हम क्या करें? और उसकी चिन्ता भी मत करें, क्योंकि जो अबुद्धिपूर्वक विकार है याने जो

अव्यक्त विकार है वह है तो सही कर्मफल और है क्षोभ की स्थिति, किन्तु वह संस्रण बढ़ाने का हेतु नहीं हो पाता, जो बुद्धिपूर्वक विकार है, व्यक्त विकार है, विकारमें इस उपचरित निमित्त में फंसने की स्थिति है। जान जानकर इन विषयसाधनों में उपयोग जोड़ते हैं आसक्त हो होकर यह है संसरण के और आकुलता पाते रहने के साधन। सो कर्तव्य यह है कि ज्ञानबल तो कुछ पाया है ना, तो ज्ञानका ऐसा सदुपयोग करें कि मेरे में व्यक्त विकार न हो सकें। वह उपाय क्या है? नोकर्म के प्रसंग से हटकर रहना। व्यक्त विकार आया करते हैं उपचरित निमित्त में उपयोग जोड़ने और तब ही तो कहते हैं कि यह जो बाहरी उपचरित निमित्त है ये निमित्त नहीं कहलाते, ये आश्रयभूत पदार्थ हैं। इनको नोकर्म शब्द से कहा है। जीवविकार के लिये तो कर्म ही निमित्त है, अन्य कुछ निमित्त नहीं होता और जो बाहरी बातें हैं, जिनका ख्याल करके, जिनका उपयोग जोड़कर क्रोध, मान, माया, लोभ बनता है वे पदार्थ नोकर्म है, आश्रयभूत वस्तु हैं तो इजना पौरुष यहाँ चल सकता। हम आश्रयभूत पदार्थका आलम्बन न लें, नोकर्म का प्रसंग हटा दें। तो देखो ज्ञानी तो वह है ही। जिसने अपने सहज स्वरूपका अनुभव किया है और इतनी ऊंची विरक्ति हुई नहीं ि कवे सकल संन्यास कर सकें याने सब कुछ छोड़ सकें, ऐसी विरक्ति अभी आयी नही ंतब रहना पड़ रहा है गृहमें, लोकमें, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम––इन तीन वर्गोंके प्रसंग में लगे ही हुये हैं तो ऐसी स्थिति में ज्ञानी पुरुष अधिकाधिक यह पौरुष करता है कि नोकर्म प्रसंग न रहें और उनमें हमारा उपयोग न जुड़े।

नोकर्मके प्रसंग से निवृत्त ज्ञानीके ज्ञानकी ज्ञानमें बर्तना––नोकर्म के प्रसंगसे जब हटना बनता है तब ज्ञान क्या करता है? पहले तो ज्ञान इन विषयभूत साधनोंके विकल्पमें रहता था, अब कुछ ज्ञानबल पाया और इन विषयसाधनों में नहीं रम रहा। तब कहां रमेगा वह? बाह्यपदार्थोंका तो छोड़ दिया आश्रय, यान उपयोग में कोई बाह्यपदार्थ लिया नहीं, तो क्या यह ज्ञान निराधार बन जायेगा? जैसे कि जो दार्शनिक तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानते हैं ज्ञानका याने विषयोंसे, इन बाह्य साधनों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है ऐसा कोई दार्शनिक मानते हैं और उसमें युक्ति यह देते हैं कि अगर विषयोंसे पदार्थों से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो यह व्यवस्था कैसे बनती कि हमारे ज्ञानने खम्भे को जाना, दरी को जाना। तो जो प्रतिनियम जानकारी अनुभवमें आ रही उससे सिद्ध है कि खम्भे से ज्ञान निकलकर मुझमें आया तो हमने खम्भे को जाना। जिस किसी से ज्ञान निकलकर मुझमें आया तो हमने उसको जाना। यह व्यवस्था बन जाती है। ऐसा कुछ दार्शनिक उत्तर देते। तो यों जो लोग विषयों से ज्ञानकी उत्पत्ति मानते हैं वे लोग तो क्या उपाय करेंगे, किन्तु जैनसिद्धान्त का निर्णय है कि किसी भी बाहरी पदार्थ से मेरे स्वरूपका कोई तथ्य आया, ऐसा नहीं है। तोनोकर्मका प्रसंग इसलिये हटाया जाता है कि वह हमारे विकारके आश्रयभूत बनता है। कहीं बाहरी पदार्थों से मुझमें विकार आया हो तब हमने उनको अलग किया हो, ऐसी बात नहीं। विकार तो नहीं आता किसी भी पर वस्तुसे, मगर परवस्तुका विकल्प करते हुये में ही विकार जगता है। कोई सा भी विकार हो, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या और वहाँ कोई यह कहे कि तुम भाई विकार तो खूब करो, छुट्टी देते हैं, पर एक शर्त है कि तुम किसी भी परपदार्थ विकल्प न करो, किसी भी परपदार्थ की दृष्टि नरखो तो बताओ व्यक्त विकार होगा क्या? तो व्यक्त विकार मिटाने के लिये पौरुष की चर्चा है, अव्यक्त विकार स्वयं मिटेगा। जैसे जिस पेड़की जड़ कट गई वह हरा कब तक रहेगा? स्वयं मिटेगा। इसी तरह विकार की जड़ है मोह। जैसे जड़ में पानी डालो तो वृक्ष हरा भरा रहता और जड़ों को तो खूब रखें और पत्तोंको, डालियों को, फूलों को खूब सींचता रहे तो क्या वह वृक्षहराभरा रह सकेगा? नहीं रह सकता। तो जैसे पेड़के हरे भरे रहने का साधन है मूलसिंचन, इसी प्रकार

इन विकार भावों का कारण है मोहभाव। मोहभाव हटे तब भी विकार कुछ समय तक रहते हैं मगर उनकी धारा टिक नहीं सकती। क्योंकि मूल नष्ट हो गया है। तब देखो भाई विषयोंसे तो मेरेमें कषायें आती नहीं, किन्तु उनका त्याग यों करना पड़ता कि हमारे विकारके वे आश्रयभूत है और यही सब चरणानुयोग में बताया गया है।

नोकर्म के प्रसंग से हटकर ज्ञानमें रमना आगमोपासना का प्रयोजन––सभी अनुयोगोंका कथन इस आत्मकल्याणार्थीके लिये साधन है। महापुरुषोंके चरित्र पढ़कर भीतरमें विषयोंसे हटकर वैराग्यमें लगने की एक भावना बनती है। करणानुयोग के पढ़ने से जो पढ़ने वाले हैं वे खुद अनुभव कर सकते हैं कि इसमें वैराग्य के लिये कितने साधन है? चरणानुयोग में बाह्य वैभवोंका परिहार बताया है तो वह अध्यवसानके निषेध के लिये। समयसारमें इसका समर्थन यों किया है––जहाँ यह गाथा आयी–वत्थुं पडफच्च जंप ुण अज्झवसाणं दु होई जीवा णं'' भाई हमें नम्बर वम्बर तो कुछ याद नहीं, कारण कि हमारी दृष्टि खण्डन मण्डन करनेकी नहीं रहती। टीकामें श्री अमृतचन्दजी सूरि ने कहा–न हि बाह्यस्त्वनाश्रित्याध्यवसानमात्मानपुलभते। कोई भी विकार अपना स्वरूप बाह्यवस्तुका आश्रय किये बिना प्राप्त नहीं कर सकता। अच्छा जरा उस क्रोधका तो वर्णन करो कि जो क्रोध तो है, मगर किसी पर आया न हो। अब करो वर्णन कैसे करते? अरे बाह्य वस्तुका आश्रय पाकर ही अध्यवसान अपना स्वरूप व्यक्त कर पाता है तब ही जब यह प्रश्न किया अमृतचन्द्र सूरिने यह वर्णन करके कि बाह्य वस्तु अध्यवसानको पैदा तो नहीं करते, किन्तु अध्यवसान के हेतुका हेतु है वह तब फिर बाह्य वस्तु का परिहार क्यों बताया? किमर्थ बाह्य वस्तु प्रतिषेध? ऐसा प्रश्न हो तो साफ स्पष्ट उत्तर है–अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानके निषेध लिए बाह्य वस्तुका परित्याग किया जाता। उदाहरण देते हैं कि देखो अगर कोई युद्ध में लड़ता है तो अपने में यह ही तो अहंकार भरता, कि आज मैं वीर माता के पुत्र को मारूँगा क्या कोई ऐसा भी कहता कि आज मैं बंध्याके पुत्र को मारूँगा? जैसे बच्चे लोग खेलमें दवा बतलाने लगते कि देखो भाई आकाशके तो कोपल लावो और बादलों का धुवाँ लावो और गधे के सींग में उसकी रगड़ करके लगाओ। बताओ ऐसा हो सकेगा सकेगा क्या? अरे वह तो एक बात है, भाव तो नहीं बनता, विकार तो नहीं बनता। बाह्यवस्तुका आश्रय करके ही व्यक्त विकार बनता, इसलिए हम आप सबको यह आवश्यक है कि अगर प्रगति चाहते हैं और अपने में ज्ञानानुभूतिके अवसर चाहते हैं तो व्यसनों के प्रसंग में न लगें, पापके प्रसंग में न लग। और उन व्यतन पापों के जो साधन हैं, आश्रयभूत पदार्थ हैं उनका परित्याग करें। नोकर्मके प्रसंग से हटकर रहेंगे तो ज्ञानबल तो चाहिए ही चाहिये। उसको गौण न करना, स्वभावकी दृष्टिका तो सारा बल है। अब वहाँ नोकर्मका प्रसंग हटे, व्यक्त विकार न हो सकें तो विशिष्ट कर्मबन्ध होगा नहीं। तो व्यक्त विकारके हेतुभूत निमित्तभूत जो कर्मविपाक कर्म हैं। उनका भी क्षय हो जाता है। पौरुष क्या करना? अपने आत्मबल को संभालें, ज्ञानबलको उत्पन्न करें, अपने को ज्ञानस्वरूप अनुभव करें और नोकर्मके प्रसंग से हटें। इस तरह अपने ज्ञानको ज्ञानमें रमाकर जब बाह्य प्रसंग में उपयोग को न रमाया तो उपयोग निराधार तो रहता नहीं। स्वयं आधार है, स्वयं विषय बन गया, उस समय यह ज्ञानमें रम गया। तो विषय प्रसंग से हटना, ज्ञान में ज्ञानका रमना, यह बात सकी तो कर्मविपाक फेल हो जाते हैं, शिथिल हो जाते हैं, व्यक्त नहीं हो पाते हैं तो इस तरह से कर्मको फेल कर देना यह सच्ची शूरता है, और वह सच्ची शूरता कैसे मिलती कि विषयों का उपयोग हटावें और अपने सहज ज्ञानस्वभावमें उपयोग लगावें तो जो विकास होगा वही वास्तविक अपनी कमाई है।

ज्हाँ जाना है उससे उल्टा कदम बढ़ाकर क्या वहाँ पहुँचेंगे जहाँ शान्ति पाना है? उससे उल्टी दिशामें दृष्टि हो तो क्या शान्ति मिलेगी? शान्ति पाना है आत्मा में, सो अनात्मा से हटो आत्मामें आवो, शान्ति मिलेगी।

शान्तिधाम से विपरीत कष्टधामकी ओर धुन रहने में अकल्याणका विस्तार––जैसे किसी पुरुष को पूर्वदिशा में स्थित ग्रामको जाना है और चल देवे पश्चिम दिशा में तो वह अपने इष्ट स्थानपर कैसे पहुँच सकता है? बल्कि जितना–जितना विपरीत दिशा में बढ़ते जायेंगे उतना ही उतना निर्दिष्ट स्थानसे दूर होते जायेंगे। ऐसे ही आत्मा को चाहिए आनन्दधाम। जहाँ आनन्द प्राप्त हो ऐसे स्थानपर आत्मा चलना चाहता है, वह आनन्दधाम तो इष्ट है और पहुँच जाय क्लेशधाममें तो फिर आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है? आनन्दका धाम है, शान्तिका स्थान है तो यह स्वयं आत्मा, क्योंकि आत्मा ही अपने सहजस्वरूपके परिचय द्वारा अपने स्वरूपमें मग्न होकर शान्ति पाता है। शान्ति पाने का दूसरा उपाय हो ही नहीं सकता। अपने स्वरूपको छोड़कर, बाहरी पदार्थमें उपयोग जोड़कर कोई शान्ति चाहे तो यह असम्भव बात है। तो शान्तिका धाम है यह आत्मा और क्लेश का धाम है अनात्मा। परपदार्थ या परभावमें उपयोग लगाये कोई, वहाँ ही दृष्टि जोड़े, वहाँ ही आशा रख तो उस पुरुष को कष्ट ही है, शान्ति प्राप्त नहीं होती। यदि शान्ति पानेकी भावना हैं तो अनात्मासे तो हटें और अपने आत्मस्वरूपमें लगें, ऐसा करनेसे शान्ति क्यों मिलती है कि शान्ति है ज्ञानकी विशुद्ध वर्तना। जहाँ ज्ञान ज्ञाता दृष्टा रूपसे ही चल रहा है, ज्ञानमें विकल्प उल्झनें नहीं आती हैं तो ज्ञानकी स्वच्छ वृत्ति में क्लेश का ही प्रवेश नहीं होता। क्लेश वहाँ ही होता है जहाँ यह उपयोग अपने स्रोतभूत ज्ञानसागर आत्मस्वभावसे हट गया। जैसे कोई मछली अपने आधार से जल से हट जाय, जलसे बाहर पड़ जाय तो जैसे वह तड़फती है, तड़फ तड़फकर बरबाद होती है, ऐसे ही अपना उपयोग स्रोतभूत ज्ञानसागर से आत्मस्वभावसे चिगकर बाहर में आ जाय, लग जाय, पड़ जाय तो यह उपयोग अनेक विकल्प विडम्बनायेंकर करके अपने आपको बरबाद कर देता है। तो शान्ति मिलेगी तो खुदके स्वरूपमें मिलेगी, बाहरमें उपयोग लगानेसे शान्ति नहीं मिलती। तो शान्तिधाम है आत्मतत्त्व और कष्टधाम है अनात्मतत्त्व। शान्तिधाम से विपरीत दिशा में कष्टधाममें पहुँचने में आत्मा का अहित ही अहित है।

अनात्मतत्त्व से हट जाने में आत्महित––देखिये आत्मतत्त्व तो शान्तिधाम है ही और उसमें उपयोग लगे तो शान्तिका प्रकट परिणमन होता है, किन्तु अनात्मतत्त्व में जो परपदार्थ हैं वे क्लेश धाम नहीं हैं, किन्तु उनमें उपयोग जोड़कर जो परभावरूप अनात्मतत्त्व हैं उनमें लगाव होता है तो अशांति मिलती है। इसलिए अनात्मतत्त्व का सही अर्थ है परभाव, आत्मा के विषय कषाय के परिणाम। इन विषय कषायों में आत्मा का उपयोग लगे तो इसको अशान्ति होती है। तब क्या करना? ऐसा ज्ञान बनायें, वस्तुके स्वतंत्र स्वरूपका मनन करें। प्रत्येक पदार्थ अपने प्रदेश में है, एकका दूसरे में कुछ प्रभाव परिणमन गुण कुछ भी प्रवेश नहीं करता, यह तो उन उपदानों की ही कला है कि वे कैसा–कैसा निमित्त पाकर किस–किस रूपमें परिणमन कर जाते हैं। तो ऐसा एक वस्तुस्वातंत्र्य जानकर अनात्मासे तो हटाना और आत्मा में लगना–यह है अपनी शान्तिका उपाय। आत्मामें लगने का अर्थ है कि कोई अपने को ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करता रहे, जाननेमें जानन ही आये और जाननमें जानन ही आने के कारण वहाँ विकल्प का अवकाश न रहे, बस यही है शांति पाने की पद्धति। तो शांति की आशा से जो नाना परिश्रम किए हैं उन परिश्रमों को अन्तरंग साधन न समझें, हाँ वे भी व्यवहार से साधन हैं, पर वास्तव में तो अपने आत्मस्वरूपका अपने ही ज्ञानमें धाम रहे, यही एक शान्तिका उपाय है।

(53)

आत्मा में क्लेश का कुछ काम नहीं, यह तो कल्पना करके क्लेश का हौवा बना लेता है। यदि क्लेश नहीं चाहते हो तो जैसे निराले ज्ञानमात्र हो वैसे स्वयंको जानने लगो, स्वरूपसे बात सब उत्तम है, उसे भूलकर व्यर्थ कुरूप मत बनो, बस क्लेश खत्म।

कष्टरहित आत्मा में कष्टों की जननी कल्पना––आत्मा अज्ञानवश निरन्तर कष्टका अनुभव कर रहा है, पर कष्टकी बात विचारो तो सही, वह कष्ट आत्मा में है क्या या वह कष्ट बनाया जाता है? आत्मा में कष्ट नहीं। आत्मा का स्वभाव कष्टका है ही नहीं। किसी भी पदार्थ का स्वभाव उस पदार्थ को बाधा करने के लिए नहीं होता। तो मेरे आत्मामें कोई स्वरूप ऐसा नहीं जो आत्मा को बरबाद करे, पर होता क्या है कि जब परसंग पाकर आत्मामें उस प्रकार का प्रतिबिम्ब छाया होती है जो कर्मों के कष्टके अनुभाग रूप है तो यहाँ उपयोग में मलिनता आयी और उस मलिन उपयोग में उपयोग का अनुभवना, तावन्मात्र अपने आत्माको पहिचानना बस इसी अज्ञान के कारण इस जीवमें कष्ट उमड़ जाते हैं। वास्तवमें आत्मामें कष्ट का कोई काम नहीं है। यह आत्मा केवल कल्पनायें करके क्लेश का हौवा बना लेता है। जैसे हौवा में कोई चीज नहीं है, पर भावना में हौवा एक ऐसा कुछ न जाता है कि जिसका डर मानते और कुछ प्रवृत्तियाँ करते हैं। ऐसे ही आत्मा में कष्ट तो कुछ नहीं है, पर अपने ज्ञानको इस तरह परिणमा डालते हैं कि जिस प्रकार के परिणमन में आत्मा अपनेमें कष्ट महसूस करने लगता है। तो जितने भी जगत में कष्ट हैं, जो कुछ भी क्लेश हैं, विपदा हैं वे सब कल्पना द्वारा बनाये गए हैं। यदि क्लेश न चाहिए तो जैसा अपना स्वरूप है वैसा ही अपने को जानने लगें। क्लेश खत्म। अपना जो स्वरूप है वह तो सबसे निराला है। अपना स्वरूप हैं ज्ञानमात्र। वैसा ही अपने को जानने लगें, क्लेश खत्म हो जायगा।

कष्टरहित अन्तस्तत्त्व के अनुभव से कष्टों की समाप्ति––अपने स्वरूपमें कलुषता नहीं है यह सहजस्वरूप है। आत्मा के स्वरूपमें सभी बातें उत्तम हैं, पूज्य हैं, आदरणीय हैं। ज्ञान हो तो वह भी पूज्य, दर्शन हो तो वह भी पूज्य। पूज्य वह होता है जो निराकुलता की ओर बढ़ रहा हो। तो आत्मस्वभावका दर्शन भी निराकुलता की ओर ले जाने वाला है। जैसा ज्ञानमात्र अपने आपका स्वरूप है उस प्रकार अपनेको अनुभवने लगें कि मैं सम्पूर्ण जगतसे निराला केवल ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूं, ऐसी दृष्टि होने पर क्लेश का नाम नहीं रहता। ऐसी दृष्टि न जगे तो बाहरमें दृष्टि फंस जाने के कारण क्लेश ही क्लेश रहा करता है। भैया! अपने को जानें, अपने में मग्न हों, यह है प्रक्रिया शान्ति और आनन्दस्वरूप होने की, पर एक बात ही बात होती है कोई और उसका प्रायोगिक रूप कुछ नहीं हो तो उसे शान्तिका लाभ नहीं मिलने का। ऐसे ही जगत को जानकर अगर कुछ चतुर बन गए, कुछ बोलने की कला पा गए, कुछ लौकिक विद्या प्राप्त कर ली तो वह एक केवल कहने में ही अपना समय गुजारना है। जैसे अपना शान्तिधाम प्राप्त हो वैसे ही प्रयोग करनेमें अनेक बाधायें होती हैं। उनका मुकाबला करना होता। कोई भी अमूल्य बात कष्ट पाये बिना, कष्ट सहन किए बिना प्राप्त नहीं हो पाती। तो अपना स्वरूप पाना है तो कष्ट आये, उपसर्ग आये, उन सबको सहन करनेका साहस जगायें, वह सहज मिलेगा भेदविज्ञानके बलसे। सो भेदविज्ञान जगाकर ज्ञानी बनें और सत्य सन्तोष पाकर समस्त अज्ञान विपदाओं को दूर करदें।

(54)

स्वयंके स्वयंसिद्ध सहजस्वरूपकी सुधमें ही स्वयंका हित है, सहजसिद्ध स्वयंकी दृष्टि रखते हुए क्षण व्यतीत करनेमें ही बुद्धिमानी है। बाहर सब कुछ अपने लिये न कुछ है। कुछ का लगाव अपनेको न कुछ बना देता।

स्वयं सिद्ध सहजस्वरूपकी सुध में आत्महित––अपनी भलाई किसमें है? हम सुखी शान्त हो सकें, आनन्दमग्न रह सकें, ऐसा होने का क्या उपाय है? तो देखो बाहरी क्रियावों से, बाहर के पदार्थोंमें अपना कुछ उपयोग करनेसे, सम्बन्ध जोड़ने आत्महित नहीं होता, यह तो गणित जैसा उत्तर है। क्योंकि आत्मासे उपयोग हटाकर बाहरी अनात्माओं में जैसे भलाई और सुखकी आशा करें यह बात कभी सम्भव नहीं है कि वह सुख पा सके। मनुष्य अपना कर्तव्य तो करे और कर्तव्यमें आसक्त न हो। करने का कर्तव्य है व्यवहार और निश्चयसे आत्मा अपने ज्ञान द्वारा अपने सहजज्ञानस्वभावमें रत होने का यत्न करे तो वहाँ आत्महित है। आत्महित कहाँ है? खुद ही खुद के सहज सिद्ध, सहजस्वरूपकी सुध करे तो आत्महित है। देखो ऐसे निजस्वरूपकी दृष्टि रखते हुए समय व्यतीत हो तो वे क्षण सफल है। आत्मा की बुद्धिमानी इसीमें है कि आत्माका उपयोग इस सहज ज्ञानस्वभावमें ही लगा रहे। तो अपना हित कहाँ मिलस? अपने आपके स्वरूपमें? बाहर में अपने हित की आशा न रखें। काहरमें तो जो कुछ भी है सब कुछ वह सब अपने लिये हैं। एक सही बात ज्ञानमें समा जाये कि मेरे आत्मा के प्रदेश से बाहर जो कुछ भी है वह मेरे लिये न कुछ है, क्योंकि दूसरा पदार्थ मेरा परिणमन नहीं कर सकता और उसका लागव रखते हैं तो अपने को कुछ अच्छा न बना देंगे और न कुछ कर देंगे। बाहरी पदार्थों में उपयोग गड़ाने से विकार कुछ न कुछ बन जाता है। तो बाहरी पदार्थों में उपयोग न गड़ाये तो हम अपने लिये अपने स्वरूपमें महान बन जाते हैं। जो कुछ बाहर है उसका लगाव भी आकुलता ही उत्पन्न करता है। तो मैं सर्वस्व कब कहलाऊं जब अपने स्वरूपमें उपयोग दूँ और मैं न कुछ कहलाता जब अपने स्वरूपको छोड़कर बाहरी पदार्थोंमें अपना उपयोग लगाता हूं। तो बाहरी पदार्थोंमें उपयोग न लगे, खुदमें उपयोग लगे, इसका साधन यह है कि एक बार तो अपने ज्ञान में ज्ञानस्वरूपका अनुभव करके सत्य आनन्द पा लें। अनुभवों में घनिष्ट अनुभव है आनन्दका अनुभव, ज्ञान द्वारा जाननेका अनुभव। यहाँ तो कुछ बहिर्मूखता मिल जायेगी, मगर आनंदके अनुभवमें थोड़ा भी फर्क नहीं रहता। जैसे कि मोटे रूपमें जान लोकि जब पदार्थों को जानते हैं तो हम जगरूप तो बनते हैं पर मगरूप नहीं बनते और जब आनन्दका अनुभव करते हैं तो वहां हम मगरूप बनते हैं, जगरूप नहीं बनते। आत्माका स्वरूप जगमग है। भीतर में कुछ पाना, बाहरमें कुछ पाना यही जगमग का स्वरूप कहलाता है। यद्यपि प्रदेशदृष्टिसे आत्मा बाहरकुछ नहीं पाता, मगर आत्माके उपयोगकी जो वृत्ति है उस ही किये दो प्रकार पड़े है–अपने में पाना, बाहर में पाना। जो बाहर में पाने की बात है वह तो है ज्ञानकी बात। जैसे किसी पदार्थ को जाना, ऐसे ही तो लोग जानते है। कि वह है पदार्थ और जब आनन्द का अनुभव बनता तब बाहर की ओर उछलकर आनन्द नहीं मिलता, किन्तु अपने आपकी ओर जगकर ही आनन्द पाया जा सकता।

आनन्दानुभव की पद्धति अन्तर्मुखता––भैया! आनन्द तो एक अलौकिक बात है। दुःख और सुखका अनुभव भी अपने आपको मुडती हुई जैसी स्थिति में होता है। यद्यपि उस वास्तविक आत्माकी ओर से मोड़ नहीं है, उस वक्त भी बाहरी पदार्थों का ख्याल है, विकल्प है, पर बाहरी पदार्थोंका सभी विकल्प ख्याल रहकर भी उपयोग में जो सुख और दुःख का अनुभव होता है सो कुछ अन्तर में झुककर अनुभवा जाता। लोग समझ तो लेते कि विकल्प बाहरकी ओर है, मगर मात्र बाहर की ओर ही विकल्प रहे तो वहां कुछ अपने में सुख दुःखका अनुभवन नहीं हो पाता। भीतर में उस विकल्प को, अनात्मतत्त्व को रचा पचाकर

अपने उस विभाव में समाकर सुख दुःखका अनुभव होता है। फिर आनन्द तो एक विशुद्धपरिणमन है। वहां तो परपदार्थ आश्रयभूत भी नहीं हैं। तो जहां पर पदार्थ आश्रयभूत ही नहीं है वहाँ जो आनन्दानुभव होता है वह खुदमें रच पचकर जमकर होता है। तब आनन्दलाभ के लिए कर्तव्य यही है कि बाहरी पदार्थों में न रचे पचें और आपके स्वरूपमें, स्वभावमें झुकें, मग्नता लायें तो विषय कषायों की मलिनता दूर होती है और अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप की एक कीर्ति व्यक्ति प्रकट होती है।

आत्मीय सत्य शिव सुन्दर स्वरूपको लेखकर कुरूप बनाने की मूढता तजने में आत्महित–अहो, प्राणी कैसा अपने सुभग सुन्दर आनन्दरूपको भूलकर बाहरी पदार्थोंमें उपयोग की लगाकर अपने को कुरूप बना रहे हैं? रूपवान बनना और कुरूप बनना–यह आत्मा में किस तरह बनता है? जब कि आत्मा में कोई विकल्प नहीं, कषायें नहीं, केवल एक ज्ञानमात्र वृत्ति ही बिराजी है उस समय तो आत्मा कहलाता है स्वरूपी, अपने स्वरूपमें रहने वाला और जहाँ कर्मके अनुभागकी छाया होती है, मलीमसता होती है वहाँ हो जाता है आत्मा कुरूप। कुरूपको अपनाना ही कुरूपी बनना कहलाता है। तो कुरूप न बनो, अपने स्वरूपमें रहो। चैतन्यभावके अनुरूप ज्ञानोपयोगी वृत्ति जगना सो तो स्वरूप है और स्वभावके प्रतिकूल रागद्वेष विषयकषाय इनके क्षोभ रहना यह कहलाता है कुरूप बनना। तो हे आत्मन्! तू प्रभुसमान है। अपने अनन्त ज्ञानानन्द धामकी संभाल कर, बाहरी उपचरित निमित्तों में अपना उपयोग फंसाकर जुड़ाकर अपने आपको क्षुब्ध मत बना, कुरूप मत बना। देख अपने आपमें अपना सत्य आराम कर। अपने आपमें निराकुलता का अनुभव कर। निराकुल स्वभाव में दृष्टि जायगी तो निराकुलता मिलेगी और आकुलता की प्रकृति वाले राग द्वेषादिक विभावों में दृष्टि जमेगी तो आकुलता मिलेगी। यद्यपि पर्याय असत्य नहीं है, विभाव पर्याय है वह भी उस कालमें है। लेकिन विभाव पर्याय का आश्रय करके जो मलीनता बनती है वह मलीनता कुरूप है, उसका आदर करने वाला मनुष्य कभी कष्टसे दूर नहीं हो सकता। अपना अनुभव कर। मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरे में ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानसिवाय अन्य कोई तत्त्व कोई है, अपने को अनुभव कर कि मैं ज्ञानसे परिर्ण हूं, ज्ञानसिवाय मेरेमें और कुछ नहीं है। अपने को अनुभव करें कि मैं आनन्दमय हूं। बनावट, सजावट न कीजिए तो ज्ञानानुभवका सत्य आनन्द अवश्य पाया जा सकता है। हम बाहर की कल्पनायें तजें और अपने ज्ञानमें अपने आत्मा के वैभव को निरखते रहें और तृप्त रहें, ऐसे क्षण बीतें तो निकट कालमें ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

(55)

बहर की कुछ भी घटनासे निजमें कुछ भी उपद्रव नहीं होता, अज्ञानी खुदमें कल्पनाओं के पुष्प–गुच्छ बनाकर कष्टफलको जन्म देता, बाह्य पदार्थ से कुछ सम्बन्ध ही नहीं, फिर वहाँ शरण क्या, शरण तो मात्र स्वयं है।

बाह्य घटनाओं से निज में उपद्रव की अशक्यता––लोकमें प्राणी अपने आपके स्वरूप को न जानकर बाहर के पदार्थों से, उनकी घटनाओं से अपना सम्बन्ध समझते आये हैं और इस खोटी समझके कारण यह विश्वास किए हुए हैं कि उन बाहरी पदार्थोंकी परिणति से मेरेमें सुधार और बिगाड़ होता है। और ऐसा मानकर जगत के इन पदार्थों में इष्ट बुद्धि और अनिष्ट बुद्धि करते हैं, लेकिन जगतके ये बाह्य पदार्थ ये मेरे लिए कुछ भी उपद्रव नहीं हैं, इनसे मेरेमें उपद्रव नहीं आता। इनका काम तो इनके प्रदेशों में होकर वहीं समाप्त हो जाता है, फिर किसी बाहरी पदार्थ से मेरे में उपद्रव कैसे आयगा? उपद्रव बाहरमें ही है। उपद्रव भीतरी मान्यताका है। भला अपना सब कुछ ही छूट जायगा। यहाँ से कौन जायगा साथ? जब सब कुछ छूट जाना है तब कितने दिनों के लिए? मानो इस भवमें 10–5 वर्ष

जीवित रहते हैं तो सारे कालों के सामने 10–5 वर्षकी गिनती क्या है? थोड़े से समयके लिए स्वभावसे हटकर जो अन्य–अन्य कल्पनाओं में चित्त जमता है बस यह ही हमारे लिए विडम्बना है, बाहरी पदार्थ मेरे लिए विडम्बना नहीं। वे तो हैं अपनी सत्तासे। जिस प्रकार रह सकते हैं सो रहा करते हैं। तो बाहर में मेरा उपद्रव नहीं, बाहरसे उपद्रव नहीं, किन्तु बाह्य पदार्थोंके विषय में जों कल्पनायें करते हैं वे उपद्रव हैं।

कल्पनापुष्पके ऊपर कष्टफलोंकी निष्पत्ति–यह जीव खुद ही अज्ञानवश देखो कल्पनाका फूल उगाता अपने में। जब कल्पना के फूल लग गए जीवमें तो फिर फूल के बाद होते हैं फल। फूल के आधार पर बनता है फल तो कल्पना के फूल के बाद यहाँ कष्ट के फल लगने लगे। जब किसी वर्ष आममें मौर नहीं आते मायने फूल नहीं लगते तो फल कहाँ से लग जायेंगे? ऐसे ही जीवमें यदि कल्पनाके फूल नहीं उगते तो इसको कष्ट कैसे मिल जायेंगे? तो जानना कि हम अपने आपके भीतर कल्पनायें जगाते और दुःखी होते। बाहरके पदार्थो की किसी प्रकार की घटना से मेरे में उपद्रव नहीं आता। तब बाहरी पदार्थों को शरण मानकर उन पदार्थोंकी ओर की आकर्षित रहते हैं, यह तो विवके नहीं है। वहाँ कुछ शरण नहीं है। शरण तो अपने आपमें अपने स्वभावका दर्शन है। देखो इस जीवपर थोड़ा मैल नहीं लगा। बहुत मैल का बोझ है और वह बोझ केवल एक रूपमें चल रहा है क्या कि परपदार्थ को अपना कुछ समझना, सुख साता पाने के लिए स्वरूपका सच्चा ज्ञान और दो पदार्थों के बीच भेदविज्ञान होना। जहाँ ज्ञान जगा, मैं तुदा, कर्मफल जुदा वहाँ यह जीव अन्य तत्त्वों के रूपमें कैसे अपना परिणमन बनायगा? तो मोटी बात दो तीन कही जा रही हैं कि बाहर की घटनाओं से मुझमें कुछ भी उपद्रव नहीं आता, किन्तु अपने आपमें कल्पनायें बनाता है, बाहरी पदार्थों में उपयोग जोड़ता है, ममता लगाता है और दुःखी होता है। इन मनुष्यों से माना हुआ सुख इतना हो तो है कि कुछ लोग कह दें कि यह बहुत समझदार हैं, बहुत विशेष धनवान हैं, सो यह कल्पनामात्र है तो कल्पना न करें और सुखी हों, यह ही उपाय है। कल्पनायें न करें––इसका उपाय क्या है? मेरा किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा ज्ञान करें। किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है ऐसा ज्ञान करनेका उपाय क्या है? प्रत्येक वस्तु का सही स्वरूप जान लें।

असाधारण और साधारण गुणें के परिचय में भेदविज्ञान का प्रकाश––देखो भेदविज्ञानमें मदद देता है। वस्तुका असाधारण गुण। जैसे चेतन में है ज्ञान, दर्शन आदि गुण, पुद्गल में रूप, रस आदिक गुण। तो इन गुणों की जानकारी से एक द्रव्य का अन्य द्रव्यमें परस्पर भेद है ऐसा समझमें आता। सो असाधारण गुणसे भेदविज्ञान होता है, यह तो बात है ही, मगर 6 साधारण गुणों का भी कोई बढ़िया मनन करें तो भेदविज्ञानका मूल परिचय बन जाता है। कैसे? पदार्थ है, और हरएक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नहीं है। लो वस्तुत्व नामक गुणने भेदविज्ञान ही तो करा दिया। अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नहीं है। भेदविज्ञान के लिए और क्या बात समझनी होती है। फिर पदार्थ है तो परिणमता है। व्यक्त गुण हो गया, पर प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपसे परिणमता, परस्वरूपसे नहीं परिणमता, भेदविज्ञान बन गया। 6 साधारण गुणों के वर्णन के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट बात नहीं कही जा रही है, फिर भी भेदविज्ञानके लिए 6 साधारण गुणों का स्वरूप भी समर्थ हो जाता है। फिर असाधारण गुणोंका किसी को परिचय हो जाय तो वहाँ तो भेदविज्ञान है ही। फिर प्रदेशत्वगुण आया। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है, लेकिन इसमें भी भेदविज्ञान विदित हुआ। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान हैं, लो इसमें भी भेदविज्ञान विदित हुआ। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है। तो कोई दूसरे के प्रदेश वाला है क्या सब अपने–अपने प्रदेश वाले हैं। जब यह निर्णय हो गया तो एक पदार्थ का दूसरे से सम्बन्ध मानने की गुञ्जाइश

कहाँ रहती है? तो यों पदार्थ में भेदका ज्ञान करें और जो अनात्म तत्त्व है उससे हटकर जो शरण्य है। आत्मतत्त्व उसमें प्रीति करें, यही उपद्रवों से दूर होने का उपाय है।

(56)

बहरी बात की उपेक्षा करो, आत्मा के हिताहित की बात को महत्त्व दो, निरपेक्ष सहजसिद्ध स्वरूपकी उपासना के प्रसाद से अन्तः प्रसन्न रहो, प्रतिकूल चेष्टा करने वाले को दयापात्र समझकर उनको सद्बुद्धिका आशीर्वाद दो।

आत्मा के हित अहित की बात को महत्त्व आंकने में लाभ––अब जीवकी एक आदतकी बात और सुनो–जीवों की आदत, मनुष्यों की आदत है कि बाहरी पदार्थो की चर्चा करना, उसका विस्तार बनाना, बाहरी बातों के व्यवहार में रहना, एक यह आदत रहा करती है जो वास्तविक बात, काम की बात, प्रयोजन की बात है कि आत्मा की चर्चा करना सो आत्मा की चर्चा में तो यह जीव महत्त्व नहीं देता और उसका उदाहरण बताओ। आत्मा की बात जहाँ सुनाई जा रही हो वहाँ नींद क्यों आती? और अभी लश्करकी या अन्य किसी जगहकी कुछ बात छिड़ जाय तो कान खड़े क्यों हो जाते हैं यह आदत यह सिद्ध कर रही है कि इस जीवको बाहरी पदार्थों की घटनाका तो महत्त्व मन में समाया है और अपने आपके द्रव्य, गुण, पर्याय आदिक की चर्चाका महत्त्व इसके चित्तमें नहीं है, लेकिन अपनी समझ न भी बन सकी हो तो भी बाहरी पदार्थों की घटना बतायें, उसकी अपेक्षा आत्मा के हित अहित की बात बताया करें तो वह इस जीवको लाभ करेगा और आत्महितकी बात तो गौण, है ही नहीं। और बाहरी पदार्थों की चर्चायें हैं, तो वहाँ जीवको हित न मिलेगा। महत्त्व किसे देना? जिसके लगावसे, जिसकी दृष्टि से जीवको अंतरंगमें प्रसन्नता आ जाय। प्रसन्नता कब आती है? जब निर्मलता आये। आकाश निर्मल है तो प्रसन्न भी दिख रहा। तो प्रसन्नता है तब स्वयंके लिए स्वयं अपने सहजस्वरूपकी उपासना करें और उसके प्रसादसे भीतर में वास्तविक प्रसन्नता जगे, वह है वास्तविक प्रसन्नता। जहाँ निर्मलता लाये बसे वही अपने लिए प्रमाण है। एकीभाव स्तोत्र में पूज्यवाद मुनिराजने स्तवन करते करते एक जगह कहा कि मैंन जो घारे दुःख सहे संसार में रुल रुलकर उनकी अगर याद आये तो रोना आ जाय। अब इस मनुष्य को याद आती है अपनी अभी से दो चार वर्ष पहले की बातें, जो कोई ज्यादा विकट घटनायें नहीं हैं, इससे अनगिनते गुणें दुःख तो पूर्वभवमें मिले। यहाँ तो मौजका दुःख है। कल्पना किया और दुःख है। जैसे जब कोई बालक गृहस्थ बन जाता तो कुछ समय बाद पत्नी से कुछ विशेष चर्चा सम्बन्ध के बाद उसे माता में दोष दिखने लगते। जब कभी सास बहू में झगड़ा होता है तो उस प्रसंग में पति अपनी स्त्री का पक्ष ले लेता है और मातामें दोष देखने लगता है। तो कल्पनायें करके दुःख बनाया, तो इस भवमें कल्पना का दुःख बनाया। देखो इससे अनगिनते, दुःख पूर्वभवमें थे, उनकी आज सुध नहीं। यदि उनकी सुध हो जाय तो शस्त्र के समान इस जीवको वेदना उत्पन्न करेंगे, ऐसे घोर दुःख सहे। अच्छा तो अब क्या करना चाहिए इस बारे में? क्या कहें इस विषय में? तो हे भगवन्! आप ही प्रमाण हैं याने हमें क्या करना चाहिए? इसका उत्तर मिलता है आपके पूर्वकृत कर्तव्यसे। जो आज भगवान हुए हैं उन्होंने मनुष्य भवमें मुनि अवस्था में क्या साधना बनायी, जिसके प्रसाद से भगवान हुए, बस यही साधन हमको इष्ट है। एक बात, दूसरी बात–हमने क्या दुःख सहे, क्या दुःख सहेंगे, इसे इसे हम क्या जानें? इसमें तो भगवान आप ही प्रमाण हैं।

बाह्य घटनाओं की उपेक्षा कर प्रतिकूल चेष्टा करने वालों को सद्बुद्धिका आशीर्वाद देकर आत्महित की लगन करने का कर्तव्य––लौकिक जनोंकी यह आदत होती है कि थोड़ीसी अंगुली पक्ड़ पाये कि वह पहुंचा सोचता है। तो ऐसे ही यहाँ कुछ थोड़ा ही कहीं

सम्पर्क बना कि रागमें राग बढ़क रवह सारे उपयोग में छा जाता है। अपने को कोई मना सके तो मना ले, पर यह भी बड़ा कठिन पड़ रहा है। हम अपने आपको ही नहीं मना पाते। जब जो दिमाग बना, जब जो बुद्धि बनी तब उसके ही हाथ समर्पित हो जाते हैं। तो इस जगतमें बाहरमें क्या होता, उन घटनावोंमें महत्त्व न दें, किन्तु महत्त्व दें अपने हित और अहितकी बात में कि मेरा हित किसमें है और अहित किसमें है? बाहर जो हो रहा है उस की उपेक्षा करें और अपने हित और अहित भावके लिए दृष्टि दें कि कैसा कर्तव्य निभानेमें हित है? तो जब समझ लिया जायगा कि स्वयं का स्वरूप थ्नरपेक्ष सहज भाव है और उस का आश्रय बनेगा तो भीतर में निर्मलता प्रकट हो जाती है। तब क्या करना है बाहर की घटनायें भी, बाहरकी बात भी प्रतिकूल जंचती, तब ऐसा करें कि जो भी खिलाफ प्रतिकूल कोई चेष्टा करता हो तो समझ लो कि यह दया का पात्र है। सो प्रतिकूल चेष्टावान जीव को दया पात्र जानकर उनको सद्बुद्धिका आशीर्वाद दें। किसी प्रतिक्रिया का आरम्भ नहीं। तो यह आदत चाहिए कि अपना महत्त्व दें अपने हित और अहितपर। मेरी भलाई किसमें है उसको तो दें महत्त्व और मेरा बुरा किसमें है उसको भूल जायें। यह काम पड़ा है मुख्य इस मनुष्यभवमें, न कि दूसरे की संभाल या कुछ भी करना। यह काम नहीं पड़ा। यद्यपि ये काम होते, मगर उनके उपादानमें उनके काम होते। तो ऐसा उनके समता परिणाम जगे और यह अधिक से अधिक ध्यान रहे कि जिसमें हित है सो मुझे करना और मेरा जिसमें अहित है सो मुझे नहीं नहीं करना।

(57)

मैं ज्ञानमात्र हूं, क्यों न मैं अपने ज्ञानस्वरूपमें ही मग्न हो जाऊँ? ज्ञानमग्नतासे समस्त मानसिक संकट व शारीरिक क्लेश समाप्त हो जाते हैं, ज्ञानमग्नता ही मेरी रक्षण और पोषण करने वाली सच्ची माता है।

ज्ञानस्वरूपमें मग्न होनेकी भावना––सब देखा, परखा, बाहरकी घटनाओं को जाना, सब असार है, बेकार है, ऐसी खूब समझ बनी। दर–दर ठोकरें खानी पड़ीं, उन सबके अनुभवके बाद चित्त व्यवस्थित बना कि मैं ज्ञानमात्र हूं, और मैं इस ज्ञानमात्र स्वरूपमें मग्न होऊँ तो कष्टका नाम नहीं और एक उमंग होती, जिसमें ज्ञानमात्र निज तत्त्वको पहिचाना कि जब मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानका ही व्यापार कर सकता हूँ, ज्ञानका ही कर्तृत्व है, जाननेका ही भोक्तृत्व है। जब ऐसा अपनेको ज्ञानमात्र समझ लिया तो अब ज्ञानीके यह उमंग जगती है कि क्यों न मैं अपने इस ज्ञानस्वरूपमें प्रवेश पाऊँ? तब अपने आपके ज्ञानमें ज्ञान समा जाता है, जानने वाला ज्ञान, जाननेमें आया सम्यग्ज्ञान। ज्ञानमें ज्ञानका जब आकार आया तो यह स्वच्छ ही तो हुआ। एक सामने बिल्कुल स्वच्छ दर्पण हो, जरा भी मलिन न हो और उसके सामने दूसरा दर्पण हो तो एक दर्पणमें क्या चीज झलकी? दर्पण झलका। आखिर दर्पण स्वच्छ है, कान्तिमान है, फिर भी है तो पदार्थ। तो दर्पण में जब कोई दर्पण झलकता है तो दर्पण में कुछ नई चीज मालूम पड़ती है क्या? कुछ नहीं। न झलकने जैसी स्थिति रहती है। यह तो भिन्न दर्पणकी बात कही, किन्तु खुदके दर्पणमें खुदकी भी तो झलक है वह कैसी? ऐसे ही जब ज्ञानमें अपना ज्ञानस्वरूप झलका तो ज्ञानने कुछ नया काम किया क्या देखनेमें? नहीं किया। ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाये, यह है अपनी प्रगतिके साधनका मूल उपाप।

ज्ञानस्वरूपमें मग्न होनके पौरुषसे संकटोंका समापन––जब मैं ज्ञानमात्र हूँ तो क्यों न अपने इस ज्ञानमात्र स्वरूपमें मग्न हो जाऊं? ऐसा जिसके विश्वास है और प्रयोग है, उस ज्ञानस्वरूपमें मग्न होनेका जिनके पौरुषोंके समस्त क्लेश, चाहे वे मानसिक हों, चाहे वाचनिक हों, चाहे शारीरिक हों। किसी भी प्रकार का संकट वहाँ नहीं ठहरता जब कि

ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाया हुआ हो, क्योंकि कष्ट तो मिलता है ज्ञानके किसी प्रकारके परिणमनसे। अब ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाये तो अन्य वस्तुओंके परिणननका तो वहाँ ख्याल भी नहीं है, विकल्प भी नहीं। जब ये सारे संकट स्वयंमेव समाप्त हो जाते हैं तब निश्चयतः अपने आपमें अपने ज्ञानस्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण बनता है। तो अब ध्यानमें आया––मेरी रक्षा किसमें है? ज्ञानमग्नता हो उसमें है और उसका पोषण किससे हो? ज्ञानमग्नता हो उसका ही पौरुष हो। तो देखो जो रक्षा करे, जो पोषण करे, ऐसा कौनसा है निष्कपट जीव? माता बच्चेकी रक्षा करती है और बच्चे को पुष्ट करनेका उपाय बनाती है। तो ऐसे इस मुझ आत्माकी कौन रक्षा करेगा और कौन इस मुझ आत्माको निर्मल रखेगा, वह है ज्ञानमग्नता। तो मेरी माता है ज्ञानमग्नता। जो मेरी रक्षा करती है और मेरा पोषण करती है। ज्ञानमग्नता की अपनेको धुन होनी चाहिए और बाहरी घटनाओं की उपेक्षा कर देनी चाहिए।

कष्टका कारण बाह्यमें उपयोग जोड़ना––जीवका उपयोग लक्षण है। उपयोग जीव का स्वरूप है। सो उपयोगका जो परिणमन होता है उस परिणमन में हम तीन प्रकार की कलायें पाते हैं, जिसमें हम जानते हैं कि जीवमें विश्वास करना, ज्ञान करना और कहीं न कहीं लीन होना, मग्न होना, लगना, ये तीन बातें प्रत्येक जीवमें पायी जाती हैं। उसमें जो जानता हो, जिसमें विश्वास हो वही तो लीन होगा। तो मग्न होनेकी बात कहनेसे तीनों बातें सिद्ध हो जाती हैं। कोई संसारी प्राणी विषयोंमें मग्न होता है तो उसके मायने यह हैं कि विषयोंमें उसको श्रद्धा है सुख मिलनेके आराम पानेके, और विषयोंका ज्ञान है तब हो तो वह विषयों में लगता। तो जहाँ लगने की बात कही जाय वहाँ तीन बातें सिद्ध हो जाती है कि इसके विश्वास है, ज्ञान है तब यह लग रहा है। तो अब यहाँ तीसरी ही बातपर विचार करें। दो तो अपने आप आ जाती हैं। यह जीव कहीं न कहीं लगता है, मग्न होता है, तो कहाँ मग्न होवे कि जीवको सुख शान्ति मिले और कहाँ मग्न होवे कि जीवको अशान्ति मिले? सो अशान्तिका अनुभव तो सबको है। बाह्य पदार्थोंमें विश्वास बनाया, इन विषयों का परिचय बनाया और इन विषयोंमें उपयोग लगाया तो इसको अशान्ति मिलती है और अशान्तिका मूल कारण यह हो गया कि उपयोग तो है जीवके आधारकी बात। विकार किसका? जीवका। उपयोग किसके प्रदेशमें? जीवके प्रदेशमें। तो विकार का सम्बन्ध तो है जीव के साथ, मगर इस विकारने अपने व्यापारसे सम्बन्ध बनाया है परके साथ। तो हो तो कुछ और बने कुछ तो वहाँ आपत्ति आती है। उपयोग तो है जीवकी चीज और यह बनता है बाहरमें, तो इसको दुःख क्यों न होगा? तो यहाँ यह विवके करना है कि जब मैं उपयोग मात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं और यह आधार हमारा पुष्ट है, मेरा ही तो स्वरूप है उपयोग तो फिर मैं क्यों न अपनेमें मग्न होऊँ? तो फिर क्यों मैं बाहरमें उपयोग लगाने का सोच विचार करने का कष्ट करूँ? यह विवके जिसके जगा है वह संसारसंकटों से दूर हो जायगा। मैं हूं ज्ञानमात्र, मेरा ज्ञानाधार कभी छूटता नहीं। असलियत तो यह है और कषायवश, मिथ्या श्रद्धानवश यह उपयोग द्वारा, सोचने द्वारा, कल्पनाओं द्वारा अभिमुख होता है, पर यह जो विषमता है, यह जो बेढंगी बात चल रही है इससे जीवको कष्ट होता है। जब ऐसी बात है तब मैं क्यों परपदार्थोंके अभिमुख होऊँ? मैं तो अपने ज्ञानमें मग्न होऊँगा, ऐसा एक अपना दृढ़ भाव होना चाहिए। ज्ञानमें मग्न होनेसे लाभ क्या हैं? ज्ञानमग्नता से सारे मानसिक संकट दूर हो जाते हैं।

संकटों का आधार बनावट––मनमें संकट आते हैं उनका आधार क्या है? जीवमें तो संकटका स्वभाव नहीं, परपदार्थों से संकट आते नहीं। तो बस यही स्थिति है कि है तो कुछ और बनता कुछ। बस इससे संकट आते हैं। लोकमें तो यही देखा जाता है। कोई

बड़ा पुरुष है और तुच्छ बने तो संकट और कोई तुच्छ पुरुष है वह बड़ेपनका बाना बनाये तो संकट यह एक लौकिक बात कह रहे हैं, किन्तु आत्मा में तो एक अपूर्व ही बात है। है तो यह ज्ञानस्वरूप, पवित्र है, पूज्य है। है तो यह बड़े उत्कृष्ट चैतन्यकुलका और बनता फिरता है यह अचेतन। चैतन्यकुलका होकर भी यह अचेतनका बनना चाहता है। तब शान्तिकी आशा कैसे हो सकती है? तो अचेतनता न बने, अपने ही ज्ञानमें मग्न होनेका पौरुष करें तो इस ज्ञानमग्नता के पौरुष से मन के संकट सब दूर हो जाते हैं। संकट क्या है? अहंकार का और ममकारका। यह मैं हूं, यह मेरा है, यह भाव चित्तमें आये तो, पासेमें आये तो संकट मान रहा और न मिलता हो तो संकट मान रहा। तो ये संकट कैसे दूर हों? बाह्य वैभव मिलनेसे संकट मिट जायेंगे क्या? नहीं मिटेंगे। अरे ये संकट तो ज्ञानमग्नतासे मिटेंगे। जिस कालमें यह दृढ़ परिचय हो जाय कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानसिवाय मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं तो ज्ञान इस ज्ञानस्वभावमें ही मग्न होऊँगा। इसके अतिरिक्त मेरा कोई प्रोग्राम नहीं। जिसे कहते हैं प्रधान प्रोग्राम। तो ज्ञानमग्नता की बात आये तो सारे मानसिक संकट दूर हो जाते हैं और मानसिक संकट ही दूर नहीं, किन्तु शारीरिक क्लेश भी समाप्त हो जाते हैं। देखो जब कोई शरीर में रोग है, फोड़ा फंसी या अन्य कोई बात है और शरीर पर दृष्टि हो, शरीर की ओर ही झुक रहा हो, यह जीव शरीरमें ही मग्न होना चाहता है हो तो उसका रोग कई गुना हो जाता है, वेदना कई गुनी हो जाती है, कष्ट सहा नहीं जाता है और जहाँ समझा कि यह तो शरीर की बात है, शरीर का परिणमन है, मैं तो शरीरसे निराला हूं, केवल एक प्रतिभासमात्र, अमूर्त, अमूर्तमें फोड़ा फुंसी नहीं, रोग नहीं, रूप रस, गंध स्पर्श नहीं ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसा अनुभव करने पर और ऐसा ही उपयोग बनाने पर सारे क्लेश भी दूर हो जाते हैं। सर्वसंकटोंसे दूर होनेकी भावना हो तो ज्ञानस्वरूपको जानें और ज्ञानस्वरूप में मग्न होवें, यह ही एकमात्र उपाय है, दूसरा और कोई उपाय नहीं। बाकी उपाय तो सब बनावटी हैं, दवारूप हैं। थोड़ी देर को उपयोग बदल गया, दब गया, पर मूलतः उपद्रव नहीं मिटता।

ज्ञानमग्नता में सच्चे मातृत्वका दर्शन––देखो ज्ञानमग्नता यह ही हमारी रक्षा करने वाली चीज है और ज्ञानमग्नता यह ही मेरे आनन्दको पुष्ट करने वाली चीज है। तब हमारी सच्ची माता ज्ञानमग्नता है। माँ में दोनों गुण होते हैं, पुत्रकी रक्षा करे पुत्रका पालन करे। रक्षाके मायने तो यह हैं कि कोई संकट आ जाय, कोई उपद्रव आ जाय तो संकट और उपद्रवों से बचा सके। रक्षा तो एक विशेष समय की घटना है और पोषण यह निरन्तर की घटना है। रक्षा का प्रसंग तो होता है संकट के समय और पोषण का प्रसंग रहता है प्रतिसमय। हमको तो दोनों ही बातें चाहिएँ। जब विषय कषाय और उपयोग–इनका आक्रमण होता है तो हम बेचैन हो जाते हैं तो उस आक्रमण से हमारी रक्षा होनी चाहिए। इस रक्षाको यह ज्ञान ही कर सकेगा। ज्ञानका स्वरूप जानें और ज्ञानमें मग्न होने का पौरुष बनाये ंतो हमारी रक्षा हा सकती है। और पोषण की बात याने सर्वत्र हम सहज आनन्दकी अनुभव करते हुए तृप्त रहें, पुष्ट रहें, यह कहलाता है पोषण तो यह पोषण भी कौन कर सकता है? ज्ञानमग्न ही कर सकता है। तो वास्तविक तथ्य तो यह है, पर हाँ प्रस्ताव तो बन गया, जानकारी तो बन गई, प्रोग्राम तो बन गया। अब जरा ऐसा करने के लिए चलें तो सही कि जब ज्ञानमग्नता के लिए पौरुष करने चलते हैं। अनेक बाधायें बीचमें आती हैं, वासना उमड़ पड़ती, आती है, कषायें जग जाती हैं, हम ज्ञानमग्नतामें निश्चित प्रोग्राममें सफल नहीं हो पाते, तब क्या करना? बस उसी समयकी यह क्रिया कहलाती है व्यवहार धर्म। कषायें उछलती हैं तो उपयोग बदलें, प्रभुभक्ति करें, स्वाध्याय करें, गुरुभक्ति करें, संयम रखें, तपश्चरण करें। यह तन, मन वचन की क्रिया यह ही हमारे आनन्दमें

बाधक बनती है। इसका संयम बनावें। तो जब हम ज्ञानमग्नताके कार्यके लिए प्रेक्टिकल बात बनाने को चलते हैं तब पता पड़ता है कि किसका कितना मूल्य है? किसकी कितनी सामर्थ्य है और केवल प्रस्ताव ही प्रस्ताव करके कोई गप्प ही गप्प बनाकर चले, प्रेक्टिकल करनेका भाव ही न आये कि मुझे ज्ञानमग्न होना, स्वरूपमग्न होना। प्रेक्टिकल प्रयोग की बात न करें तो उसके लिए गप्प करना बहुत सुगम रहता है। मुखसे ही तो बोलना है। तो बोलना होता है सरल और उसका प्रायोगिक रूप देना है कठिन। प्रायोगिक रूप जब देना होता है तो सब बातों का पता पड़ता है कि हमको क्या–क्या करना चाहिए? महापुरुषोंके चरित्र पढ़ना चाहिए ताकि भीतर उमंग रहे कि ऐसा हो सकता है। जिस पंथ से महापुरुष चले हैं उस पंथसे चलें तो हम सिद्धि पा सकते हैं। फिर चरणानुयोग के अनुसार हमें अपने सदाचार की वृत्ति बनानी चाहिए ताकि पात्र रहे आयें हम कि ज्ञानमग्न हो सकें। हमें न्याय और युक्ति से वस्तु स्वरूपका सही निर्णय होना चाहिए ताकि हम निःशंक होकर ज्ञानस्वरूपमें मग्न हो सकें। आत्मा का हममें बोध भी चाहिए। आत्माका क्या सहजस्वरूप है, इसका भान रहना चाहिए ताकि ज्ञानमग्न हो सकें और ज्ञानमग्न होनेके लिए जो चलता है उसपर क्या बीबती है, क्या परिणाम बनते हैं, ज्ञानमग्न होनेपर क्या–क्या घटनायें बनती हैं, कैसे कर्मका क्षय होता है आदिक बातें ये न जानें तो? एक उसमें पुष्टता रहती है, यह हुई करणानुयोउकी शिक्षा। तो कोई प्रेक्टिकल में चले स्वानुभवके लिए, ज्ञानमग्न होनेके लिए तो उसे सब निर्णय होगा और केवल गप्प मारकर कोई रहे तो उसे पता नहीं पड़ता। जैसे रामचरित्र में लोग कहते हैं कि जब राम रावणसे युद्ध करने चले तो रास्ते में पड़ा समुद्र तो बंदरों ने समुद्रको लाँघ दिया। अच्छा अब उसी पर एक शिक्षककी बात लो, बन्दरों ने समुद्र को लांघ लिया तो मान लो थोड़ी देर को बन्दरों ने समुद्र लाँघ लिया तो उन्होंने लाँघा ही तो है। समुद्र में क्या रत्न पड़े हैं इसका परिचय तो लाँघने वाले नहीं पा सकते। वहाँ क्या रत्न हैं, इसका परिचय तो समुद्र में डुबकी लगाये, देखे, खोजे, कुछ इच्छा बनाये, कुछ चले वही तो पा सकेगा। तो कोई गप्प करके शास्त्रका एक छोर से दूसरे छोर तक उल्लंघन करदे और कहे कि हमने लाँघ लिया तो उसे अपने अन्तरका पता तो न पड़ेगा कि क्या होता है, कैसे समता आती है, क्या अनुभव जगता है, क्या आनन्द होता? इन रत्नों का पता नहीं पड़ सकता। इनका पता वही पाड़ सकेगा जो उस ज्ञानसागर में डुबकी लगाये, प्रयोग बनाये और उसे जब यह भी ज्ञान होगा कि मुझे और क्या–क्या तैयारी चाहिये? तो ज्ञानमग्नता ही एक ऐसी पवित्र परिणति है कि वही आत्मा की रक्षा करती है, वही आत्मा का पोषण करती है। तो हमारी सच्ची साता यह ज्ञानमग्नता ही है।

(58)

अहो, कैसी नादानी, मतलब तो कुछ नहीं, व्यर्थ बाहर उपयोग जोड़कर दुःखी होते, अपनेमें अपने उपयोग को समाकर, समरस होकर क्लेशप्रक्षय करनेकी सच्ची शूरता करो। प्रभु को निरख, खुद को परख, अन्तर कहाँ, खुद में समा और कृतार्थ हो जा।

संसारी जीव की नादानी––जिस पुरुषने विवके करके ज्ञानमग्नताका कुछ आनन्द उठाया वह पुरुष जब ज्ञानमग्नता में टिक नहीं पा रहा, पूर्वबद्ध कर्मका ऐसा ही अनुभाग उपयोग में प्रतिफलित हुआ कि जहाँ ज्ञानबलकी ओर से ढीला पढ़ जाने वाला पुरुष उस मलीनता का अनुभव करता है, वह पुरुष अपने आप पर पछतावा की बात करता है। अहा कैसी है यह नादानी? क्या हो रहा है उस उपयोग में जो अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी ओर अभिमुखता नहीं है। उपयोग बाहर ही बाहर भटक रहा है। वहाँ क्या हो रहा है? देखो जहाँ भटक रहा है, जिन पदार्थोंमें उपयोग जुड़ रहा है वहाँ मतलब तो कुछ है नहीं, व्यर्थ ही

बाहर–बाहर उपयोग जोड़ा जा रहा है। फल क्या होता है कि उसमें केवल दुःख ही दुःख मिलता है। तो यह मूर्खता है ना, नादानी है ना। है तो ज्ञानानन्दमय, है तो अपने स्वरूपमें घन और मान रहो सोच रहा बाहर–बाहर की बातों में अपना सम्बन्ध तो ऐसी मान्यता जहाँ बसी हो वहाँ दुःख होना प्राकृतिक बात है। अच्छा दुःखी हुआ, बाहरमें उपयोग जोड़ा, नादानी कीतो इसमें भी कुछ पौरुष तो किया उसने? अरे वह पौरुष नहीं है, वह तो कायरता है।

विषयोंके परिहार में शूरता––विषयों का भोगना कायरता है, शूरता नहीं है। विषयों का तजना शूरता है। अनादि से जब ऐसी अज्ञान–वासना लगी और ऐसा ही संस्कार चला आ रहा। किसी में मोह करना, विषयों में लगना ये बातें इसको ऐसी सरल हो गई और वहाँ यह अपने को कायर बना लिया विषयभोगों के प्रसंग में ज्ञानका जागरण किसी के नहीं होता? पञ्चेन्द्रियके किसी भी विषय से लगे कोई तो वहाँ ज्ञानबल किसीका उदित नहीं होता और न शूरता प्रकट होती। शूरता विषयोंमें लगने में नहीं किन्तु विषयोंके छोड़ने में है। बड़े–बड़े शूर–वीर बहादुर राजा महाराजा, जिन्होंने बड़े–बड़े भोगों को पाया, आखिर उन्होंने सर्वसाधन भोग छोड़े और अपने आपके स्वरूपको आराधना में लगे, यह है उनकी शूर वीरता। सो उन्होंने अपनेमें अपने उपयोग को समा डाला। उपयोग क्या है? ज्ञानका व्यापार। उस ज्ञानके व्यापार का विषय यही ज्ञानस्वरूप बना, जिसकी कणिका है ज्ञानव्यापार। ज्ञानपर्याय, ज्ञानस्वभाव, ज्ञेय होना, यह ही है सच्ची शूरता। भोग तजना शूरों का काम, भोग भोगना बड़ा आसान। दुबले पतले कुछ गंदे भिखारी, कुत्ता, गधा, सूकर, बन्दर, कबूतर आदिक इन्द्रियके विषयों को भोगने में लग जाते हैं। यहाँ शूर वीरता क्या है? यह तो जीवों की तुच्छ प्रकृति है। शूरता है इन्द्रियविषयोंका उपयोग छोड़कर अपने ज्ञानस्वभावका उपयोग बनायें और उसमें स्थिर रहें। तो बाहर उपयोग को भटकाने की नादानी को छोड़ें और अपनेमें अपने उपयोगको समाकर समरस बननेकी सच्ची शूरता करें, ऐसा जो शूर है उसमें दुःखका निशान भी नहीं रहता। दुःख है क्या? दुःख है कहाँ? दुःख है ज्ञानमें उठने वाली एक कल्पनामें ऐसा अधीर विवश हो जाना कि वह विह्वल हो जाता, अन्यत्र और कहीं दुःख नहीं। तो जब दुःखकी उत्पत्ति की कुञ्जजी समझ ली तो बस यही बदल करें, यही परिवर्तन करें, इस उपयोग में ऐसा ज्ञानप्रकाश लावें कि यह ऐसी पराभिमुखता न कर सके, फिर उसके दुःख न रहेगा।

प्रभु को निरखने और अपने को परखने का प्रभाव––अच्छा दुःखरहित बनने के लिए कुछ अन्तरङ्गमें भी परखें, अपने प्रभु को परखें और कार्यसमयसार परमात्मा को निरखें। निरख ओर परख––इन दो बातों में थोड़ा ही अन्तर है। निरखसे परख अंतरंग है प्रभुका, अरहंत सिद्ध प्रभुके स्वरूपकी परख न करना, किन्तु निरख करना है। देखा जाना और फिर वहाँ जो कुछ समझा उससे जो स्वभाव माना देखा उसकी परख करें अपने में, यह हो तो मैं हूं। तो प्रभु के स्वरूपको देखें, अपने स्वभाव को परखें तब विदित होगा कि अन्तर है कहाँ? वही वहाँ वही यहाँ। एक सत्व का तो भेद है। वह सत् पदार्थ जुदा है, मैं सत् पदार्थ जुदा हूं, मगर स्वरूपदृष्टि से तो एक कहा जायगा। यह एक व्यक्तरूप संख्याकी बात नहीं। संख्या शुरू होती है एक से। एक से संख्या शुरू नहीं होती। केवल एकही क्या संख्या है? जब दो से आरम्भ कर सकते हैं तो संख्या का आधार तो है एक–एक, मगर एक स्वयं संख्या नहीं। पर दो आदिक संख्या का आधार होनेसे एक भी उपचार से संख्या मानी गई है, एक तो एक है। और इसी कारण कोष में एकका अर्थ समान ही है। गणना का एक और समान दोनों ही अर्थ एक के होते हैं। कहीं गेहूं का ढेर लगा है तो वहाँ कोई भाव पूछे तो वहाँ यह ही तो कहता है कि यह गेहूं किस भाव दिया? कोई यह तो नहीं

कहता कि ये अरबों खरबों गेहूं के दाने किस भावमें दिये? उसकी गेहूंके स्वरूपपर दृष्टि है। स्वरूपतः भी एक है, इसलिए एकवचनका व्यवहार है। प्रभु के स्वरूपको निरखो, अपने स्वरूपको परखो, उसे समझोएक। अन्तर अब रहा कहाँ? तो अपनी अनादिकाल की नादानी तो मिटाना है तो खुद को परखो, प्रभुको निरखो। खुदको परखो और खुदमें समा जावो, ऐसी जो ज्ञानमग्नता आयगी उसही में यह जीव कृतार्थ होगे। जगत के अन्य कामों में बाह्य पदार्थोंमें उपयोग फंसा–फंसाकर दौड़–दौड़कर कोई पुरुष कृतार्थ नहीं हो सकता है।

(59)

सबसे हितका चिन्तन करना, ज्ञानब्रह्म की आराधना करना मनका श्रृङ्गार है; हित मित प्रिय वचन बोलना, प्रभु एवं आत्मब्रह्मका स्तवन करना वाणी का श्रृङ्गार है; निर्बल दुःखी रोगी की सेवा करना, गुणविकासक तपश्चरण करना तनका श्रृंगार है।

आत्म श्रृंङ्गार से च्युत प्राणी का बाह्यप्रवर्तन का श्रृंङ्गार करने का प्रयास––जीवकी सुन्दरता अथवा जीव का वास्तविक श्रृंङ्गार तो सम्यग्ज्ञान का ऐसा विकास होना है कि जिस ज्ञानविकास में तीन लो तीनकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, लेकिन अनादिसे ही ऐसी अशुद्धता और बद्धता चली आ रही है कि जिससे आत्मा का यह सत्य श्रृंङ्गारसमाप्त हो गया, और कर्मबन्धन, मलीमसता, अशुद्धता इनके कारण आज यह स्थिति है। कि यह जीव तन, मन, वचनमें बंधा हुआ है और इससे भी गई बीती स्थिति है अनेक जीवोंकी कि वे केवल तनसे बंधे हैं, मन और वचन भी उनके नहीं प्राप्त हैं, तो ऐसी परिस्थितिमें कि जहाँ तन, मन वचन से बंधे हुए हैं तो अब क्या करें? वह श्रृंङ्गार प्राप्त नहीं है जो भगवान को प्राप्त है। लोग तो भगवान का श्रृंङ्गार बाहरी आभूषणोंसे करते हैं, भगवानकी मूर्ति बनाकर मुकुट, फुण्डल, कपड़े, धनुष, बाण, बन्शी आदिक अनेक अनेक श्रृंङ्गारबनाकर भगवान का श्रृंङ्गार करते हैं तो लो देख लो पुजारियों के आधीन हो गया है भगवान का श्रृंङ्गार। भगवान तो स्वत' सिद्ध है। भगवान नाम है उत्कृष्ट ज्ञानवानका। जहाँ उत्कृष्ट ज्ञानप्रकाश हुआ है उसे कहते हैं भगवान, उसका श्रृंङ्गार क्या? ऐसा अलौकिक, ऐसा अकृत्रिम कि जहाँ शुद्ध ज्ञानका विकास है। सर्वद्रव्यों में सबसे उत्कृष्ट एक आत्मतत्व ही तो है, अन्यसर्वद्रव्य अचेतन हैं। एक आत्मा में ऐसी अद्भुत शक्ति है, चेतना है कि स्वयंको भी परखता और सर्ववस्तुओं को भी मानता है। ऐसा श्रृंङ्गार जिसका लुट गया और लुटा हुआ संसार में घूम रहा ऐसा प्राणी क्या करे अब? यह एक समस्या सामने आती है। यह जीव घबड़ाकर, अधीर होकर जैसेकि किसी की निधि लुट जाय तो अधीर होकर अंटसंट काम करता है। ऐसे ही यह आत्मा इसका श्रृंङ्गार लुटा, निधि लुटी तो यह अंटसंट जगत में बाह्य पदार्थों की अपनाता है और उनकी आधीनता स्वीकार कर लेता है और फिर शरीर से नाना कुचेष्टायें, नाना प्रकार के दुष्परिणाम जो बने सो करता है यह जीव। क्योंकि लुटा पिटा है ना। इसका ज्ञान लुट गया, इसके आनन्द नहीं है। इसको अपने घर में रहने का आश्रय नहीं मिल रहा। तो यह लुटा–पिटा जीव इन विषयों में प्रवृत्ति करके अब मन भरता है।

सत्य श्रृंङ्गार से हटकर बनावटी श्रृंङ्गार में लगने की गरीबी––जैसे कोई धनी पुरुष हो और हो जाय अचानक गरीब, गरीब कोई दूसरा तो नहीं होता। जब गरीबी आनेको होती है तो आवश्यकता होती है उसे द्रव्यकी तो लज्जावश अपने घरका जेवर, सोने का जेवर खुद नहीं बेंच सकता। शर्म लगती है, खुद नहीं दूसरे के यहाँ गहने धर सकते, सो दूसरके हाथ गहने धरवाते हैं, कितनाही ब्याज लिखा हो, कितना ही बताने में हो, कितना ही बुद्धिमान हो आखिर यों लुटते–लुटते सोनेके जेवर भी, चाँदी के जेवर भी बिक गए, अन्य–अन्य बातें भी किया। अन्तमें जब इसको ख्याल हुआ, घर की खपरियाँ भी

बेंचनी पड़ी तो खपरियां बेचते समय वह अपने हाथोंसे गिनकर दे रहा, कहीं 100 खपरियों की जगह 110 खपरियाँ न चली जायें। अरे अपनी बात रखने के लिए बड़े–बड़े कीमती जेवर भी शान से न बेच सके और क्या कर रहा? तो यह जीव जब अपने ज्ञान और आनन्द से लुट गया तो यह अपने विषयों में मन भरता है, यह अपना चित्त रमाता है, मगर यह न शोभा है, न श्रृंङ्गार है, न हितका अंश है। क्या है मनका श्रृंङ्गार? क्या है वचन का श्रृंङ्गार? और क्या है तनका श्रृंङ्गार? श्रृंङ्गार तो उसे ही कहेंगे कि जिसके माध्यम से यह चलते–चलते अपने असल ज्ञान और आनन्दकी निधि तक पहुंच सके। वह क्या है मन का श्रृंङ्गार? सो सुनिये––

करणीय मनशृङ्गार––सर्व जीवों के हित का चिन्तन करना बहुत बड़ा तपश्चरण है यह। ऐसा स्वच्छ हृदय बनना कि जगतमें मेरा कोई विरोधी नहीं, जगत में मेरे को कोई अनिष्ट नहीं। जीव है, अनन्त जीव है, सबकी अपनी–अपनी परिणतियाँ हैं, जैसा जो परिणमता है। कर्मविपाक है आत्मा तो सबका वही समान है जो मेरेमें सोप्रभु में, जो प्रभुमें सो मेरे में। अन्तर का कारणबनावट है। अच्छा, हाँ क्या कहा जा रहा है, मन का श्रृंङ्गार है हितचिंतन। हित चिन्तन की भी अनेक श्रेणियाँ होती हैं। पहली श्रेणी में तो यह कि कम से कम इस जीवन में तो हमें साता मिले। मेरा आराम, भोजन व्यवस्था और–और प्रकार की तकलीफों को दूर करना, पर परमार्थत' हितचिन्तन इसमें है कि यह भाव रहे कि इस जीव की दृष्टि ऐसी विशुद्ध रहे इसे अपने सहज अन्तस्तत्वका परिचय हो जाय तो व्यर्थ में जो उपयोग भ्रमा–भ्रमा कर कष्टसह रहे हैं वे कष्ट दूर हों। तो सब जीवों के हित का चिन्तन करना यह है मनका श्रृंङ्गार। और किसी के अहितकी बात विचारना––इसका ऐसा अपमान हो, इसका ऐसा तिरस्कार हो, यह इस तरह बरबाद हो, किस तरह इसको मिटायें, कैसे विनाश हो आदिक नाना प्रकार की खोटी चिन्तायें करना, यह है मनकी बरबादी। तो यह तो हुई परजीवों के प्रति हमारी कैसी परिणति हो, उस समय की बात। अब निजके प्रति हमारी क्या निजी वृत्ति हो कि जो हमारा श्रृंङ्गार कहलाये, मन का श्रृंङ्गार कहलाये? वह है ज्ञानब्रह्म की आराधना। अपने आपमें अपने आपके स्वरूप का यों चिन्तन रखना कि यह मैं एक ज्ञानमात्र हूं। विशुद्ध का अर्थ परसे निराला, अपने स्वरूपमें रत, अपने सहज स्वभावरूप यह मैं ज्ञानमात्र हूं। इसका किसी अन्यसे सम्बन्ध नहीं, इसका किसी अन्य विषयका विचार करके अपने आपको मलीमस बनाना विवके नहीं है। सर्व विचार छूटें, निज ज्ञानस्वरूप का मनन करना यह है मन का श्रृंङ्गार। और इसके विपरीत अपने आपकी परिणतियों में आत्मसर्वस्वकी प्रतीति रखना यह है दूषण। मनसे यों विचारना कि मैं मनुष्य हूं, मैं अमुकग्रामका, अमुक घरका, अमुक धंधे वाला, अमुक पोजिशन का आदिक कुछ भी चिन्तन होवे, यह है दूषण। ऐसे दुश्चितन से हटना, यह है मनका श्रृंङ्गार। अब मन सब जीवों में नहीं पाया जाता। जितने संसार के जीव हैं, जिनमें मन पाया जाता उनके वचन और तनतो जरूर होता है। इसलिये मनकी बात पहले कही। कह रहे हम सब मनुष्यों के लिये, पर मनके श्रृंङ्गार का प्रभाव, वचन और तनके त्याग भी पड़ता, इसलिये सर्वप्रथम तो अपने मन को विशुद्ध बनायें।

अनुकरणीय वचन श्रृंङ्गार––अब वचन का श्रृंङ्गार देखिये––वचन से प्रवृत्ति क्या होती? बोलनेकी। दूसरे जीवों से कुछ वचनव्यवहार हो तो हितमितप्रिय वचन बोलना, यह है वचन का श्रृंङ्गार। दूसरों का हित हो ऐसे वचन बोले, परिमित व परिमाण लिये हुये हों ऐसे वचन बोले और प्रिय हो ऐसी वाणी बोलें, यह है वचन का श्रृंङ्गार। तो इसका तो सम्बन्ध दूसरे जीवों के साथ है और अपने साथ होवे सम्बन्ध ऐसे वचन का श्रृंङ्गार क्या है कि प्रभु के गुणों का स्तवन करना, अपने आपके स्वरूपका स्तवन करना, यह है अपने लिये

वचन का श्रृंङ्गार। अब उस श्रृंङ्गार के विपरीत कोई प्रवृत्ति करे तो वह वचन का दूषण है। जैसे अहितकारी वचन बोले, अनाप सनाप अधिक वचन बोले, अप्रिय वचन बोले तो दूसरेका तो अहित है, सो ठीक हो भी और न भी हो, मगर खुद का अहित इसमें अवश्य है। जब संक्लेश किया, खोटी भावना हुई, जब ऐसी परिणतियां बनी वचनों द्वारा तो यह है वचन का दूषण। यह तो हुआ परके लिये और खुदके लिये क्या है वचनदूषण? अपने मुखसे अपनी तारीफ करना, दूसरे की निन्दा करना, और और अनाप–सनाप वचन प्रवृत्तियाँ हैं वे सब वचनके दूषण हैं। वचन का श्रृंङ्गार है हित मित प्रिय वचन बोलना और अपने और प्रभुके गुण का स्तवन करना।

परसंग के श्रृंङ्गार से हटकर विरक्तिभव तन श्रृंङ्गार होने में शोभा––अब तीसरी बात सुनो––तन का श्रृंङ्गार। तन का श्रृंङ्गार तो लोग बहुत प्रकार करते हैं। कितनी तरह के कपड़े डिजाइन, एक कमीज का कपड़ा खरीदना हो तो कोई 5 मिनट में नहीं ला सकता। कई डिजाइन देखते, कैसी कैसी उसमें सब बातें संभालना, खोजना, कोई नाना डिजाइन भी निकाले, ऐसे ही साड़ियों का और कपड़ों का कितनी तरह की बातें। यह प्रयोजन तो नहीं रहा कि तन ढाकना है, प्रयोजन रहा तनके श्रृंङ्गारका, और और आभूषण का श्रृंङ्गार, गहने का श्रृंगार। इससे तो तनको सजाना है, मगर व्यवहार रहे दूसरों के घृणा का, विरोध का तुच्छताका, ऐसी तनकी क्रिया रहे तो उस श्रृंङ्गार को पूछता कौन है? श्रृंङ्गार क्यों किया जाता है? इपने को खुश करने के लिये या दूसरों को खुश करने के लिए? पहले तो इसी समस्याका हल कर लो। एक पुरुष गरीब था और उसकी स्त्री अड़ गई 20–25 तोले के गहने बनवाने के लिये । तो अब वह रोज रोज लड़े, खाने के समय ज्यादा बातें होती है, तो वह पुरुष बेचारा परेशान हो गया तो एक दिन कहीं से माँगकर उधार लाकर 20–25 तोले सोने के गहने बनवा दिये, नाककी मक्खी, कान की ततैया, सिरके मेढक, कमरका सांप आदि जितने जो कुछ गहने होते हैं वे सब बनवा दिये। अब पति पूछता है कि यह तो सब ठीक बन ही जायगा, मगर एक प्रश्न का उत्तर तो बताओ कि ये गहने जोतुम बनवाती हो तो किसको खुश करने के लिये बनवाती हो, मुझे खुश करने के लिये या दुनिया के लोगों को खुश करने के लिये? देखो बाततो असली यह है कि दुनिया के लोगों को खुश करने के लिये गहने बनवाये जाते हैं, मगर ऐसा क्या कोई स्त्री कह सकती है कि मैं इन पड़ौसी लोगों को खुश करने के लिए गहने बनवाती हूं और है बात यही ही भीतर में कि पूरा पड़ौस के लोग खुश हों, पर मुख से कोई न बोल सकेगा।

तो अब वह बेचारी स्त्री चिन्ता में पड़ी कि क्या उत्तर दें? कुछ विचारकर कहा कि मैं तो तुम्हें खुश करने के लिये गहने बनवाना चाहती हूं। तो फिर पति बोला कि अगर तुम हमें खुश करना चाहती हो तो हम तो इस बात में खुश थे कि तुम कोई गहने न बनवाती और हमें उधार लेकर कर्जी न बनना पड़ता। कर्जा लेकर तो तुमने हमें संकट में डाल दिया, फिर हम कहां रहे खुश? तो फिर उस स्त्री ने कहा–अच्छा अब हमें गहने नहीं बनवाना है। हम तो उसी में खुश हैं जिसमें तुम खुश हो। तनका जो श्रृंङ्गार किया जाता है वह तो विकारका, विभाव का समर्थक है। वह कुछ आत्मा के उद्धार करने का सहयोगी नहीं। तब वास्तविक श्रृंङ्गार क्या है तनका? निर्बल कमजोर प्राणियों की सेवा करना–यह है तनका अच्छा श्रृंङ्गार। अच्छा श्रृंङ्गार करके यह ही तो चाहते हैं कि दुनिया हमको अच्छा कहे। मगर आजके जमाने में तो सजे–सजाये श्रृंङ्गार करने वाले लोगों को देखकर तो लोग म नही मन गाली भी दे देते हैं, उसे भला कोई नहीं कहता। कहते होंगे किसी जमाने में। आज के जमाने में कोई पुरुष बड़े श्रृंङ्गार से सजकर आये तो एक तो उस पर

आपत्तियाँ आयेंगी, दूसरे–कोई भला कहने वाला नहीं है, और कोई ऐसा सेवाभावी हो कि दीन–दुखियों की सेवा करता हो तो उसकी प्रशंसा होती है, और हो या न हो दूसरों की सेवा करके के प्रसंग में भाव विशुद्ध ही होगा, व्यान और पापों में न जायगा। तो इसमें आत्माकी रक्षा ही तो हुई। तो तनका वास्तविक श्रृंङ्गार है यह कि दीन–दुखियों की, निर्बलों की सेवा करना, यह तो हुई दूसरे के लिये बात। अब खुद के लिये क्या बात होनी चाहिये? तनके श्रृंङ्गार में तो खुदके लिए है तपश्चरण की बात, जिस तपश्चरण से आत्मा के गुणों के विकास में सहायोग मिले, ऐसा जो तनका तपश्चरण है वह है तनका श्रृंङ्गार।

तनका श्रृंङ्गार तपश्चरण––अभी देखो वह मुनिरूप नहीं है, आजकल जिसको स्यालिनी ने खाया, शेरनी ने भूखा, जिस पर सिगड़ी जलाई गई, जो ठंड गर्मी आदिके परीषह सहते रहे ऐसे मुनिराज हैं नहीं, मगर उनका चित्र बनाकर कैसा उनके प्रति एक भाव जगता है? तो देखो यह तनके श्रृंङ्गार की ही तो बात हुई। शरीर का श्रृंङ्गार, तपश्चरण से, संयम से दुःखियों की सेवासे बनता है। कहीं शरीर का श्रृंङ्गार गहनों से लद जानेसे नहीं बनता। जहाँ शरीरपर गहने लदाये तो शरीर की अपवित्रताकी पोल ढाकने के लिये है। क्या करें? नाक है, दो छेद हैं नाकमें। दूर से देखो तो नाकके भीतर का लोहू, नाककी हड्डी सब दिखाई दे जाती है।

अब क्या करें बताओ? इस नाककी घृणा ढाकना है तो फिर नाकको सजा लिया, दो दो पोगरिया। कानमें पहन लिये, अटपट सारा शरीर किसी स्त्रीने या पुरुषने बना लिया भले ही स्त्री पुरुष समझें कि हमारा शरीर बहुत अच्छा है और पशु पक्षी आदिक जीवों को समझते कि ये तुच्छ जीव हैं, चार पैरों से चलते हैं। कोई पशु भी इस मनुष्य को देखकर क्या सोचते होंगे, कैसा अटपट लगता आदमी और आपको पशु अटपट लगते। तो यह शरीर का श्रृंङ्गार कपड़ों से नहीं है, गहनों से नहीं है, और और भी बातों कई तरह की बालों की कटिंग के फैशन। गुजरात प्रान्त में तो सुनने में आया कि वहाँ महिलाओं के सिरके बाल बाँधने का पाँच–पाँच सौ रुपये तक की फीस पड़ती है। पता नहीं किस तरह से सिरके बाल बांधे जाते हैं वहां? तो यह भी कोई श्रृंङ्गार है क्या? जिससे जीवको संतोष हो, तृप्ति हो, आत्मा के गुणों पर दृष्टि जाय, ज्ञानमग्नता बने, वह कहलाता है श्रृंङ्गार। तो भाई तन, मन, वचन इनकी व्यवस्था है, हम आपको पराधीनता है तब इसको किस तरह से प्रवर्तायें कि हम अपना वास्तविक श्रृंङ्गार इसको पहचानें कि निश्चयतः इसी तरह के तनम न, वचनके श्रृंङ्गार हैं।

मन, वचन, काय व धनादि वैभव से विविक्त अन्तस्तत्वकी दृष्टिमें परम श्रृंङ्गार–– अभी तन, मन, वचन के श्रृंङ्गारकी बात जो हुई वह अपनेसे बंधे तन, मन, वचनसे विवक्त होनेकी बात है अब इसके बाद एक चीज और रहती है धन। तो धनसे शोभा बने, अपनी तो इस तरह नहीं बनती कि होते हुए भी खुद के लिये भी कंजूस, दूसरा दुःखी हो, दूसरी कोई योग्य बात हो, काम हो तब भी एक कृपणता हो, अपने लिये हो, यह भी धनकी शोभा नहीं। धनको कोई ऐसा जोड़ता ही रहे, बचाता ही रहे तो उससे कहीं धन नहीं बढ़ता, और कोई धनको परोपकार में व्यय कर रहा तो उसका धन कम नहीं होता। उसकी शोभा है। दान और भोग में खावे खिलावे और योग्य कार्यों में त्याग करे तो यों जो चार चीजें बोली जाती हैं––तन, मन, धन, वचन। उनका ऐसा सदुपयोग करना कि जिससे अपने में कषायभाव न जगे, न जमे और कषायरहित ज्ञानस्वरूपमात्र निज अंतस्तत्त्व की दृष्टि बन सके जो आत्माका सच्चा श्रृंङ्गार है, उस श्रृंङ्गार तक पहुंचे हैं, जिसे लोग कहते हैं शुद्ध सत्यं शिवं सुन्दरम्। सत्य के मायने क्या? जो आत्मा सत् से स्वयं अपने आप होता हो उसकी दृष्टि श्रृंङ्गार है। शिवके मायने क्या? जो संयमरूप है, आनन्दमय है वह कहलाता

है शिव, मायने अपना एक आनन्दमय स्वरूप और सुन्दर के मायने हैं जो अपने एकत्व को प्राप्त हो। सुन्दर शब्द प्रसिद्ध हो गया है कोई अच्छी बात में तो अपने लिये अच्छी बात है कि अपने को अपना कैवल्य याने केवल निजका सहजस्वरूप दृष्टि में आये तो ऐसा आत्मस्वरूप अपनी दृष्टिमें हो तो यह है वास्तविक श्रृंगार और इसी श्रृंगार के पोषण के लिये तनका, मनका, वचनका श्रृंगार करना, सो वास्तव में वह अपनी–अपनी पदवी में धर्म के पथ पर है और पाप बढ़े व्यसन बढ़ें ऐसी तन, मन, वचनकी प्रवृत्ति करना तो वह अपने लिये दूषण है, अनर्थ करने वाला है, जगत में रुलाने वाला है।

(60)

मुझमें कष्टकी तो गुंजाइश नहीं और कष्टका बिछाव है, इसमें अपराध किसका? मुझमें दोष को तो गुंजाइश नहीं और दोष का बिछाव है, इसमें करतब किसका? मुझमें विकल्प का तो स्वभाव नहीं और विकल्प का वितान है इसमें आग्रह किसका?

कष्टरहित निजमें कष्टोंके बिछावके कारण का निर्णय––सर्व ओरसे विकल्प हटाकर अपने आपके अन्तर में दृष्टि करें, मैं क्या हूँ? जो मैं सहज हूं, जो मैं परके सम्बंध बिना हूं अपने आपके सत्त्व के कारण इन कुछ स्वरूप में हूं। मैं वह हूं, वह स्वरूप क्या है? चेतना, प्रतिभासमात्र। एक अपने स्वरूपकी ओरसे, ज्ञानीकी ओरसे जो जाननवृत्ति चलती है वह विशुद्ध है। उसमें केवल जानन है, उसमें नवीनता नहीं है तब फिर बतलावो कष्ट कैसे आया? मेरे स्वरूपमें कष्टकी गुंजाइश नहीं। स्वरूप देखो केवल प्रतिभासमात्र सर्व जगत से निराला, जिसका जगतमें कुछ नहीं है, सर्व अनन्तानन्त जीवों से अत्यन्त निराला। न प्रदेश का सम्बन्ध, न परिणमन का सम्बन्ध, बिल्कुल पृथक् स्वतन्त्र सत् द्रव्य हूँ मैं। मैं इस जगत से अत्यन्त निराला हूँ। ऐसे इसे विविक्त चेतना मात्र अन्तस्तत्त्व में कष्ट की तो गुंजाइश है ही नहीं।

अब जरा कुछ बाहर देखें तो कष्टका तो इतना बिछाव पड़ा है और भीतर में कष्टकी तो गुंजाइश नहीं, और बाहर देखते हैं तो कष्टका इतना फैलाव पड़ा हुआ है। यह क्या मामला है? एक ओर देखते हैं तो परमात्मस्वरूपवत् विशुद्ध चेतनामात्र स्वरूप हूँ और जब बाहर की ओर देखते हैं तो बहुत–बहुत कष्टों का फैलाव चल रहा है अब जरा देखो इसमें अपराध किसका? कष्ट पा कौन रहा और स्वरूप कैसा है पवित्र अविकार कष्ट रहित। तो इस विषमता के होनेमें अपराध किसका। जब अपराधी की खोज करने चलते हैं तो इन खोजों की भी एक बड़ी समस्या बनती है, क्या कहा जाय? क्या यह कहा जाय कि मेरा अपराध? मैं जब अपना स्वरूप देखता हूं जो वास्तविक स्वरूप है उसका निरखना होता है, तो अपराध उसका जंचता नहीं। मूलमें जो कुछ मैं हूँ उसको देखना बने तो अपराध मुझे उसका जंचता नहीं है। तो फिर किसका अपराध कहा जाय? क्या कर्मका अपराध कहा जाय? कर्मका अपराध कहूँ तो कर्म दुःखी हो। जो अपराध करे सो दुःखी हो। कर्म अचेतन है, वह कुछ महसूस करता नहीं। कैसे कहा जाय कि कर्मका अपराध है? तो क्या कहा जाय कि दोनों का अपराध है? अपराध है एक चीज, अपराध है एक परिणमन। अगर यह अपराध दोनोंका है तो जैसे मैं दुःखी होता हूं वैसे ही कर्मको भी दुःखी होना चाहिये । तो क्या यह कहा जाय कि अपराध किसी का नहीं, अपराध किसी का नहीं। यह भी कैसे कहा जाय? आखिर विडंबना बन रही है, मुझमें अनुभव चल रहे है।। कैसे कहा जाय कि अपराध किसी का नहीं। अच्छा तो किसका अपराध है? जब इस ओर दृष्टि और निर्णय करते हैं तो सुनो। अपराध यह मेरा है? कैसे मेरा है? और कोई पूछता है कि मैं अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि से हटकर बाहरके इन विषयभूत उपचरित निमित्तों में इसने अपना उपयोग फंसाया है, इससे अहंकार किया है, इससे ममता परिणाम किया है, सब यह

अपराध मेरा है। अच्छा, यदि यह अपराध मेरा है तो फिर यह कभी छूट ही न सकेगा, क्योंकि मैं ही खुद ज्ञानसे चिगता हूं, उपचरित मिमित्तों में लगता हूं, यह तो मेरा कर्तव्य है ना। तो जो मैं हूँ, सो मेरा वह कैसे मिटेगा? यह तो चलता रहेगा? नहीं, न चलेगा। कारण यह है कि वह स्वयं निरपेक्ष होकर अपने आपके सत्त्वके ही कारण अपने ही स्वभाव से यह अपराध मुझमें बन रहा है, क्योंकि पूर्वबद्ध कर्मका अनुभाग खिला और उन पूर्वबद्ध कर्मोंमें यह मलीनता बनी जिसको कि अचेतन होने के कारण कर्म अनुभव नहीं कर सकता, लेकिन वह छाया, वह प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब मुझमें पड़ा, क्योंकि मैं उपयोगस्वरूप हूं। बस पड़ा और ऐसी योग्यता है कि मैं उसको अपनाकर दुःखी होता हूं।

कष्टसमापन में कष्टनिर्माणपद्धति के निर्णयका महान सहयोग––ये कष्ट न आयें, इसका सही उपाय क्या है? सही उपाय यह नहीं है कि बाहरी पदार्थों में से कुछको तो जोड़ दें, कुछ को हटा दें, किसी का सुधार कर दें, किसी का बिगाड़ कर दें, किसी का राग करें, किसी से द्वेष करें। ये बाहर की परिणतियाँ, ये कष्ट मिटाने के उपाय नहीं हैं, किन्तु जहाँ कष्टका निर्माण हो रहा उस निर्माणकी विधिको सही समझलें अपने आप कष्टसे निवृत्ति हो जायगी। समझे अंतर में दृष्टि देकर। यह मैं ऐसे उपयोग परिणाम द्वारा अपने को दुःखी कर रहा हूँ और ये सब विम्बनायें मैं बना रहा हूँ। इस उपयोग को मलीमसता के कारण और यह मलीमसता हुई है कर्म के अनुभाग के प्रतिफलन के कारण। कर्मोदय में आया है ऐसा है विभाग का निर्माण। अपने आपकी ओर से विकार नहीं करता। अच्छा यह बात अगर सत्यता से समझ ली है तो क्या करना? याने बैठे अपने धाममें, अपने ज्ञानस्वरूपमें अपनी दृष्टि लावें, बस सारे कष्ट नष्ट हो जायेंगे। इस जीवन में जो अनादि से फिरते–फिरते बड़ी दुर्लभता से आज मनुष्यदेह पाया है तो यह ममता बसाने के लिये। ममता बसाने को तो गंधा, ऊंट, घोड़ा, गाय, भैंस, सूकर आदिक सब तैयार हैं, सब कर रहे हैं। वही काम यहाँ हो तो उन पशु पक्षियों में और अपने में अन्तर क्या है? ये तो संसार में रुलानेके काम है। यह तो सब महान अंधकार है। यहाँ से हटकर अपने आपके आनन्दधाम इस चैतन्य प्रकाश में आयें, यहाँ कष्ट का कोई काम नहीं और स्वरूपमें कष्टकी कोई गुंजाइश नहीं। पर बन जाता है तो हम अपने संयम से चिग जाते हैं कि यह कष्ट मिला। कष्ट दूर करने के लिये बहुत–बहुत उपाय करते हैं लोग। यह एक अनोखा उपाय और करना चाहिये, जिस उपाय में न पराधीनता है, न कोई प्रकार की विघ्न बाधा है। यह तो अपने ज्ञान से अपने ज्ञान में सोचने समझने की बात है, इस पर कौन दबाव डालता है? भले ही कोई घर में र्बधनमें डाल दे, कमरे में बन्द कर दे, जेल में बन्द करदे, शरीर को जकड़ दे, कुछ भी उत्पात बने बाहर में मगर भीतर में ज्ञान स्वतन्त्र है। यह ज्ञान अपने ज्ञानद्वारा भीतर के ज्ञानस्वभाव को निहारे, इसमें कोई झंझट नहीं कर सकता। तो जो कष्टरहित अविकार मेरा स्वरूप है उसको मैं अपनाऊँ, फिर मैंन वास्तविक विजय प्राप्त कर लिया, इसमें सन्देह की रंच बात नहीं।

दोषरहित में भी दोषकी छाया का रहस्य––अच्छा अब इस ही अंतस्तत्त्वको निरखकर दोषकी बात उपचरित करें। यद्यपि दोष कष्टरूप है, मगर कष्ट में तो है विषादका अनुभव, दोषसे है मलीमसताका अनुभव। क्रोध, मान, माया, लोभ, विकार नाना प्रकारके जो दोष उत्पन्न होते हैं उन दोषों का होना क्या मेरा स्वरूप है? मेरा स्वरूप तो विशुद्ध चैतन्यमात्र, प्रतिभासमात्र है। बस झलक है सब जानना रहे, ऐसा साधारण जानना है कि जिसमें कोई रागद्वेष की तरंग ही नहीं होती, वह है मेरा स्वभाव। उसमें दोष की गुञजाइश कहाँ? जब अपने स्वरूपकी विशुद्धता हो, शक्ति अपने ही सत्त्वके कारण मेरे में जो स्वभाव है उसको जब मैं निरखता हूं, इसमें दोषकी गुञजाइश नहीं, अगर मेरे स्वभावमें

दोषकी गुञ्जजाइश हो तो यह दोष कभी मिट नहीं सकेगा। जैसे आत्मा में जानने की गुञ्जजाइश है, ज्ञानकी गुञ्जजाइश है, ज्ञान स्वरूप ज्ञानका स्वभाव है तो यह ज्ञान क्या कभी मिट सकता है? वह तो स्वरूप है, वह तो स्वभाव है ऐसे ही यदि क्रोधादिक कषायें इनके दोष की मेरे में गुञ्जजाइश हो तो बड़ा अनर्थ है। फिर तो यह ही स्वरूप बन जायगा, फिर मेरे स्वभावके दोषकी गुञ्जजाइश नहीं, लेकिन जब बाहर उपयोग दे तो बड़ा दोषोंका ढेर लद रहा, दोषों का बिछाव पड़ रहा। आचार्य संत समझाते हैं कि तुम उपयोग किसी पदार्थ में मत डालो, मगर यह तो क्षणभरको भी नहीं हो पा रहा। यों जैसे कि आचार्य समझाते हैं, लदी है विडम्बना, सारी ममता अथवा बाहरी पदार्थोंके उपयोग। बाहरमें दोषों का बिछाव है, सो यह भी विचार करें कि अपराध किसका है? उत्तर सब सही है, अपराध न मेरा है, न कर्मका है, न दोनों का और अपराध मेरा है कर्मका नृत्य है। देखो निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय निज सहज शुद्ध स्वभाव के दर्शन के लिए होता है। निमित्तनैमित्तिक भाव यह नहीं कहता है कि यह जीवका मोक्ष कर्मने किया, किन्तु वह घटना बताती है पूर्वबद्धकर्मका अनुभाग खिला, उपयोग में प्रतिफलन हुआ और उसका निमित्त पाकर यह जीव अपने स्वभाव से चिगा और बाहरी उपचरित निमित्तों में लगा। व्यवहारनय एक घटना बताती है, इस घटनाको सही जानकर हमें मार्ग मिलता है। क्या मार्ग मिलता है? यहाँ भेद विज्ञान करें, जो कर्मका अनुभाग है वह कर्ममें हैं। उस कर्मका निमित्त पाकर जो मैंने ज्ञान विकल्प द्वारा अनुभव बनाया वह मुझमें है। तो मुझमें ज्ञानविकल्प द्वारा अनुभव तो है। पर यह दोष है कर्म के प्रतिफलन की बात, उसे अपना डाला। जैसे यहाँ भी तो बहुत बाह्य की बातें देखी जाती हैं। मतलब नहीं किसी से और राग बन गया, दुःखी हो गए, तो यहाँ भी भेदविज्ञान करना कि पूर्वबद्ध कर्मका अनुभाग खिला, उसका निमित्त पाकर अपनी अनादिकी वासना रीति के अनुसार यह ज्ञानस्वरूप से चिगा। बाहरी पदार्थों में लगा और इससे अपनेको बरबाद कर डाला।

विकल्परहित में भी विकल्प की छाया का रहस्य––अच्छा तो अब देखिये इसने विकल्प की पकड़ की ना, तो इस विकल्प ने बरबाद किया, तो फिर सहजस्वरूपको देखो। क्या विकल्प करना मेरे स्वभावमें बना? जब अपने स्वभाव की दृष्टि करते हैं तो विदित हुआ कि मुझमें विकल्प की गुञ्जजाइश नहीं, मेरा स्वरूप तो विकल्परहित है। विकल्प क्या है? ज्ञान के व्यापारका बिगड़ा हुआ रूप। ज्ञानका यह बिगड़ा हुआ रूप बन कैसे गया? आत्मामें अपनी ओर से अपनी सहज वृत्ति से नहीं बना, यह मलिन छाया नहीं बनी। आत्मा का ज्ञान करें सब विदित हो लेगा। जैसे पानी में रंग डाल दिया, पानी रंग गया तो क्या पानी अपने स्वभावसे ऐसा रंग गया है? वह रंग ऐसा घुल गया कि पानी सारा रंगीन हो गया। ऐसे ही वह कर्मका ऊधम, कर्मकी लीला, कर्मका अनुभाग, जो कर्ममें ही है, जिसका अन्वय कर्ममें है वह है कर्म की लीला। मगर जैसे रंग पत्थर में तो नहीं घुलता, घुलता तो जलमें है ना, ऐसे ही वह कर्म का रंग जो घुला वह कहीं अन्य जड़ में नहीं घुल गया, उपयोग में आया, यह प्रतिफलन हुआ, उपयोग रंगीन हो गया। तो ऐसा विकल्प होना मेरे स्वभाव में नहीं। हाँ स्वभावमें तो नहीं, लेकिन जब अपनेसे बाहर उपयोग रखता हुआ हो तो विकल्प होता, फिर भी प्रदेशतः इस मुझमें ही उपयोग है। जैसे कोई पुरुष कमरे में ही तो बैठा है, मगर ढूक रहा है बाहर में, तो कहीं वह पुरुष बाहर तो नहीं चला। पुरुष तो कमरे में ही है, मगर ढूक रहा है बाहर। ऐसा उपयोग कहीं बाहर नहीं चला गया, उपयोग तो है मेरे आत्मामें, आत्मप्रदेशमें, मगर ढूक रहा है बाहर। तो जब यह उपयोग बाहरमें कुछ ढूकता है, कितना बाहरमें? क्या कोई हाथ दो हाथ दूर? अरे इससे भी दूर तथा निज घरसे भी बाहर। घरमें भी बाहर, बाहरमें भी बाहर। बाहर में बाहर तो ये सारे पदार्थ हैं और घरमें बाहर क्या? जैसे

अपनी परिणति हो रही है उस परिणति को देखना है वह घर में बाहर देखता है। तो दोनों ही तो कर रहा है यह उपयोग। घरमें बसे हुए इन बाह्य पार्दोंको भी देख रहा और बाहरमें इन पड़े हुए बाहर में भी चित्त दे रहा, तो अपनी बरबादी का इतना डबल साधन उपक्रम करने वाला जीव है विकल्प में। तो भीतर जब स्वभावको देखते हैं तो विकल्प की गुञ्जाइश नहीं। बाहर में जब बाह्य तत्त्वों को निरखते हैं तो ये विकल्प बहुत तेजी से उमड़ते हैं। यहाँ भी सोचें कि यह विकल्पों का अपराध किसका है? तो इसका उत्तर वह ही है, मेरा अपराध नहीं, कर्मका अपराध नहीं, दोनों का अपराध नहीं। उत्तर आयगा, निमित्तनैमित्तिक भाव। यहाँ देखो वस्तुके सत्यस्वरूपको देखकर जो ज्ञानविकास जगता है वह तो है एक सीधा उपाय। सो ठीक ही है, वह उपाय करना चाहिए, पर जो बात अपने आपपर बीत रही है उसका निर्णय न बने तो हम आगे न बढ़ पायेंगे। उसका निर्णय देता है निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय और उसके निर्णय से हम स्वभाव के परिचय में पहुंच जाते हैं। विकल्प करना मेरा अपराध नहीं, किन्तु पूर्वबद्धकर्मका अनुभाग खिला, उपयोग प्रतिफलित हुआ और यह मैं अपनी धारणा, वासना के अनुसार स्वरूपसे चिगा और बाह्य तत्त्वोंमें लगा, बस विकल्पका रूप बन गया। तो यहाँ भी क्या पौरुष करना? विकल्प मेरा स्वभाव नहीं, यह निमित्त का प्रतिफलन है। इसमें मैं क्यों बसूं? इस विकल्परहित निज विशुद्ध ज्ञानप्रकाशमें अपने आपके स्वरूपका अनुभव बसो।

स्वयंके लिये स्वयंका महत्त्व––देखो अपने लिए आप ही खुद महान् हैं, अपने लिए आप ही महान् सर्वस्व हैं तभी तो आप पौराणिक चित्रण में यह पाते हैं कि जैसे कि यह घटना आयी–वज्रभानुका जब विवाह हुआ, स्त्री घर आयी, 4–6 दिन बाद उस वज्रभानुका साला उदयसुन्दर अपनी बहन (वज्रभानुकी स्त्री) को लिवाने आया तो स्त्री के प्रेममें आसक्त होकर वज्रभानु भी स्त्री के साथ–साथ अपनी स्वसुराल चल पड़ा। देखिये ऐसा तो शायद कभी किसीको न सुना होगा कि स्त्री पहली बार आये तो उसके मायके उसका पति भी उसके साथ–साथ जाये। मगर वज्रभानुको इतना तीव्र मोह था कि वह अपनी स्त्री के साथ साथ चल पड़ा। अब वज्रभानु, उदयसुन्दर और उदयसुन्दरकी बहन (वज्रभानुकी स्त्री) ये तीनों ही चले जा रहे थे। रास्ते में क्या देखा कि एक जगह एक मुनिराज शान्तमुद्रामें बैठे हुए तपश्चरण कर रहे थे। मुनिराज के दर्शन होते ही वज्रभानुका मोह गल गया। देखिये बड़े पुरुषों की बड़ी अद्भुत महिमा होती है। परिणामों के पलटने में देर नहीं लगती। जहाँ सत्य ज्ञानप्रकाश जग गया, अपना स्वरूप दिख गया, वहाँ कोई कितनी ही कोशिश करे, वह मोह का दाग अब आ नहीं सकता। वज्रभानु एकदम योगी की मुद्रा निरखने लगे। उदयसुन्दर मजाक कर बैठा––अरे मुनिराजको टकट की लगाकर बड़े गौरसे देख रहे हो मुनि होना है क्या? वज्रभानु तो इसकी बाट ही जोह रहा था कि मैं कैसे इन दो से (उदयसुन्दर व उस की बहनसे) कैसे पिण्ड छुड़ाऊँ? तो वहाँ वज्रभानु बोल उठा, हाँ हम मुनि बन जायें तो क्या तुम भी बन जाओगे? तो वह तो यह जानता था कि इतना तीव्र मोही व्यक्ति मुनि कैसे बन सकता? सो वह बोल उठा–हाँ हम भी मुनि बन जायेंगे। अब वज्रभानु तो मुनि बनकर ध्यानस्थ हो गया। उसके मोहको गलते देखकर उदयसुन्दरका भी मोह गल गया और मुनि हो गया। अब वज्रभानुकी स्त्री ने जब उन दोनों को विरक्त होते देखा तो उसका भी मोह गल गया, वह भी वहीं आर्यिका हो गई। तो यहाँ कौन किसका है? खुदका खुद है आलंबन आश्रय, महान् जिम्मेदार। खुद अपने ज्ञानको संभालो, अपने ज्ञानमें प्रीति जोड़ो और अपने आपको अमर अनुभव करो। इस उपाय से कष्ट भी मिटेगा, दोष भी दूर होंगे, विकल्प भी दूर होंगे।

विकल्प, दोष व कष्टका परस्पर संबंध तथा इन तीनों विडम्बनाओंके विनाशका उपाय––यहाँ जो तीन बातें बतायीं––कष्ट, दोष, विकल्प। तीन बातें होनेपर भी इनमें मूल कारण है विकल्प। उसका कार्य है दोष, उसका कार्य है कष्ट। है यद्यपि ये तीनों एक समय होती है, फिर भी जब उनमें यह खोज की जाय कि किसके कारण क्या हुआ? तो विकल्प के कारण दोष बना, दोष के कारण कष्ट हुआ, और फिर देखो तो तीनों एकमेक, गुत्थमगुत्था। एकके कारण दूसरी बात। तो ये सारी विडम्बनायें जो मुझमें चल रही हैं इनका विनाश होनेका उपाय है निमित्तनैमित्तिक भावको यथार्थ जानकर विभावों की उपेक्षा करना और फिर अपने उपादान के स्वभावको निरखकर उस स्वभाव में मग्न होना, इस ही विधिसे संसार के समस्त संकट दूर हो जाते हैं।

(61)

मनको नियंत्रित करो, इन्द्रियों का व्यापार बन्द करो, सर्व विकल्प हटा दो, अन्तरमें सहज विश्राम लेकर ज्ञानमें सहज ज्ञानप्रकाशमय हो जाओ। प्रियतम, सहजानन्दधाम! निज सहज चित्स्वभाव में लीन होकर परम तृप्त होओ।

क्लेशविनाशके उपायमें प्रथम आवश्यक कर्तव्य मनका नियंत्रण––मनुष्योंको जितने भी क्लेश होते हैं उन क्लेशोंका कारण है मन का नियंत्रण में न रहना। जिसका मन अपने ज्ञानप्रकाशके बिना अनियंत्रित है अर्थात् मन चाहे विषयों में दौड़ता है और इसी कारण इष्ट रागके साधन न मिलनेसे, या उनमें बाधा आने से बहुत व्याकुलता होती है, ऐसी व्याकुलता का कारण है मनको स्वच्छन्द बनाना। कोई सा भी काम मनको संयत किए बिना नहीं बनता। बुरा काम हो, चाहे भला काम हो, प्रारम्भ से अन्त तक पार पाना है तो उस बुरे की ओर मन लगाना पड़ता है और भले कामका कोई प्रारम्भ से अन्त तक पार चाहता है तो मनको उस भले कामकी ओर लगाना पड़ता है, पर बुरे काम की ओर मनको लगाने का नाम है मनका अनियंत्रण। बुरे काम से बचाकर अच्छे काम में मन लगाने का नाम है मन का नियंत्रण। सो अगर वर्तमान में भी सुख पाना चाहते हो तो पहली बात यह है कि मनको नियंत्रण करें। मनको नियंत्रित करने के लिए पहले सही ज्ञानद्वारा अपने हितपंथ का निर्णय बनावें, मेरा हित किस काममें है? भले ही हम हितके पंथ से डिगते रहें, उस पर चल न सकें, फिर भी यदि हितपंथ का निर्णय होगा तो डिगने के समय में भी हम अधिक डिगे हुए न रहेंगे, क्यों कि भीतर में ज्ञानप्रकाश बना हुआ है और डिग भी गया तो उस डिगने का परिहार हो सकता है। जैसे बताया है कि कोई चारित्र से भ्रष्ट हो जाय और सम्यक्त्व से भ्रष्ट न हो, सम्यक्त्व बना रहे तो वह कभी फिर चारित्र पाकर मुक्ति पा लेगा। जहां यह बात कहते हैं कि चारित्र से भ्रष्ट को भ्रष्ट नहीं कहा, किन्तु सम्यक्त्व से भ्रष्ट को भ्रष्ट कहा। उसका अर्थ यह है कि चारित्र से भ्रष्ट हुआ पुरुष यदि सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं है तो फिर चारित्र को पा लेगा। मगर जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट है वह वास्तविक चारित्र को नहीं पा सकता। इसके मायने सम्यक्त्व से भ्रष्ट सिद्ध नहीं होता और चारित्र से भ्रष्ट कभी सिद्ध हो जाता है, यह अर्थ नहीं है। लिखा है ग्रन्थों के भीतर तो उसका अर्थ है कि सम्यक्त्व से जो भ्रष्ट है वह चारित्र से भी भ्रष्ट है, सिद्ध नहीं होगा और जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं वह चारित्र से भ्रष्ट है तो सिद्ध न होगा, किन्तु जिसे सम्यक्त्व है उसे मौका है कि वह चारित्र को पा लेगा और मुक्त होगा। मुक्ति तो चारित्र बिना होती नहीं, मगर यह तारतम्य बताया कि सम्यक्त्व–भ्रष्ट पुरुष तिरनेका पात्र नहीं है, और जो सम्यक्त्व से लगा हुआ है वह और चारित्र से भ्रष्ट है तो वह पात्र है, फिर चारित्र को पा सकता है। तो ऐसे ही समझिये कि हमारे मन में शुद्ध ज्ञानका प्रकाश हुआ, और, मन चाहे डलता हो, नियंत्रित न होता हो, लेकिन ज्ञानप्रकाश है तो मनके नियंत्रण की पात्रता है हममें। हम तो ज्ञानका

उपयोग बनायें और मनको नियंत्रित करें। सर्वप्रथम हमें प्रगतिमार्गमें आवश्यक है अच्छे काम में मनको नियंत्रित करना, देश वालों का काम, देश नेताओं का भी काम। मनको नियंत्रित करके देशोद्धारका काम कर पायें, समाजोद्धार का काम कर पायें, वह काम समाजनेता अपने मनको नियंत्रित करके कर सकते हैं। तो उद्धारका काम मनकी स्वच्छन्द प्रवर्तनकालसे नहीं हो सकता।

मनोनियंत्रण और संयमन का भलाईमें सहयोग––जैसे दो बातें रखीं––असंयम और संयम। कोई पुरुष ऐसे ही दो पुरुष जिनमें एक ऐसा है कि अज्ञान छाया है मगर संयम में चल रहा, अपने व्यवहार संयममें, खानपान के संयममें, अपनी भक्ति उपासना के संयम में चल रहा और दूसरा पुरुष ऐसा कि अज्ञान छाया है और असंयम में लग रहा है। न तो चारित्र है, न ज्ञानप्रकाश है और न बाहर में कोई मनका नियंत्रण है, जैसा चाहे खाया, जैसा चाहे बोला, जैसी चाहे तृष्णा रखी, जितना चाहे परिग्रहका भाव बनाया। असंयम में बना है तो हैं तो दोनों के ही अज्ञान, मगर अज्ञान और असंयम जहाँ दो बातें हैं वह ठीक है या अपेक्षाकृत जिसके अज्ञान तो है पर संयम में चल रहा है वह ठीक है? अपेक्षाकृत देखकर विचार करें। एक अपना बाह्य आचरण पवित्र रहेगा तो मौका मिलेगा कोई सत्संग पाकर कुछ ज्ञानप्रकाश में आ जाय, और अज्ञानमें भी है और असंयममें भी है तो उसको मौका मिलना कठिन होता है। तो पहला काम यह है कि मनको नियंत्रित करें। देखो कोई पुरुष जो चाहे अटपट बोलता। उसका कारण क्या है कि उसका मन नियंत्रण में नहीं है। अच्छा फिर बाहरमें आपत्तियाँ भी कितनी ही आती हैं, अनेक विडम्बनायें बन जाती हैं। तो सुखसाता शान्ति पाने के प्रयास में पहला प्रयास है कि मनको नियंत्रित करें।

विषयव्यापार के निरसन का भलाई में सहयोग––क्लेशविनाशके उपाय में दूसरी बात है––इन्द्रिय का व्यापार बन्द करें, बहुत–बहुत जो चाहे देखते रहें। खूब राग रागनी के शब्द सुनने से मनमें क्षोभ होता, जैसा चाहे भक्ष्य अभक्ष्य खाकर खूब खानेका मौज लिया, ऐसे ही पञ्चेन्द्रिय के विषयों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति हो तो उसका मन अधीर रहता है और वह किसी एक निर्णयपर, सही बात पर आ नहीं सकता है। जीवन है और इन्द्रियविषयों के प्रसंग भी होते हैं, खाये पिये बिना भी काम नहीं चलता है, फिर भी मनके भावसे बाहरमें बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। एक तो उन विषयों में आसक्ति रखता हुआ, उनमें ही मौज मानता हुआ विषयों में लगता है और एक यह बात स्पष्ट है कि आत्मा का कल्याण तो आत्मस्वरूपको समझकर उसकी आस्था रखकर उसही में मथकर होनेमें है। परिस्थिति ऐसी है कि करना पड़ रहा है। जैसे कोई कोतवाल चोरको गिरफ्तार करके ले जाये जेलमें, तो क्या वह जाना चाहता है? नहीं जाना चाहता, पर जाना पड़ रहा है, क्योंकि उसपर हंटर लगते हैं, मार लगती है। ऐसे ही ज्ञानी जीव, जिसे संसारका और आत्माका सही परिचय मिल गया–मेरा आत्मा आनन्दधाम है, स्वयं आनन्द और ज्ञानसे भरा हुआ है, स्वरूप ही इसका यह है। इस स्वरूपसे विश्राम हो तो वही कल्याण है, और यह संसार ये दुनिया के दिखने वाले बाह्यपदार्थ, ये चेतन और अचेतन पदार्थ इनका संग पाकर, इनको उपयोग में लेकर इस जीवको सारे जीवनभर कष्ट रहता है, और जीवन गया, दूसरे भवमें गया तो यहाँ का संग एक भी कुछ भी साथ नहीं जाता है। जरा भी मदद नहीं करता। यहाँ तो दसों मित्रों का मन रमाने में या उनमें दिल लगाने में शोक मान रहा है। मरे के बाद एक भी साथी न होगा, यह है संसार का स्वरूप। तो जिसने संसारका स्वरूप जाना, आत्माका परिचय किया ऐसा पुरुष यदि स्थिति में है ऐसा कि भूखा रह नहीं सकता, खाना पड़ेगा ही और जब खाना पड़ेगा तो उसके साधन जुटाने पड़ेंगे। तो ये सारे काम यों किये जा रहे हैं जैसे कि हंटर लग रहे हो। परिस्थिति है, घटना है, करना पड़ रहा है, मगर मन तनिक भी

न हो इसमें तो अपनी रक्षा है, और इसकी शक्तियाँ गई, भीतर का ज्ञानप्रकाश समाप्त हुआ, अज्ञान अंधेरे में फंस गया तो इसका अकल्याण है। भीतरी भावके अन्तर से संसार और मोक्ष जैसे मार्गका अन्तर मिल जाता है। अब आप यह देखो कि कितनी सुगम ओर सरल बात है। किसी का कुछ लेना नहीं, किसी को कुछ देना नहीं, किसी से कोई प्रतीक्षा नहीं, किसी से कोई फंसाव नहीं, अपना मन है अपने पास है, अपना ज्ञान है, हमारे में ज्ञान हैं। हम भीतर में अपने ज्ञानद्वारा सही–सही वस्तुके परिचयको बनाये रहें तो इसमें कौन सा कष्ट है, कौनसा क्लेश है और आनन्द ही आनन्द मिलता है। और उससे संसारमार्ग, मोक्षमार्ग––ऐसे दो पथ स्पष्ट बुद्धिमें अलग हो जाते हैं, तब यह संसारमार्ग छोड़ देता है और मोक्षमार्ग में लगता है।

पैसेसे धर्मकी असंभवता व पैसे में चित्त होनेसे धर्म की असंभवता––देखो बात प्रसंग में यह आ रही है कि अपने ही ज्ञानद्वारा अपने आपमें सुगमतया अपना कल्याण किया जा सकता है। पर ऐसा सोचते समय कोई यों खुश हो जाय कि यह तो बड़ा सुगम मार्ग है। इसमें तो पैसे का खर्च भी नहीं करना पड़ता। सो भैया! ऐसा सोचने वाले को मार्ग नहीं मिलता, क्योंकि उसकी पैसेमें बुद्धि है। जिसकी पैसे में, तृष्णा में बुद्धि फंसी हो उसे मुक्ति का मार्ग नहीं मिल सकता। वह असारता तो पहले चाहिये कि जगतका एक परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं लगता, और मुझको किसी वैभव की जरूरत नहीं। ओर है, तो लगता हो अच्छे ठिकाने काममें तों खूब लगे, खूब प्रसन्न हो, ऐसी जिसकी भीतरी आदत बनी हो वही पुरुष इस मुक्ति मार्ग के पाने में सफल हो सकता है। आप देखो एक आत्मा के अन्दर भीतरी झाडू बुहारू करने का काम बना रहे कि कब कैसी झाडू बुहारी लगावे कि सफाई हो और उसमें हम आगे जावें। देखो सबसे बड़ी विपत्ति है वैभव की तृष्णा, पहले उसको खत्म करना होगा, तब आगे कुछ हमारी प्रगति हो सकती है। तृष्णा खत्म हो जायेगी। वैभव हटा दें, कुवें में डाल दें, यह बात नहीं कह रहे, किन्तु सत्य ज्ञानका प्रकाश पाकर उस वैभवकी ओर से हमारी उपेक्षा बने, और कभी यह भावना न जगे कि हाय पैसा जा रहा है, यह पैसा मेरे पास ही रहे, इसमें कमी न आये, इसमें और बढ़ाया जाये–यह भाव रहेगा तो यह भाव इतना कठिन कलुषित भाव है कि वहाँ धर्म और ज्ञानका प्रवेश नहीं हो सकता। बात यहाँ यद्यपि यह सच कही जा रही है कि धर्मपालन में पैसे का काम नहीं, मगर पैसे का काम नहीं, मगर पैसे में ही जिसका दिल है उसको धर्मका मार्ग नहीं मिलता। पहले अपने ज्ञानप्रकाश से उस पैसे में से अपना दिल हटा लीजिये, फिर बाद में यहाँ आइये। बात तो यही सच है कि यह रत्नत्रय धर्म, यह आत्मा का शान्तिमार्ग पैसा खर्च करने से नहीं मिलता है। यह तो अपने ज्ञानभाव के द्वारा मिलता है, मगर इसके भीतर यदि यह उमंग पड़ी हो कि मार्ग तो बिल्कुल सीधा है, इसमें पैसे का खर्च नहीं करना पड़ता है, यह भाव आये तो मार्ग खत्म, क्योंकि एक वैभवकी ओर तृष्णा का भाव चल गया और जिसे वैभव में तृष्णा है उसको ज्ञानप्रकाश नहीं मिलता। कैसी ये दो बातें स्पष्ट हैं? पैसे से धर्म नहीं होता, किन्तु में पैसे दिल होनने से धर्म जरा भी नहीं होता है, इन दो बातों की एक ठीक विधि समझलो। कोई यह कहे कि पैसे से धर्म होता तो वह भी धर्म नहीं कर सकता, और कोई यह समझें कि पैसा खर्च करने की तो जरूरत ही नहीं है, यों ही धर्म हो जाता तो उसे धर्म नहीं होता। कितना अंतरंग को साफ करने की आवश्यकता है? मनको नियंत्रित करें, पंचेन्द्रिय के विषयों के व्यापार को बंद करें। कोई किसी का साथी है नहीं, यहाँ भी आप अपने में अकेले–अकेले बैठे हैं। जैसे आपके किसी विषयमुख या अन्य सुखसाता के लिये कोई साथी नहीं है, ऐसे ही आपके धर्ममार्ग को चलाने के लिये भी कोई साथी नहीं है। भले ही वक्ता और श्रोता का सम्बन्ध है, योग्य वक्ता और योग्य श्रोता और वहाँ लगता

है श्रोताओं को ऐसा कि देखो हमारा साथी तो कोई नहीं, हमारा हित तो कोई नहीं, मगर यह धर्मात्मा जीव है, ये साधु संतजन, ये यथार्थ उपदेष्टाजन हमारे सच्चे हितू हैं। हाँ अपेक्षा से तो बात यह बिल्कुल सच है कि त्यागी, साधु, संत विरक्त, ज्ञानी आपके सच्चे हितैषी हैं, मगर यहाँ ही दृष्टि रहे और अपने आपका अकेलापन एकत्व स्वरूप इसका कुछ प्रयोग न करें तो हित नहीं हो सकता। बात दोनों चाहिएं––तीर्थ ओर तत्व। तीर्थ बिना तत्व नहीं और तत्त्व बिना तीर्थं की कीमत नहीं। तो यह ज्ञानप्रकाश हमको तब मिलेगा जब समस्त परवस्तुओं से हम अपनेपनका एकदम कटाव कर लेंगे कुछ नहीं मेरा। उसमें चित्त न फंसे।

परप्रसंग में रहकर भी परसे कटाव की संभवता––देखो परिस्थिति है ऐसी कि आप को घर जाना पड़ेगा, आप यहाँ घंटा भर रहेंगे, स्वाध्याय सुनेंगे, कुछ दिन रह लेंगे, पर परिस्थिति ऐसी है कि घर जाना पड़ेगा, यह बात सबको मालूम है। तो परिस्थितिवश घर जाना पड़ा तो चले जायेंगे। मगर वर्तमान में तो प्रत्येक पदार्थ से एकदम कटाव करके अपना चिन्तन करें, यह बात तो बना सकें 10–5 मिनट। कुछ तो बना सकते। तो कुछ क्षणको ऐसा सबसे कटाव करके अपने आपमें ज्ञानप्रकाशका अनुभव करने की योग्यता न मिले, नहीं है, नहीं कर सकते, तब तो समझो कि कल्याणमार्गसे बहुत दूर हैं। विषयों में तो ऐसा हर एक कोई कर लेता है कि जब खाने के स्वाद में तेज आसक्ति है तो बाकी सभी इन्द्रियों का एकदम कटाव कर दें, आँखों को भी मीचकर, कानों को भी बन्द, नाकको भी बन्द, सब प्रकार का सोचना भी बंद। इन विषयों में तो जानने चलते हैं लोग। किसी भी विषय में लगना हो तो अन्य विषयों से कटाव कर डालते हैं। वासना तब भी नहीं मिटी। मगर कटाव तो कर देते हैं और बातों का एक ही विषय में लगने के लिये। अब जरा पञ्चेन्द्रिय के सभी विषयों से कुछ क्षणको यों समझकर कटाव करदें कि विषयों का व्यापार करना व्यर्थ है, अज्ञान है, इस समय भूख तो लगी नहीं, इसलिये खाने का विकल्प तो आसानी से छोड़ सकते हैं। स्पर्श का कोई प्रयोजन नहीं। वह भी छोड़ सकते, गंध को भी छोड़ दें, आँखों में ढक्कन लगे हैं सो बंद कर लें, यह भी बन जायगा, मगर कानों में कोई ढक्कन नहीं लगा, यहाँ जरूर परेशानी हो जाती है। लेकिन फिर भी देखो चार इन्द्रियों को तो वश में कर सकते हो, कर ही रहे हो। कान ऐसे बेढंगे बने कि इनपर कोई ढक्कन ही नहीं है। आवाज आती है तो कान में आती है, यह बड़ी विपत्ति है। लेकिन यदि मनको रोक लेंगे तो छोटी मोटी आवाज से बाधा न आयगी और कोई बड़े योगीजन हो तो बड़ी आवाज से भी बाधा नहीं आ सकती।

इन्द्रिय व्यापार रोककर अन्तर में अन्तर्नाथ के दर्शन का प्रयास––भैया! इन्द्रिय का व्यापार रोक दें और कुछ क्षण अपने को ऐसा अनुभव करें कि मैं ज्ञान ज्ञानप्रकाश मात्र हूं। ज्ञान व जानना। जानना अमूर्त है। ज्ञानमें रूप, रस, गंध नहीं। एक लोक में जिसका केवल जानन प्रतिभास मात्र ही है, यह हूं मैं, बहू हूं मैं, ऐसा बोलना भी जहाँ नहीं यह हूं मैं, उसे देखो और उसमें मैं का प्रत्यय बने। यह धारणा जितनी दृढ़ बन जायेगी, मैं पर एक जान जम जायगा, उस समय में ऐसा अलौकिक आनन्द प्रकट होगा कि उसी को कहेंगे स्वानुभव ज्ञानानुभव। एक बात दृष्टि में फिर याद दिलानी है, बोलो इस ज्ञानानुभवके काम के लिये पैसे की जरूरत पड़ी क्या? कुछ पैसे से यह काम बना क्या? एक धेलेकी भी आवश्यकता नहीं स्वानुभव पाने के लिए, मगर सुध हो जाय कोई–यह तो बड़ा सीधा काम है, इसमें तो पैसे का कुछ खर्च नहीं करना, बस उसकी लुटिया डूब गई। समुद्र में डूबा। वह ज्ञान प्रकाश नहीं पा सकता। पहले उतना एक उदात्त भाव होना चाहिए कि धन वैभव तो मैल है, कीचड़ है और बल्कि हमको बरबाद करने का साधन है। उसमें लगकर मुझे कोई श्रेय

न मिलेगा। यह तो मेरे एक शत्रु की तरह है, चिपका है, लगा है, और भव भवमें मुझे रुलाता है, ऐसा वहाँ निर्णय होना चाहिए और लोकवैभवको चित्तसे एकदम हटा देना चाहिए। तो चित्त किसका हट सकेगा? कंजूस का नहीं। जिसको पैसे का लगाव है उसका चित्त न बन सकेगा उदार, किन्तु जिसमें प्रकृति यों बनी है कि गया तो गया, कोई काम है उचित, उसमें लगा दिया जावे। यह भी करें, यह भी करें उस पुरुष के चित्त में इतनी उदात्तता रहती है कि वह किसी समय चाहे कि सारे विकल्प छोड़कर केवल अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि बनाये तो वह बना सकता है। ज्ञानानुभवमें पैसे की जरूरत नहीं, पर पैसेकी जरूरत नहीं ऐसा समझकर खुश हो जाय तो उसे ज्ञानानुभव होता नहीं।

अन्तर में पौरुष करने का कर्तव्य––देखो बहुत से काम पड़े हैं, मनका नियंत्रण करना और इन्द्रियविषयोंका व्यापार बंद करना। तो पहला काम यह है कि मनको नियंत्रित करें, मनका व्यापार बंद करें, तब क्या होगा? देखो सर्वविकल्प छूट जायेंगे, और सर्वविकल्पों का त्याग करके फिर अपने अन्तरमें अपने को मग्न कर ले। देखो अपने अन्तर में पोल नहीं, मुझ में पोल नहीं है, मैं ठोस हूं। आप सोचते होंगें कि क्या कहा जा रहा कि मुझमें पोल नहीं, किन्तु मैं ठोस हूं, कैसे हूँ ठोस? ठोस तो यह शरीर है। आत्मा कहाँ ठोस होता? आत्मा तो एक पोलका ही जैस रूप है। क्योंकि अमूर्त है। भैया! अमूर्त होने को पोल नहीं कहते। किन्तु खाली रहने को पोल कहते। मैं आत्मा ज्ञानघन हूँ। अमूर्त तो हूँ मगर सर्व प्रदेशों में पूर्ण ज्ञानघन हूँ, वहाँ अन्तर जरा भी नहीं है। वहाँ खाली जरा भी नहीं है। ढैस्ज्ञ मैं ठोस पदार्थ हूँ। वनज नहीं फिर ठोस। हैरानी की बात नहीं है। कुछ लोग सोच सकते है कि जिस चीज में वनज भी नहीं उसे कहा जा रहा ठोस हैं। जीव ठोस, अणु ठोस, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सभी ठोस। जो ठोस नहीं ये वस्तु नहीं। जो भी पदार्थ हैं वे पूरे ठोस हैं। जो मेरा स्वरूप है, जो मेरा प्रदेश है उन प्रदेशों का वह स्वरूप पूर्ण घन है। वहाँ अन्तर जरा भी नहीं है। तब ही तो इस बात की याद दिलाने के लिये पानी से भरे हुए कलश को लोग सगुन मानते हैं। जा रहे हैं और पानी से भरा हुआ घड़ा दिख गया तो सगुन मान लिया। अरे सगुन वह कहलाता है जो आत्मा की याद दिलाये, असगुन वह कहलाता है। जो आत्मा को भुलावे में डाले। सगुन और असगुन की अन्य कोई व्याख्या नहीं। वह पानी से भरा हुआ कलैष याद दिलाता है कि जैसे कलश के बीच पानी ऐसा ठोस भरा है जिसमें एक सूत भी खाली नहीं, ऐसे ही मैं ज्ञानघन हूँ। जो अपने सर्वप्रदेशों में ठोस भरा हुआ हो, ऐसे ज्ञानमय अंतस्तत्त्व को निहारो और देखो अपने आपको पुकारो, यह ही तेरा प्रियतम है। इससे बढ़कर प्रिय जगत में कुछ नहीं। हे मेरे प्रियतम, हे अंतस्तत्त्व प्रभु, अब तो इस ही सहज चैतन्यस्वभाव में लीन होकर परम तृप्त होवेंगे। मेरा निर्णय है। मेरा अब दूसरा कोई प्रोग्राम नहीं। और इस प्रियतम को भी समझावें कि अब तो अपने सहज चैतन्यस्वरूप में लीन होकर तृप्त रहूं। यदि मैं उपयोग बरबाद होकर जगत में भटकता तो मेरे संगमें हे प्रभु! तुम भी तो खिचे–खिचे फिर रहे हो। तो यह शिक्षा उपयोगको भी दें, प्रियतम को भी दें, इस चैतन्यस्वरूपको भी शिक्षा दें। यह अभेद उपासना में जहाँ एक मन हो जाता है वहाँ ऐसी ही एक अलौकिक मैत्री बनती है कि इसकी गोली है तो मुझे गाली है, इसको प्रशंसा है तो मेरी प्रशंसा है। हे प्रियतम अन्तर्नाथ! बहुत भटका मैं अनादि से अब तक बाहर ही बाहर विषयों में उपयोग दे देकर। अब तो अपने निज सहज चैतन्यस्वभावमें दृष्टि दूंगा, उसमें लीन होऊंगा, यों सदाके लिए परम तृप्त होने का पौरुष करूंगा।

क्रोध के समय कर्तव्य के सुनिर्णय करने की सुबुद्धि रहती ही नहीं, क्रोध के समय के निर्णय का पालन नियम से पश्चात्रापकारक होगा, अतः क्रोध के समय तन, मन, वचनको विश्राम दो, कोई प्रोग्राम मत बनाओ।

परेशानी का कारण कषाय––जगत के प्राणी कषायवश परेशान हो रहे हैं। स्वयं के स्वरूपको देखो, सहज स्वभावको निरखो तो वहाँ परेशानी का कोई नाम नहीं है। दृष्टि में यदि विविक्त एकत्वगत अपना स्वरूप रहे तो वहाँ परेशानी नहीं होती। जितनी परेशानी है वह कषायभावकी है। विषय और कषाय दो बातें हैं, तो विषय भी कषायमें ही शामिल है। विषय कषायसे अलग चीज नहीं है, किन्तु लोगों को राग विषयों से अधिक है, इसलिये मुख्यतः से दृष्टि जाती, इस कारण विषयों को अलग बोलते हैं। विषय भाव कषायभावसे अलग भाव नहीं है, वह है एक तृष्णा का ही रूप। ये तो सारे जगत के प्राणी कषाय से परेशान हैं और उन कषायों में जो चार कषायें हैं––क्रोध, मान, माया, लोभ सो देखो जब जिसकी चर्चा करें वही बहुत बड़ा लगता है कि जीव इन कषायों से परेशान है। क्रोध के समय की बात में क्रोध ही क्रोध परेशानी का कारण दिखता है और लोभ से जो परेशानी होती है वह क्या कम है? तृष्णाभाव होनेसे जो हैरानी होती है वह भी किसी से कम नहीं है। सभी कषायें अपने–अपने समय में बड़ी परेशानी करने वाली है।

क्रोध होने की विडम्बना––अब जरा इस समय क्रोध पर विचार करो। क्रोध से जीव को कितनी हानि है? देखें कहीं धम में बाात आती हो, धर्म मार्ग मिटाया जा रहा हो, ऐसी घटना को देखकर कर्तव्य तो हो जाता है यह कि धर्ममार्ग मिट न पाये, यह है एक सम्यग्दर्शनका अंग। मगर उसको भी विवेकपूर्वक बनाना है ना तो वहाँ भी क्रोध न करना। कोई जीव अपने पर अन्याय करता हो तब भी क्रोध न जगे, प्रतिक्रिया चाहे कर लें। जैसे युद्धमें लड़ते हैं तो लड़ाई का काम तो सभी करते हैं और क्यों जी लड़ाई में कोई सुभट ज्ञानी हो, सम्यग्दृष्टि हो तो क्या यह सम्भव नहीं है? ज्ञानी भी हो, सम्यग्दृष्टि हो यह सम्भव है। ज्ञानी भी हो, सम्यग्दृष्टि भी हो और युद्धमें है और संघर्ष हो रहा है, मगर उसके मूल के क्रोध नहीं जगता। क्रोध तो जग रहा, क्रोध बिना युद्ध करे कैसे? पर मौलिक क्रोध नहीं जग रहा। एक कर्तव्य के नाते जो होना चाहिये सो जग रहा। जो ज्ञानी सुभट है उसकी बात कह रहे हैं। तो ऐसे बड़े–बड़े प्रसंगों में भी मूल में क्रोध नहीं, पर परिस्थिति में क्रोध करना होता है। तब फिर अज्ञानी जो एक पर्यायबुद्धि करके क्रोध कर रहा है इसकी तो बड़ी व्याकुलता है क्रोध के कारण क्रोध के समय हमको क्या करना चाहिये, क्रोध के समय सही निर्णय नहीं हो पाता। देखो क्रोध होता है। इष्ट में बाधा होते दिख जाय उसमें। कोई काम करना है और उस काम में बाधा आती हो तो क्रोध जगता है और क्रोध जगा कि कर्तव्यका निर्णय करने की सुबुद्धि नहीं रहती। क्रोधमें जो कषाय उपयोग में समायी, बस वही कर बैठते हैं, तो क्रोध के समय में कर्तव्य का निर्णय नहीं हो पाता है इसलिये क्रोध करने के समय में कोई प्रोग्राम मत बनावें। एक धीरता से सोचलो, आवश्यक भी है कोई प्रतिक्रिया तो कर्तव्य जानकर प्रतिक्रिया कर लें, क्रोध में आकर मत करें। वही काम क्रोध में आकर किया जाय तो उसमें बाधायें विघ्न विपत्तियाँ बहुत आती हैं और बिना क्रोध किये परिस्थितिमें जितना कमोंदय होता है उतना ही क्रोध में रहे तो उससे सुबुद्धि दूर नहीं होती। तो क्रोध के समय चूंकि निर्णय करने की सुबुद्धि नहीं रहती, इस कारण क्रोध के समय कोई निर्णय का प्रोग्राम न बनाना चाहिये। क्रोध के समय मौन और प्रभुमंत्र जपना श्रेय है।

क्रोध के समय के निर्णय की भयंकरता––घरके बालकपर भी क्रोध आ रहा हो तो क्रोध के समय उस बालक पर हमें क्या करना चाहिये, ऐसा अपना निर्णय न बनावें। वह

बालक के लिये बड़ा भयंकर बनेगा। एक घटना हुई ऐसी पंजाब में। एक मुख्त्यार ने सुनाया था कि कोई एक किसान गेहूं बेचकर आया, एक हजार रुपये के नोटों की गड्डी लिये था। जाड़े के दिन थे। आग ताप रहा था। आग बहुत तेज जल रही थी, खूब मौज से बैठे हुए आग ताप रहा था। उसके पास उसके बच्चे लोग भी बैठे हुये थे। एक बच्चे ने खेलनेको वे नोट माँगा तो पिता ने नोटों की गड्डी दी। बच्चे ने खेल खेल में ही वह नोटों की गड्डी आग में डाल दी। सारे नोट जलकर राख हो गए। उस जगह उस पिता को इतना क्रोध उमड़ा कि उस बच्चे को उसी आग में पटक दिया, वह बच्चा उसी आग की भट्टी में जलकर मर गया। तो भाई जब कभी अपने स्त्री पुत्र मित्र आदिकपर किसी कारण से क्रोध आ रहा है तो क्रोध के समय मौन रखना अधिक उचित है। अभी घर में किसी को तेज क्रोध आये तो उस क्रोध के समय जो कुछ उात बोलते हैं वह भी पूरी सुनने तक में नहीं आ पाती। थप थप करके बोलता है। समझमें ही नहीं आता कि क्या बोल रहा है? क्योंकि ओंठ दाँत आदि सब स्थान भंग हो जाते हैं। शब्द स्पष्ट नहीं निकलते। तो क्रोध के समय में मुद्रा बिगड़े, बुद्धि बिगड़े और फिर क्रोध के समय कोई भी निर्णय किया गया हो, उस निर्णय पर चलें तो पीछे पछतावा होता है। जैसे उस किसान ने उस बच्चे को आग में पटक दिया था, पर बाद में उसे बड़ा पछतावा हुआ था। इसी प्रकार क्रोध के समय में कुछ भी अनर्थकारी कार्य कर डाला जाय तो बाद में बड़ा पछतावा होता है। अभी कोई दो वार किलो घी से भरा हुआ डबला अपने हाथ में लिए हो और किसी कारण से उसे आ जाय क्रोध तो वह कहीं उस डबले को नीचे पटक दे, सारा घी खराब हो जाय। क्रोध के समय बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, पता नहीं कौन सा भूत सवार हो जाता है कि उस मनुष्य का बड़ा भयंकर रूप हो जाता है। तो यह जीवन की एक साधना है कि किसी जीवके प्रति क्रोधभाव न जगे। भले ही कोई अन्याय कर रहा है तो वहाँ उसकी प्रतिक्रिया करें, समाधान दें, जवाब दें, पर अन्तर में अज्ञानी बनकर क्रोधी न बनें।

क्रोध के समय मौन व स्वरूपमननका कर्तव्य––क्रोध के समय बताते हैं कि किसी स्त्री को बहुत ज्यादह गुस्सा आती थी तो उसे यह दवा बताई गई कि जब तुम्हें क्रोध आये तो तुम अपने मुख में पानी भरकर गाल फुलाकर बैठे रहो। पानी गुटको नहीं, मुख में भरे रहो। अब तो बताओ उस पानी से क्रोध शान्त हो जायगा क्या? अरे शानत तो न होगा, मगर जो मुख बंद किए रहेगा तो कुछ बोल तो न सकेगा। तो क्रोध के समय बोले नहीं कोई तो इससे भी बड़ा आराम रहता है। पर कोई कहे कि क्रोध के समय में ऐसा विवेक करो कि खबर ही न रहे। तो भाई उसी के लिये तो उपदेश है कि अपने ज्ञानस्वरूपकी भावनाको दृढ़ बनावें तो सुध भी रही आयगी कषाय के समय में भी। तो जब क्रोध का समय आये उस समय में विश्राम लेना चाहिए। आराम लें। आराम में क्या? राम आ। अपना जो आत्मस्वरूप है वह उसके ज्ञानमें आ, आराम, बस इसी में ही सच्चा आराम मिलता है। जब अपना सहज स्वरूप परमात्मतत्व ज्ञानमें रहता है तो आराम वहीं मिलता है, अन्य स्थितिमें आराम नहीं। तो ऐसे ही आराम पानेको अपनी धन बनावें। मिलेगा विश्राम, मिलेगा आराम। तो क्रोध को बताया कि यह तो चाण्डाल है। उस क्रोध पर विजय प्राप्त करें तो सद्बुद्धि रहेगी और सर्वकामों में योग्य प्रवृत्ति बन जायेगी।

(63)

धर्मार्थ भी कुछ दान कराने की बात कहने में कुछ दीलता तो होती ही है, वास्तविक निःसंग हुए बिना दानकी बात न कहने में हीनता होती है अतः निःसंग होने का पौरुष करके दीनता व हीनता दोनों से मुक्त होओ।

लोभकषायकी विडम्बना––उक्त निबंध में बतलायी क्रोध की बात अब सुन लीजिये– जो बहुत तीव्र बात होती है अपने मार्ग में बाधक वह है लोभ कषाय। देखो जिस पुरुषके लोभ कषाय रहती है चित्तमें उस पुरुष से धर्म नहीं बन सकता। और ज्ञान बिना ये कषाय दूर होती नहीं है। कभी लगता है ऐसा कि जिसके ज्ञान नहीं है वह भी देखो मंद कषायमें है। कोई विपत्ति नहीं आयी ऐसी अपनी मुद्रा है, मगर वासना जो बसी हुई है कषायकी वह उमड़ आती है। तो बंध वहाँ भी अव्यक्त चल रहा था जबकि उस कषायमें दृष्टि भी न थी। प्रसंग आया तो विकार जग गया। एक घर में बच्चे के पीने के लिये माँ कटोरी में दूध भर कर रख देती थी और मंदिर चली जाती थी। वही समय था बच्चे के दूध पीने का और वही समय था उस बच्चे की माता के मन्दिर जानेका। वहाँ एक साँप रहता था तो साँप रोज रोज उस बच्चे का दूध पी जाता था। वह बच्चा साँपके पास आकर साँप पर थप्पड़ भी मारता था, परन्तु वह साँप भागता नहीं था, सारा दूध पी जाता था। कुछ ही दिनों में वह साँप बड़ा मोटा हो गया। तो एक साँप उस साँप से कहने लगा कि कहो भाई तुम इतनी जल्दी मोटे कैसे हो गये? तो वह साँप बोला कि हम जैसा मोटा होने के लिए बड़ा धीरज चाहिये। अच्छा तुम क्या करते हो, हमें भी बताओ, हम भी वैसे ही कर लेंगे। .....अरे तुम से मुश्किल होगा। क्यों मुश्किल होगा, तुम भी साँप, हम भी साँप? .....अरे हम रोज एक बच्चे का कटोरे में रखा हुआ दूध पी जाते हैं, बच्चा हमें थप्पड़ भी मारता रहता है पर हम शान्ति से सहते रहते हैं, तो दूसरा साँप बोला कि हम भी मार सहेंगे और खूब दूध पियेंगे। .....तुमको उस बच्चे की मार सहना बड़ा मुश्किल है, अच्छा तो हम नियम लेते हैं कि 100 थप्पड़ तक हम उस बच्चे से कुछ न बोलेंगे। अब पहुंच गया बालक के पास वह दूसरा साँप और दूध पीने लगा, बच्चे ने थप्पड़ मारना शुरू किया अब 100 थप्पड़ तक तो वह साँप कुछ न बोला। 100 थप्पड़ के बाद जहाँ थप्पड़ बच्चे ने मारा कि साँपने उसे डस लिया। बच्चा चिल्लाया, लोग जुड़े। बच्चा भी मर गया और लोगों ने आकर उस साँपको भी मार डाला। तो बात यहाँ क्या हुई कि साँप यह गिनता जा रहा था, सोचता जा रहा था कि यह मुझे मार रहा है, होने तो दो 100 थप्पड़। देखो उसके देह का लोभ था और उससे क्रोध उमड़ा। जबसे पिटना शुरू हुआ तबसे तीव्र कषायभाव हुआ। तो कषाय जिसके रहती है उसके निरन्तर भाव खोटे रहते हैं।

दान से लोभपरिहार––अब विचार करें, क्या करना चाहिये सद्गृहस्थको? पैसा तो रहता ही है। गृहस्थी में। अब उसका किस ढंग से क्या काम करें? देखो धन की तीन गतियाँ होती हैं––दान, भोग और नाश। दान कर लो, या सम्पदा को भोग लो और दोनों ही काम न कर सके तो वह तो नष्ट होना ही है। तो भाई छोड़कर जाना ही पड़ेगा सब, पर ऐसा क्यों किया जाय कि विवश होकर छोड़ना पड़े और दुर्गति हो? तो जब धन वैभव के प्रति उपेक्षा हो जाती है तब उसकी प्रवृत्ति धर्ममार्ग में लगती है और धर्म के लिये भी वह उस द्रव्य का सदुपयोग करता है। अब उसे प्रसंग में एक समस्या आती है कि कोई धर्मका काम पड़ा है तो उस समय चाहिये कि जिसके पास धन है वह खुद ही अपने आप बचा करके उस काम की पूर्ति करे जो सबके लिये हितकारी है। यह तो खुद के विचारकी बात है और दूसरा पुरुष जिसको धर्म प्रिय है, किन्तु गरीब है तो वह दान नहीं कर सकता, है ही नहीं पासमें। तो दूसरा जो काम करता हो उसमें तो समर्थन हो सकता।

दानमें समर्थन की पुण्यकारिता––अब धर्मकार्य के अर्थ दूसरों से पैसे की बात कहना या न कहना, एक समस्या आती है, उस विषय का निर्णयइस निबंध में यह दिया है कि देखो पुरुषों की दो स्थितियाँ होती हैं––निःसंग और निसंग न हो सकनेकी स्थिति। निःसंगतामें निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा बनती है। वहाँ तो इस विकल्पका प्रसंग नहीं। किन्तु जहां

निःसंगता नहीं वहाँ बाह्य वृत्ति क्या बनती है? प्रसंग यह चल रहा था कि धर्म के लिए पैसे की बात कहें या न कहें? तो उसकी स्थिति यों है कि जो मनमें सोच रहा या निर्णयकी बात सुन रहा है कि हमको धर्मार्थ पैसेकी बात कहनी चाहिये कि नहीं? उसकी स्थितियाँ दो हैं––एक तो संग सहित परिग्रही होनेकी स्थिति और एक होता है निष्परिग्रह होनकी स्थिति। तो यह बात तो सभीको कहना चाहिए कि धर्मके लिए भी पैसा देने की बात कही तो भाई कुछ दीनता के परिणाम तो होते ही हैं, किन्तु उसके साथ एक बात और समझनी है कि कोई पुरुष वास्तव में निःसंग तो हुआ नहीं, अन्तरंग से संग का सम्पर्क छूटा नहीं, ऐसी जिसके वास्तविक निःसंगता नहीं हुई और वह दानकी बात न कहे दूसरे की भी तो इसमें हीनता होती है।

अब देख लो न दीनता और हीनता। धर्म के लिए भी दूसरों से धनका दान कहने में दीनता होती है, और खुद है परिग्रह सहित और ऐसी स्थिति में धर्म के अर्थ पैसे की बात नहीं करते या नहीं दिलाते तो उसमें हीनता होती है। बड़ी गहराई से आप सोचेंगे तो मालूम पड़ेगा कि किस ढंग से हीनता होतो और किस ढंग से दीनता? तब निर्णय क्या? अब दोनों ही बातें हैं। अरे भाई समर्थन भी और अनुमोदन भी तो एक पुण्यकारी भाव है। अच्छा काम कोई कर रहा हो और उसकी सराहना करे, उसे अच्छा माने, तो यह पुण्यकारी भावना है। अच्छा कोई त्याग कर रहा है और उसका समर्थन न करे, तो उसकी हीनता की मलिनता का वह परिणाम कारण है और देखो कभी किसी मुनिराज को आहार दिया जा रहा हो और कोई उसका समर्थन करता है तो उसे सद्गति प्राप्त होती है, तो त्यागका समर्थन न करे तो मन में हीनता होती है। मानो अपने लिये तो कोई बहुत बातें चाहे और परोपकार के लिये दूसरों से कुछ पैसे ही बात न कहे तो उसमें भी उसके चित्तमें हीनता के परिणाम रहते हैं। जैसे कहो विद्वेष के परिणाम, विरोध के परिणाम, न सुहाने के परिणाम तो ऐसे कलंकित परिणाममें बंध नहीं होता क्या? तो अब देखिये दोनों बात आ गई सामने कहना भी और न कहना भी, तब क्या निर्णय है? निर्णय यह है कि अगर दोनों ही तकलीफों से बचना है कि न मुझमें दीनता आये, न हीनता आये। तो वह वास्तविक मायने में निसंग हो जाय तो फिर उसमें दीनता की बात न आ सकेगी और न हीनता की। दुनिया से पृथक् हो जायगा।

सद्व्यवहार की उपयोगिता––भैया! परिस्थिति सबको समझा देती है। किसी को कोई कितना ही समझाये कि आपको यों करना या यो तो समझमें नहीं आता और समझावो या न समझावो, बड़े हो गये तो अपने आप समझ बन जाती कि किसके करने में हमारा कल्याण लाभ है? तो यह सब व्यावहारिक बात चल रही है। अपना व्यवहार कैसा होना चाहिये और देखो व्यवहार बिना गुजारा होता तो नहीं, जैसा होना चाहिये। व्यवहार वैसा न करें ऐसा किसी से नहीं बनता। करते ही हैं सब, अगर मुख से बोले और तरह करें और तरह, बस संघर्ष उसका होता है। मुख से बोलना पड़ता है सभी को न्याय जैसी बात पर जिसके अन्तर कषाय बसी है, चेष्टा बनेगी उसके तो उस कषाय के अनुकूल चेष्टा बनेगी। क्रोध के समय निर्णय न करें और परोपकार के अर्थ सारा धन खर्च करें और दूसरों से भी कहकर धन खर्च करायें तो इसमें न दीनता का प्रसंग आयगा, न हीनता का कर्तव्य निभ जायगा और अगर ये दोनों बातें पसंद नहीं हैं तो परिग्रह रहित हो जायेंगे, फिर दोनों से छुटकारा हो जायगा। फिर क्या करना है कुछ? तो अपना व्यवहार कैसा बने? शान्त बने, क्षमाशील बने, उदार बने, उदात्त बने तो इस दृढ़ भावनाका जो संस्कार बनेगा वह तो काम देगा, मगर यहाँ का यह लौकिक वैभवका प्रसंग इस जीवके कोई काम न आयगा।

धन, मान, यश भोगादि विषयक तृष्णाकी सीमा होती नहीं, तृष्णामें विश्राम आराम आनन्द की झलक की संभावना होती नहीं, अतः हीन संसारी प्राणियों से संतोष की शिक्षा लो और आराम करों

क्लेशविस्तार का कारण तृष्णा––संसारके प्राणी जो दुःखी हैं वे सब तृष्णाके सम्बन्ध से दुःखी हैं। तृष्णा होती है परपदार्थों में उपयोग जोड़नेसे। कर्मोदयका निमित्त पाकर जो अव्यक्त विकार होता है याने नोकर्ममें उपचरित निमित्त में उपयोग न जुड़नेकी घटनामें जो कर्मोदय का निमित्त पाकर अव्यक्त विकार होता है उसकी कुछ चर्चा नहीं करते, क्योंकि उसमें अपना क्या पौरुष चल सकता है? बुद्धिपूर्वक विकार न हो एतदर्थ पौरुष करना है तो उसका उपाय यही है कि इन बाह्य निमित्तोंमें उपयोग को न जोड़ें, मगर हमने परको अपनाया तो उसमें तृष्णाका सम्बन्ध जरूर रहेगा और जहाँ तृष्णा का सम्बन्ध है वहाँ संताप की शान्ति नहीं हो सकती। तो तृष्णा होती किन–किन चीजों में? सो पहली बात तो लीजिये। भोगकी पञ्चचेन्द्रियके विषयों के भोगमें तृष्णा जगती है। जैसे खानेको मैं खूब खाऊँ अच्छा बढ़िया रसीला भोजन ऐसी एक तृष्णा रहती है और उस तृष्णा में आनन्द नहीं है यह तो बात प्रकट है, मगर उस तृष्णा की सीमा भी नहीं है। जैसे बताओ पकवान खा लेंगे तो तृष्णा फिर मिट जायेगी क्या? मिठाई खा लेंगे तो तृष्णा मिट जायगी क्या? जो बहुत बहुत स्वादिष्ट लगती हो उसे खा लिया तो क्या तृष्णा मिटेगी? तृष्णा तो और बढ़ेगी। तो पंचेन्द्रिय के भोगों से तृष्णा मिटेगी नहीं, क्योंकि तृष्णा की सीमा नहीं होती। तब ही तो गुणभद्राचार्य ने कहा है कि आशा का गड्ढा, तृष्णा का गड्ढा प्रत्येक प्राणी में ऐसा अद्भुत है कि इस गड्ढे को पूरा करने के लिये जितना–जितना विषयों का कूड़ा करकट भरा जाय उतना ही उतना यह गड्ढा बढ़ता चला जाता है। नहीं तो दुनिया में जो जमीन के गढ्ढे होते हैं उनमें कूड़ा करकट भरे तो वे भर जाते हैं, मगर तृष्णा का गड्ढा तो ऐसा ही विलक्षण है, जितना वैभव आये, जितने साधन मिले, जितना आराम मिले उतना ही तृष्णा का गड्ढा चौड़ा होता चला जाता है और उसी तृष्णा के कारण दुनिया दुःखी है।

धन मानकी तृष्णा का दुःखद विस्तार––तृष्णा होती है भोगों में भोग का साधन है धन सा तृष्णा होती है धनमें और धनमें उतनी तृष्णा बढ़ जाती है कि जरूरत नहीं है धनकी फिर भी धन की अवधि नहीं रह पाती कि कितना धन जोड़ लें तो हमको तृष्णा मिट जायगी या संतोष होगा। तृष्णा की म्याद नहीं रहती और फिर इतनी भी तृष्णा बढ़ जाती कि धन का प्रयोजन क्या है––यह भी बात भूत जाती है। धनका प्रयोजन यह है कि जब गृहस्थी में रह रहे हैं तो भूख आदिक की वेदनायें नहीं सता सकती और वे मुझे बरबाद न कर दें, इस लिए उनकी वेदनाओं को सिद्ध करने का साधन होता रहो, धनका प्रयोजन इतना ही है, इससे अधिक कुछ प्रयोजन नहीं है, लेकिन इस प्रयोजन को भूल जाते हैं। और फिर यह मनमें आ जाता कि मैं दुनिया में सबसे बड़ा धनी कहलाऊं, यह प्रयोजन चित्त में आ जाता है, फिर इसके लिये सारा जीवन लग जायेगा, मगर इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती। तो धनकी तृष्णा की भी सीमा नहीं होती। जब सीमा नहीं है तो जितना बढ़ते चले जायेंगे उससे आगे ऐसा लगता जायगा कि अभी तो कुछ नहीं है, अभी इतना और चाहिये। तृष्णा होती है मानमें। मेरा सबसे अधिक मान रहे और मैं मानमें सर्वाधिक रहूं, ऐसा कह सकते हैं तब जब अन्य सबकी तुच्छता जाहिर हो, यह छोटा है, यह बात जाहिर हो तब अपने मानका बड़प्पन रह सकता। मान में एक तो अपना गौरव चाहिये, इतनी भर बात और एक ऐसा मान जिसमें हो जाए कि दूसरे लोगों की तुच्छता जाहिर हो, अपनी श्रेष्ठता जाहिर हो। मान की कोई सीमा नहीं है। करते जाओ तृष्णा, तृष्णा में संता पकी शान्ति नहीं है। जहाँ तृष्णा है वहाँ आराम नहीं, विश्राम नहीं, शान्ति नहीं।

यश कीर्तिकी आकांक्षा का दुःखद विस्तार––तृष्णा होती है यश कीर्तिमें। तो देखो लोग यश की तृष्णामें ऐसा बढ़ते हैं कि चाहते हैं कि मेरा सारे विश्व में यश फैले। मेरा सदा के लिये यश फैले, सब जीवों में यश फैले, मगर यह मालूम नहीं कि दुनिया कितनी बड़ी है? जितनी आज की यह परिचित दुनिया है वह तो सारी दुनिया के आगे उतना है जितना कि समुद्र में एक बूँद और फिर उस बूंदभर सारी दुनिया में जितनी जगह में हम रहते हैं वह कितनी सी है? सारे विश्वमें, सारे लोकमें क्या यश फैल सकता है? यदि इस थोड़ी सी जगह यश फैलाने की कुबुद्धि मिट जाय तो जीवका भला हो जाय, लेकिन तृष्णा ऐसी रहती है कि जितना–जितना क्षेत्र परिचित होता जाता है उतना ही उतनी तृष्णा बढ़ती चली जाती है। चाहते हैं लो कि मेरा सर्व जीवों में यश फैले, पर ऐसा हो सकता क्या? सभी मनुष्यों में भी नहीं फैल सकता तो और जीवों की तो चर्चा ही क्या है? 29 अंक प्रमाण पर्याप्त मनुष्य होते हैं। आजकल के लोग तो कहते हैं कि दो तीन अरब मनुष्य है। जैसे 10 अंक रख दिया तो अरब की संख्या हो गई, उसके बाद और भी 11, 12 आदि 18 अंक तक बनाते गये तो वह शंख की संख्या हुई। आजकल बस इतनी ही संख्या चलती है, पर इतनी ही संख्या मनुष्यों की नहीं है, 29 अंक प्रमाण मनुष्यों की संख्या है। हर अंक में 10 गुना बढ़ता जाता है, तो 29 अंक प्रमाण वाली संख्याका अनुमान तो करो कि वह कितनी बड़ी संख्या बन जायगी? जरा विचार करो कि लाख दो लाख, 10 लाख मनुष्यों में यश फैले, तो क्या हुआ? मनुष्य कितने हैं, जीव कितने हैं और जहाँ यश फैलाया गया वे सब खुद स्वार्थी हैं, अपने आपका मतलब रखने वाले हैं, मोही जन हैं, उनसे क्या मिलता है? वे मेरे प्रभु तो नहीं, व्यर्थ की बात में अटककर अपने प्रभुका अपमान करना, तिरस्कार करना, भूला रहना, यह कितना बड़ा भारी अपने आपपर अन्याय है और यशकी, तृष्णा की अवधि नहीं हुआ करती, सीमा नहीं हुआ करती, इसलिये तृष्णा में जरा भी मत पड़ो।

तृष्णा की अत्यन्त अनर्थकारिता––लोग तो तृष्णा में अपनी चतुराई समझते हैं, मगर जीवको दुःखका कारण है तो यह तृष्णा ही है। तृष्णा में विश्राम नहीं, आराम नहीं, आनन्द और शान्ति को झलक भी नहीं और सम्भावना भी नहीं है कि तृष्णा का मार्ग अपनाकर और शान्ति पासके। तो बिल्कुल मोटी सी बात जो सबके सामने स्पष्ट है कि जो मिला सो सब छूटेगा, सब यहीं धरा रह जायगा। अकेला जीवको ही जाना पड़ता है? यहाँ का संग समागम कुछ सुविधा भी दे सकता क्या? प्रकट बात मालूम है फिर भी कैसा मोह का मद पिये हैं संसारी प्राणी कि जान रहे कि ये सब बेहोश पड़े हैं, शराब पीकर इनकी दुर्गति हो रही है, नाली में पड़े, मुखमें कुत्ते भी मूत रहे, इतना सब कुछ देखकर भी शराब का लोभ है, शराब ही पीता है। ऐसे ही मोह के मत्त पुरुष संसारी जीवों को देख रहे हैं कि ऐसी विकट स्थितियों को भोग रहे, कोई कीड़ा बना, कोई पतिंगा बना, कोई पेड़ बना, कोई पानी बना, कोई आग बना, ये सब ही तो जीव हैं जैसे कि हम हैं तो ऐसी हालत देख रहे हैं फिर भी अपनी जो पुरानी वासना है उससे नहीं हटते।

तृष्णा विनाश का आन्तरिक व बहिरंग उपाय––भाई तृष्णा के त्याग बिना धर्म में कदम नहीं आ सकता, यह बात पूर्ण निश्चित है। तब तृष्णा को छोड़ने का कोई उपाय है ना? हाँ उपाय तो है। एक तो अंतरंग अमोघ उपाय–भेद विज्ञान बना लें, मैं आत्मा समस्त पर और परभावों से निराला एक प्रतिभासमात्र चैतन्य ज्योति स्वरूप हूं, मेरा इन बाह्य पदार्थों से क्या सम्बन्ध? इस ओर उपयोग देकर वर्तमान में भी क्लेश सहूं और भव–भवमें रुलते रहने का भी उपाय रच डालूँ, ऐसी मुझको क्या पड़ी है? तो अंतरंग उपाय तो है भेद विज्ञान और बाहरी उपाय एक यह ही बना लें कि जो संसार के जीव दिख रहे हैं दीन हीन खोटी स्थितियों में रहने वाले गधा, कुत्ता, बिल्ली, सूकर आदिक पशु, पक्षी, कीड़े

मकौड़े और यह तो एक बड़ी सुविधा की बात है––जो सड़कपर चलने वाली बीसों सुगरियाँ मिल जाती हैं किसी की पीठपर विष्टा पड़ा, किसी के कानों पर पड़ा, किसी के मुखपर पड़ा तो आखिर यह सब क्या है यह भी तो अपने ही समान चैतन्यस्वभाव जीव हैं, उनको देखकर संतोष तो लेवें कि हम तो बहुत अच्छी स्थिति में हैं। यह जीव कितना विकट खोटी स्थिति में है, उनको देखकर तृष्णा दूर करें और ऐसा अनुभव करें कि जो वैभव मिला है वह मुझे आवश्यकता से कई गुना अधिक मिला है, उतने जी जरूरत न थी इस जीवनको चलाने के लिए मिल गया, ठीक है, पुण्योदय है, अब आगे की तृष्णा न करें और वर्तमान में पाये हुए धनको खोटे कामों में मत लगावें, अच्छे कामों में उपयोग दें, तृष्णा मिटेगी और तृष्णा मिटने पर बुद्धि व्यवस्थित बनेगी और मोक्षमार्ग में अपना प्रवेश हो जायगी। तो यही एक उपाय बना लो। दिखने वाले इन हीन संसारी प्राणियों से संतोष की शिक्षा ले लें, जिसे देखकर शिक्षा मिले वह तो हमारे लिए बड़ा महान् है। कोई बोलकर शिक्षा देता है तो कोई अपनारूप देखकर शिक्षा देता है तो ये संसार की हीन दशायें अपना रूप दिखाकर शिक्षा दे रही है। इससे संतोष की शिक्षा लें और अपना जो सत्य आराम है, सहज आनन्द है, बिना बनावट के जो सहज आनन्द है उसको प्राप्त करें।

(65)

अपने आत्महित भावना हो तो वर्तमान व भविष्य समृद्ध हो। आत्महितकी भावना से चूके तो न यहाँ कुछ मिलेगा, न आगे। सबसे निराले सहज ज्ञानमात्र अंतस्तत्व के आश्रय में हित है।

आत्महित की भावना में उभयत्र समृद्धि––लोग हिसाब लगाया करते हैं कि मैं सम्पन्न किस बात में कहलाऊँ, इतना वैभव जोड़ लूँ, डिग्री ले लूँ तो सम्पन्न। क्या–क्या नहीं सोचा करते, अपने आपको समृद्ध घोषित करने के लिए? मगर सब जगह खूब निरीक्षण करके समझ लें कि समृद्धि कहीं बाहर के कीचड़ लपेटने से न बनेगी, किन्तु आत्महित की भावना हो तो समृद्धि बनेगी। मैं अपने को अपने में जो चाहे कर पाता हूँ तो यहाँ ही क्यों न वह मार्ग अपनायें कि हम अपने को समृद्ध बनायें। आत्महित की भावना हो तो देखो वर्तमान में भी समृद्धि है और भविष्य में भी समृद्धि रहेगी, जिसका वर्तमान संघर्षमय जीवन हो उसी वर्तमान दशा में कष्टमय जीवन हो और वह चाहे कि मुझे मोक्षमार्ग मिल जायगा, तो मिलेगा या उल्टा संसारमार्ग में बढ़ रहा। आत्महित की भावना बिना मुक्ति का मार्ग नहीं मिल सकता। जिसके आत्महित की भावना है उसका जीवन बहुत सुलझा हुआ होगा। आप देखते हैं, रेलगाड़ी में सफर कर रहे, आप किसी सीट पर बैठ हैं और कारणवश आप कहीं डिब्बे से बाहर चले जायें, उस पर कोई दूसरा आदमी आपकी सीटपर बैठ जाय और आप आकर कहते हैं भाई यह हमारी सीट है तो वह अगर सज्जन है तो बड़ी शान्ति से उठ लेगा। कहीं जगह मिली तो वहाँ बैठ जायगा या खड़ा हो जायगा। मगर जो उद्दण्ड लोग हैं, कोई गुंडा आकर बैठ जाय तो अशान्त कर देगा, कहो आपको पीट भी दे। तो भाई कारण क्या कि गुन्डा है और अगर वह सज्जन है तो बड़ी शान्ति से उठकर आपकी सीट आपको दे देगा। तो जब तक इस जीवमें गुन्डापन रहता, कषायों का आदर रहता, अन्याय का आदर रहता है तब तक जीवको वर्तमान में भी शान्ति नहीं, और जिसको वर्तमान में शान्ति नहीं उसको भविष्य में शान्ति कैसे मिल सकती है तो शांति चाहते हो तो अपने आत्मा की भावना बनायें। मुझे इस जीवन में और कुछ न चाहिए। मेरे आत्मा का ज्ञान और मेरे आत्मा को शान्ति रहे, इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ न चाहिए। देखो वर्तमान जीवन शान्तिमय रहेगा तो अगला जीवन भी शान्तिमय बन जायगा और ऐसी धारा रहेगी तो निकट काल में मुक्ति पा लेंगे।

प्रभुता की उपादेयता का स्मरण––सर्वोत्कृष्ट शुद्ध उपादेय है तो परमात्मा होना और यह बात हम आप सबमें सम्भव है, किन्तु स्वरूप तो वही एक है जो सहज वास्तविक अपने में स्वरूप है, वही प्रभु कहलाता, इसी के पूर्ण विकास के होने को कहते हैं भगवान होना। भगवान होने में कहीं यह कारण नहीं है कि ऐसी शोभा हो, ऐसा सिंहासन हो, ऐसे छत्र लगे हों, ये भगवान होने के साधन नहीं, यह तो भक्तजन अपनी भक्ति करते हैं, उस परमात्म स्वरूपका आदर करते। और भक्ति इतनी बढ़ी है कि जिसकी जितनी योग्यता है वह वैसी भक्ति करता है। गृहस्थजन हैं तो छत्र वगैरहसे सजा देते हैं, जो योगीजन हैं वे गुणों का स्मरण करके अपूर्व आनंदका रस लेते हैं, वे छत्र चमर आदिकमें न पड़ेंगे। ऐसी जिसकी जैसी पदवी है उसके माफिक वह अपनी प्रभुभक्ति किया करता है। पर प्रभु तो वह है कि जो आत्मा का सहजस्वरूप है वही मात्र विकसित हो गया, चीज का कोई सम्बन्ध न रहा। भगवान के कोई चिन्ह नहीं होते कि त्रिशूल हो, स्त्री हो, पुत्र हो, भस्म, जटा आदिक लगे हुए हो। भगवान का जो चिन्ह है उसे जो पहिचान जाता है वह कहलाता है मोक्षमार्गी, जान लिया प्रभुका स्वरूप क्या और वह किस उपाय से सकता है? हाँ तो इस सबके लिए चाहिए आत्महित की भावना। आत्महित की भावना हो तो वर्तमान में भी समृद्ध है और भविष्य भी समृद्ध मिलेगा। इसलिए जीवन में जो चाहें परिणतियाँ गुजरें, मगर आत्महित की भावना से न चूको। आत्महित की भावना, सत्य धुन अन्दर में बराबर रखते रहें, क्योंकि वह ही अपने को शरण है, यह ही अपने को पार करेगा, दूसरा कुछ पार न करेगा। अगर आत्महित से चूक गए तो न यहाँ कुछ मिला, न आगे कुछ मिलेगा। इतनी तो एक दृढ़ गाँठ लगा लें अन्दर में कि मेरे जीवनका लक्ष्य तो मात्र यही है कि आत्महित। बाहरी पदार्थों से उपयोग हटकर अपने आपके स्वरूपमें मग्न रहें, यह मात्र चाहता हूं, और इसी लिए मेरा मनुष्यजीवन है। आत्महित इसी में है कि जो अपने आपका अपने की सत्त्व के कारण जो स्वरूप है वह मेरा अंतस्तत्त्व है, जिसको अगर कुछ विशेषता से समझना चाहें तो ज्ञानमात्र, ज्ञान ही ज्ञानमात्र यह ही स्वरूप है और यह स्वरूप है सहज। जबसे मैं हूं तबसे ही स्वरूप है और जब तक मैं रहूंगा तब तक स्वरूप है। यह मैं हूं अनादि से और अनन्त काल तक रहूंगा याने अविनाशी हूं––ऐसा यह मेरा ज्ञानमात्र स्वरूप सहज है और सबसे निराला है। शरीर के बंधन में है तो भी शरीर से निराला है। शरीर यहाँ बैठा रहे तो मैं आत्मा आगे कहीं जा न पाऊँ, शरीर चले तो आत्मा चले, इतना विकट बन्धन होने पर भी शरीर में शरीर है और आत्मा में आत्मा है। आत्मस्वरूपमें शरीर नहीं और शरीरस्वरूपमें आत्मा नहीं। तो ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व समस्त परपदार्थों से निराला हूं, विभावों से निराला हूं।

विकारों से भी विविक्त अन्तस्तत्त्व के परिचय का पौरुष––देखो अंतरंग में विचारो, मैं विषय कषाय विभाव इनसे भी निराला हूं, यह भी समझते हैं कि नहीं? इसके समझे बिना हमारा भेदविज्ञान न कहलायगा, बाहरी पदार्थों से भिन्नता का कुछ ज्ञान बढ़ा लेना तो देहाती और बिना पढ़े लिखे लोगों के भी सम्भव है। सब जानते––शरीर निराला, आत्मा निराला क्योंकि यह हंस उड़कर चला जायगा, ऐसा सभी लोग बोला करते हैं, मगर वह भेदविज्ञान उन्हें मिलता जिन्होंने भेदविज्ञानसे परमात्मस्वरूपका अवलोकन करके आनन्द पाया है। व्रत संयम आदिक सब सफल होते हैं, वह सबको प्राप्त नहीं होता, या प्राप्त तब ही होगा जब इन विकारों से निराला हूं मैं, यह बात समझ में आये। क्यों जी, इस बात के समझने के लिए प्रधान उपाय क्या है तो प्रधान उपाय है निमित्तनैमित्तिक भाव की समझ। जहाँ यह परिचय हो कि मैं आत्मा तो स्वभावतः सहजस्वरूप हूं, इसमें प्रतिबिम्ब, प्रतिफलन, विकार ये कुछ भी नहीं होते, इनकी तो निरपेक्ष वृत्ति है। सो ज्ञाता द्रष्टा रहना है। अब

इनमें जो विकार झलक आया है सो कर्मविपाकका निमित्त पाकर आया है, मेरे में अपने आपके स्वभाव से नहीं आया। यह नैमित्तिक है, परभाव है, देखो ऐसा ज्ञान करने पर वहाँ से वृत्ति हट जाती है और अपने आपके स्वरूपमें लग जाती है। तो भाई अपना लक्ष्य बनावें कि मैं स्वभावका परिचय करूंगा। स्वभावका परिचय करना ही अब प्रयोजन है तो आपको किसी बात में विवाद न जंचेगा और न कुछ संघर्ष मौका ही मिलेगा और जहाँ लक्ष्यहीन बन गए वहाँ सारी बातें अटपट होंगी ही और कभी अपने को शान्ति संतोष नहीं मिल सकता। तो देखो हर उपाय से निश्चयनय की बात समझकर, व्यवहारनय की बात समझकर ही एक प्रकार के चिन्तन द्वारा यह पौरुष करें कि मेरे को मेरे ज्ञान में सहज स्वरूप ही प्रतिबिम्बित हो, ऐसे परसे निराले, परभावसे निराले ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वका आश्रय लें, इस ही में आत्महित है। आत्महित की भावना हो तो वर्तमान जीवन भी शान्ति में गुजरेगा और भविष्य भी शान्ति में गुजरेगा।

(66)

ज्ञेयज्ञायकसांकर्य का दुष्परिणाम भाव्य बनकर भोक्ता होना है। तब भाव्य न बनकर वेदक बनते हुए ही भोक्ता बन लो। पश्चात् वेदकता दूर कर मात्र ज्ञायक रह लो, यही सत्यशूरता है।

भाव्य न बनकर वेदकता से हटकर ज्ञायक होने के पौरुष का स्मरण––जीव उपयोग स्वरूप है। उपयोग का परिणमन निरन्तर चलता ही रहता है, अथवा कहो चैतन्य परिणाम का जो परिणमन है वह है उपयोग। तो उपयोग का परिणमन तीन प्रकारों में समझें–ज्ञायक, वेदक और भाव्य। जब यह जीव ज्ञेय और ज्ञायक का विवके नहीं रखता, ज्ञेय और ज्ञायक में संकरता सहित है याने ज्ञेयरूप ही अपने आपको समझता है वहाँ यह जीव कर्मविपाकका निमित्त पाकर कर्म के अनुरूप अपने आपको अनुभवता है। ऐसे अनुभवन को कहते हैं भाव्य। भाव्य में कर्मफल भोगा गया, मगर बड़ी अज्ञानदशा के साथ भोगा गया याने कर्मविपाक हुआ कर्म में कर्म का अनुभाग खिला, उसका हुआ उपयोग में प्रतिफलन और उस समय इस जीव ने जिस विषयभूत पदार्थ को जाना उस विषयभूत पदार्थों में हुआ आसक्त। ऐसी स्थिति में यह जीव भाव्य बनकर कर्मफलका भोक्ता होता है। सो देखो जब बड़ी बुरी स्थिति में फंस जाते हैं तो धीरे–धीरे निकलने के लिये सोचते हैं। तो जब कर्मफल के भोगने वाले तो हुए, मगर हुए भाव्य बनकर। तो ऐसी स्थिति में यह जीव सकुशल नहीं है। कोई भी समझदार भाव्य बनकर भोक्ता न बने, किन्तु वेदक बनकर ही भोक्ता बन लेवे। वेदक ज्ञानकी सुध होनेपर भी होता है, मगर भाव्य ज्ञानकी सुध होते हुए नहीं रहता। फलदान देने में समर्थ होकर जो सामने आया है उस कर्मानुभाग के प्रतिफलनरूप नाना क्रोधादिक विकार के रूपों में यह जीव अपने को अनुभवता हुआ कषायों को भोगता है। तो ऐसा भाव्य बनकर भोक्ता नहीं बना किन्तु इसकी जो द्वितीय श्रेणी है याने वेदक बनकर भोक्ता बनता है सो उसकी अपेक्षा ठीक है। तो अब भाव्य बनकर, भोक्ता न बनकर वेदक बनकर ही भोक्ता बन ले, पश्चात् वेदकता भी दूर की जा सके प्रबल भेदविज्ञान के बल से अनात्मतत्त्व को उपयोग से हटाकर, अन्तस्तत्त्व में उपयोग को जोड़कर वेदकता भी दूर की जा सकी और तब ज्ञायक बनने लगे। ज्ञायक जब बनता है तो यही अपने को सत्य शरण है और ज्ञायक रह जाने में ही आत्मा की सच्ची शूरता है। शूरवीरता शारीरिक बल से न आँकियेगा। मोक्षमार्ग में अथवा आत्महित में शूरता का अंकन होता है ज्ञानबल से। शारीरिक बलकी शूरता तो बड़ी विषम होती है। मनुष्य से कई गुणा बल है भैंसों में, पर भेंसे को तो एक 8 वर्ष का बालक भी लाठी से हाँकता चला जाता है। लोक में भी शारीरिक बलसे शूरता मानने की बात उत्तीर्ण नहीं होती है और मोक्षमार्ग में तो

शारीरिक बलकी कुछ बात ही नहीं है। यहाँ तो ज्ञानबल चाहिये। तो यह जीव जब ऐसा ज्ञानबल पाये कि यह ज्ञायक रह जाय, वेदक न बने, भाव्यकी तो चर्चा ही क्या, याने केवल विश्वके पदार्थों का ज्ञाता रहे, जाननहार रहे, उसको अपना कुछ न जोड़ें, कल्पना न करें, ऐसी स्थिति पायें तो यह कहलाता है कर्मफल टालने का पौरुष।

(67)

उपयोग में कोई भी बाहरी पदार्थ मत आओ। उपयोग में निज सहज आनन्दस्वभावी ज्ञानमय अन्तस्तत्त्व ही रहो। ऐसे पुरुषार्थपूर्वक क्षण बीतें, इसमें ही मनुष्यभवकी सफलता है।

उपयोग में बाह्य पदार्थ विषय को न फंसाकर ज्ञानमय अन्तस्तत्त्व का मनन रहने में छुटकारे का पौरुष––जीव भाव्य बनकर कर्मफल न भोगे, फिर वेदक बनकर भी कर्मफल न भोगे और जगत के पदार्थों का ज्ञाता मात्र रहे, ऐसी जिसके मन में धारणा हुई है उस पुरुष के अन्तः यही आवाज होती है कि उपयोग में कोई भी बाहरी पदार्थ मत आयें, क्योंकि वेदक बनना पड़ता है, भाव्य बनना पड़ता है तब जब बाहरी पदार्थ उपयोग में आते हैं। देखो अव्यक्त विकार की अध्यात्मशास्त्र में चर्चा नहीं चल पाती। यहाँ तो बुद्धिपूर्वक जो बात बनी उसकी ही चर्चा होती है। अव्यक्त विकार की चर्चा एक सूक्ष्म चर्चा है और उसमें अधिकार करणानुयोग का है। अध्यात्मशास्त्र में तो जिससे व्यवहार चले, काम चले अर्थात् जिसका निवारण करना शक्य हो, उसकी चर्चा चलती है। जहाँ समयसार में निरास्रव कहा है ज्ञानी को तो अमृतचन्द्रसूरी ने स्पष्ट किया है कि 'ज्ञानी हि बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहाभावान्निरास्रव एव।' ज्ञानी पुरुष बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह न होने से निरास्रव कहलाता है और फिर और भी स्पष्ट किया। उसके भी जो अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष चलते हैं सो वह ज्ञानगुणके जघन्य परिणाम से चलते हैं और यथाख्यातचारित्र अवस्था से पहले अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष होना अनिवार्य है, वह चलता ही है। तो अध्यात्मशास्त्र भी बतलाता है कि 10 वें गुणस्थान तक रागद्वेष चलता है, मगर वह है अबुद्धिपूर्वक, जहाँ अप्रमत्त दशा है। तो आखिर हुआ क्यों? इससे बाहरी पदार्थों में उपयोग भी नहीं जोड़ा और वहाँ चल रहा है अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष, तो इसकी वही रीति है कि निमित्तनैमित्तिक भाव बराबर व्यवस्थित चल रहा है। तो जहाँ कर्मानुभाग खिले और उसे उपयोग आत्मरूपसे पकड़े वहाँ जो फल भोगा जाता वह कहलाया भाव्य और जहाँ ज्ञानकी सुध भी रहे और कर्मफल भी भोगना पड़े वहाँ कहलाता है वेदक और जहाँ फल भोगनेकी बात ही नहीं, केवल ज्ञाता रहने की बात है वह है ज्ञायक। सो ज्ञायकता ही मेरे रहे, मेरे उपयोग में कोई भी बाहरी पदार्थ मत फंसो।

अन्तस्तत्त्व की आराधना से ही मानव जीवन की सफलता––देखो अन्तस्तत्त्व की अगर दृढ़ भावना होगी तो अपने सफल हो जायेंगे। भावना ही नहीं है वहाँ सफल कैसे हो सकते? बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ बनावें या अन्तर में भेदविज्ञान करें और ऐसा उपाय, ऐसा ज्ञानका उपयोग बनावें कि बाहरी पदार्थ उपयोग में न आयें और आये तो यह हमारा सहज अन्तस्तत्त्व ही उपयोग में आये ऐसा साहस बनायें। पौरुष बनायें कि उपयोग में निज सहज आनन्दमय यह अन्तस्तत्त्व ही बसा करे। जैसे कि लोगों के चित्त में कितने ही लोग बसते हैं ना, कोई जिसको जो इष्ट हो। जिसका वियोग हो वह बसता रहता है। तो जैसे अनेक बातें बसती हैं चित्त में उस प्रकार यदि चित्तमें, ज्ञान में उपयोग में यह सहज चैतन्यस्वरूप बसे अनुभवन चले, यह हूँ मैं अविकार स्वरूप तो उस जीव के कर्मफल भोगने को नौबत न आयी। ऐसा पुरुषार्थ चले, पुरुषार्थ में ही अपना जीवन जाय तो समझिये मनुष्य जीवन की सफलता है। जीवके जो कोई प्रसंग हो जाता है, मोहपरिणाम बन जाता है, पक्ष आग्रह हो जाता है सो देखो आये तो थे मानो इस मनुष्यभवमें कि संसार के कष्टों से सदा छुटकारा

पाने का उपाय बन जायगा और कर बैठे हैं यह संसार संसरण की नीति। तो मनुष्य जीवन बेकार रह गया। फिर तो अपने में अपने अन्तस्तत्त्व की आराधना बनावें। एक ही सुनो अन्तस्तत्त्व, एक ही गुनो, उसका ही मनन करो तो यह मानव जीवन सफल होगा।

(68)

जीव के जन्मव्याधिका रोग सहजात है, अनादिका पुराना है। यह रोग असाध्य तो नहीं, किन्तु महौषधि द्वारा साध्य है। वह जन्मव्याधिविनाशिनी महौषधि चित्स्वभाव की दृढ़ आराधना है।

जन्ममरणव्याधिकी अनादि परम्परा––अपने आपकी परख करना है कि मैं वस्तुतः हूं क्या और मुझपर बीत रही है क्या? दोनों बातें समझनी हैं। मुझपर क्या बीत रही है, इसको न समझे तो वहाँ भी एकान्त हो जायगा। और मैं वस्तुतः परमार्थतः क्या हूं? अपने सहजस्वरूपसे मैं क्या हूं, इसको न समझे तो वहाँ एकान्त हो जायेगा। दोनों बातें समझनी होंगी। मैं वस्तुतः हूं चैतन्यस्वरूप, जिसमें विकार का कषायका कोई काम नहीं, अपने सत्व के कारण उसका जो भीतर में स्वरूप है, शक्ति है उसको निरखियेगा। यह मैं हूँ एक केवल चैतन्यस्वरूप, अविकार स्वभाव और बीत क्या रही है हमपर? अनेक विकल्प दुःख सुख आकुलता आदि व्याधि और इन सब व्याधियों में प्रधान व्याधि है जन्ममरण की। जन्म मरण का रोग इस जीव को ऐसा लगा हुआ है कि जैसे शरीर रोग में कहते हैं ना राजयक्ष्मा वगैरा तो जीवके आंतरिक रोग में प्रधान रोग है, जन्म और मरण। सो जीवका यह जन्म और मरण का रोग सहजात है याने जबसे जीव, तबसेही जन्म मरण का इसे रोग लगा है। जैसे कोई जन्म से ही अंधा हो तो कहते हैं कि यह तो जन्म से ही अंधा है तो ऐसे ही जबसे जीवका अस्तित्व है याने अनादि कालसे, तबसे ही इसके जन्मव्याधिका रोग लगा है। यह एक बहुत बड़ी समस्या है। बताओ सबसे पहले अपना मरण हुआ या जन्म हुआ। आप कहेंगे कि जन्म हुआ तो इससे पहले मरण न था क्या? आप कहेंगे कि मरण हुआ तो इससे पहले जन्म न था क्या? क्या कहेंगे आप? सबसे पहले हमारा मरण था या जन्म? बस इसी को कहते हैं एक अनादि परम्परा। अच्छा और बताओ पेड़ होते ना, नीमका, बड़का, आमका तो यह बतलाओ कि पहले पेड़ था या बीज? अगर कहोगे कि पेड़ था त बवह बीज बिना पेड़ कैसे हो गया? और आप कहें कि बीज था तो पेड़ बिना बीज कहाँ से आ गया? पेड़े से पहले बीज और बीज से पहले पेड़ और बोलते जावो, इतना समय जिन्दगी में कहाँ रखा? सारे जीवन भर बोल लो, पर कहानी पूरी न हो पायेगी। यह कहलाती है अनादि परम्परा। अच्छा बताओ इस दुनिया में सबसे पहले बेटा था कि बाप था? अगर कहो कि देटा था तो बाप बिना बेटा कहाँ से आ गया और अगर कहो कि बाप था तो वह भी बाप बिना कहाँ से आ गया? बापों की संतान थी। मेरा बाप था, उस बाप का भी कोई बाप था। बताओ क्या कभी कोई ऐसा भी बाप था जिसका बाप न रहा हो? नहीं था ना? तो ऐसे ही जन्म व्याधिकी बात सोचलो। जन्मव्याधि अनादिकालसे थी, इसे बोलते हैं जीवका सहजात। ऐसा यह जन्मव्याधिका रोग बहुत अधिक पुराना है। यह कितना पुराना है? जबसे जीव तबसे ही यह व्याधि। अगर जन्म व्याधि के बिना जीव था पहले तो जन्मव्याधि लग कैसे गई? कोई कारण ही नहीं हो सकता। तो जन्मव्याधिका रोग यह अनादिका पुराना है। बहुत पुराना रोग है।

जन्ममरण की अनादिव्याधिके विनाशका उपाय चित्स्वभाव की आराधना––अगर तपेदिक में तीन वर्ष हो जाये तो लोग बोलते हैं कि अब तो यह असाध्य है, उसकी तीन सीढ़ियाँ होती हैं, तो कहते हैं कि पहली सीढ़ी तो सुगमतया दूर होती है, दूसरी सीढ़ी दुःसाध्य है और तीसरा नम्बर पा लिया वह तपेदिक तो असाध्य है। 3–4 वर्ष का पुराना

तपेदिक असाध्य बताते है और यह जन्म मरण की व्याधि तो अनादिकाल से लगी है। तो बताओ यह कैसे दूर हो? हाँ यह बात ऐसी है कि भले ही अनादिकाल से रोग है जन्मव्याधि यह असाध्य नहीं, किन्तु उपाय करेंगे तो यह व्याधि मिट सकती है। अच्छा चलो करो उपाय। यह जन्म की व्याधि मिटजाय––इसका उपाय है जन्मव्याधिरहित सहज चैतन्यस्वरूपमें 'यह मैं हूं, ऐसी भावना पुष्ट होना, यह है उसकी औषधि, तो आप कहेंगे कि इस औषधिको खाने पर भी तो जन्मव्याधि बहुत दिन तक रहती है, सो रहो कुछ भव, मगर मिटकर रहेगा। जैसे बीमार आदमी को आज वह औषधि दी और आज ही वह बिल्कुल ठीक हो जाय, लोग ऐसी आशा तो नहीं रखते। इलाज चलता रहता है, मिट जायगा रोग, अनुकूल औषधि चल गई तो। ऐसे ही चित्स्वभाव की आराधना हो तो जन्म मरण के नाशकी बूटी मिल गई, उस का पान भी किया जा रहा है और कुछ असार नजर आने लगे कि हाँ यह जन्म मरण का रोगमिट जायगा, क्योंकि भवरहित, विकल्प रहित विशुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव हो जाता है ना, तो उस अनुभवके पाने से इस ज्ञानी को यह सब आस्था पुष्ट हो गई कि जन्म मरण के रोग दूर हो सकते हैं। तो जन्म मरण की जो व्याधि अनादिकाल से जीव के साथ लगी है, उस व्याधि को नाश करने वाली महान औषधि है तो यह चैतन्यस्वभावकी दृढ़ आराधना यह जीव अचेतन तो है नहीं कि इसकी मलीमसता साफ करने के लिये कोई दूसरा पुरुष आये। चौकीपर कूड़ा लग गया है तो चौकी अचेतन है वह अपने आप क्या साफ कर सके? सम्पर्क हो गया है कूड़े का तो कोई पुरुष कूड़ा और चौकी स्वरूपका विवके करके अच्छी सफाई करता है। अचेतन है, उसका ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग बनता है, पर यह जीव तो चेतन है, इसमें जो आने वाले विकल्प हैं उनको दूर करने कौन आयगा? खुदको ही दूर करना होता है। उसकी औषधि है सहज ज्ञानस्वभावको उपासना, आराधना।

सद्व्यवहार के विरुद्ध रह कर ज्ञानाराधना की असंभवता––भैया! आत्महित करें उपासना अन्तस्तत्व की। और सोचें ज्ञानभावकी उपासना का प्रयत्न करके भी लोग सफल क्यों नहीं हो पाते कि उनकी अनादि काल की वासना विषयों के प्रति लगी हुई है, सो यह मन स्वच्छ हो जाता है और बारबार उसमें विध्न आता है। तो उस आक्रमण को विफल करने के लिये यह ही तो उपाय बताया है कि विकार के उपचरित निमित्त में हम उपयोग मत जोड़े इसी का नाम है व्यवहार धर्म, इसी को कहते हैं चरणानुयोग की प्रक्रिया, जो आश्रयभूत बाह्य पदार्थ हैं उनका परिहार करें। देखो यह बाह्य वस्तु का आज त्याग कर दिया, जिस पर भी विकल्प छूट ही गया, यह नहीं कह सकते, मगर त्याग किये बिना विकल्प छूटता नहीं। चाहे बाह्य त्याग करने पर भी विकल्प न मिटे। विपाक तीव्र बने तो, मगर एक भी उदाहरण ऐसा न मिलेगा कि जो बाह्य पदार्थों का त्याग किये बिना इस जीव ने मुक्ति पाई हो। वहाँ कोई पूछ सकता है कि ज्ञानको ज्ञानस्वभाव में लीन करना है। यह तो सारा भीतर का काम है। इसमें त्याग की क्या बात है? कोट, बूट, सूट भी हपने हों और भीतर में ज्ञान स्वभावकी आराधना बनाये तो मुझे मुक्त हो जाना चाहिये। भले ही जूते पहने हों, टोप लगायें हों, पर ज्ञानको ज्ञानमें ही तो सोचना है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र इन तीनों की एकता हो ही तो मोक्षमार्ग बताया है। फिर क्या आवश्यकता है कि कपड़े भी त्यागें, घर भी त्यागें? तो भाई भगवन्तों ने यह बताया है कि बाह्य भेष रख लिया, द्रव्यलिंग पा लिया, उसकी मुक्ति होगी ही ऐसा नियम नहीं है। लेकिन द्रव्यलिंग पाये बिना मुक्ति नहीं हो सकती––यह नियम जरूर है। अंतरंगका वह विकास इस अनादिकाल की वासना को लिए हुए जीव में कैसे त्वरित हो जाय, विषवासनायें सताती हैं, तो उनको आवश्यकता हो जाती है कि वे बाह्य पदार्थों का त्याग कर दें? देखो जिस चीज

से क्लेश होता है वह चीज सामने बनी रहे उसके क्लेश की बात देखो और उसकी चीज को कहीं हटा दें, उसके सामने ही न जायें। हठ करके बाहर रहने लगे तो उसके विकल्प की बात दिखे। चाहे मूलसे नष्ट न हो, फिर भी विकल्प में अन्तर अवश्य ही आता है और लोग अहाने में कह देते हैं ना कि न देखें, न भोंकें। तब फिर कोई कष्ट ही नहीं है। तो बाह्य पदार्थों का परित्याग करना अपनी शक्ति माफिक आवश्यक है। इसी को कहते हैं व्रत नियम संयम तो यह जीवन में तो रहना अच्छी बात है।

व्यवहार चारित्र में रहकर व्यवहारचारित्रको गौण कर ज्ञानाराधना में लगने का अनुरोध––अब यदि अज्ञानबस रहा तो भीतर में अज्ञान को टालने का उद्यम भी कर लें, भेदविज्ञान कर, वस्तु स्वरूपका सही ज्ञान करें, भीतर का भी काम करें। इस जीवने एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पशुपक्षी नर नारकादिक पञ्चेन्द्रिय में, देवों तकमें इन्होंने संयमवृत्ति नहीं प्राप्त किया, योग्यता ही नहीं, पा ही नहीं सकते। अब गाय, बैल, भैसों से पूछो कि भाई तुम्हारे जीभ लगी है और हमारी जीभ से तुम्हारी 8 गुनी लम्बी जीभ है, पर जैसे हम बोलते हैं, भाषण करते हैं, समझाते हैं, कविता गाते हैं, अरे एकाध दिन तुम भी तो उसी तरह से बोलकर सुना दो तो क्या वे सुना देंगे? नहीं सुना सकतें अरे भाई उनकी ऐसी पर्याय ही हे कि उनके ऐसी भाषा बोलने की पात्रता ही नहीं है। तो इसी प्रकार नारकी, देव, पक्षी और एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय आदिक तिर्यञ्च––इन तीन गतियों में व्रत और संयम की पात्रता नहीं होती, संज्ञी तिर्यचमें भी सकल संयम की पात्रता नहीं। एक मनुष्यभव ही ऐसा है कि जिसमें संयम धारण करने की पात्रता हो सकती है। अगर अज्ञान है और संयम भी धारण न किया तो यह मानव जीवन पाना ही व्यर्थ रहा। शास्त्रों में भी बताया है कि ''कोटिजन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरैं जे, ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते'' हां इस तरह बताया तो गया, पर इसमें मुनि को समझा रहे, जरा उन शास्त्रों की बात देखो आज श्रद्धाहीन क्यों बन रहे? भाई जो बात मुनि मुनिको समझाते थे उस बात में हम श्रावक अपने को समझाने लगे, इससे श्रद्धा में कुछ अन्तर पड़ता ही जायगा। जो व्यवहार चारित्र में ही लगे हैं उन मुनियों को खूब डांट फटकार की गई कि तुम इस ही में लगे रहोगे तो मोक्षमार्ग नहीं पा सकते। उसका अर्थ यह नहीं कि व्यवहार चरित्र छोड़कर तुम हमारी बताई ज्ञान–आराधना में लग जावो, किन्तु उसका अर्थ यह है कि तुम मुनि हो तो मुनि बने रहो, पर तुम ज्ञानाराधना की मुख्यता रखो और ज्ञानका अनुभव करके अपना जीवन सफल करो। है उपदेश उन मुनियों को और उनकी मान्यता बना लिया अपने को कि व्यवहार चारित्र के लिये तो बहुत डांट फटकार दिखाया है कि हेय है, इसको छोड़ो, अरे व्यवहारचारित्रमें लगे हुए को फटकारा है। व्यवहारचारित्र से हटे हुये को फटकारने की बात इसमें नहीं है। कुछ तीर्थ प्रवृत्ति के लिये भले ढंग से पहले यह बात सोचिए और अपने पर अपनी व लोकसमूह के कल्याण अकल्याण के वातावरण की जिम्मेदारी समझकर प्रवृत्ति करिये। जो प्रवृत्ति चली आयी अपनी दिगम्बर जैन आम्नायमें साधु संतों की वह संशोधितरूप है व्यवहारसंयम में चल कर कीजिये अपनी ज्ञानाराधना और ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करने की मुख्यता दीजिये। तो बात यहाँ यह कही जा रही कि जन्म व्याधि के विनाशकी करने वाली औषधि चैतन्यस्वभावकी आराधना है, मगर चैतन्यस्वभावकी आराधना के हम पात्र बनें, इसके लिये कुछ सदाचार धारण करना आवश्सक है। अब कोई झूठ लेख लिखे, झूठ दस्तखत करे, गहने की चीजें चुराये, सोना–चाँदी बदले, अनेक प्रकार के अन्याय हों, मनमें हिंसा, झूठ चोरी, कुशोल; परिग्रह इनकी वासनायें रहें, ऐसा आचरण खोटा हो और चाहें कि ज्ञानकी आराधना बन जाय तो वह गप्प मात्र है। जितना कर सकें, जितना बन सके, प्रमाद न करे, बढ़े, इस ओर से भी

बढ़े, भीतर से भी बढ़े, आखिर काम तो आयगी भीतर की बात, मगर उसके पाने का उपाय क्या है इस सम्बन्ध में, सो भाई व्यवहार संयम भी रखो और अन्तः ज्ञानाराधना बनाकर उस ज्ञानसंयम की अपनी योग्यता बनावें, सब तरह से अपने आपको तैयार रखें। इस जन्म व्याधि से अपने आपको मुक्त होना चाहिये।

(69)

निज सहज ज्ञानस्वरूपका मात्र जाननरूप परिणमन में संकट नहीं। कर्मविपाक के प्रतिफलन से सम्पर्क जुड़नेपर ज्ञानका विकल्पपरिणमन ही संकट है। कर्मविपाक और ज्ञानवृत्ति––इनमें भेदविज्ञान करना अमृतपान है।

संकटमुक्ति के अभिलाषियों को अवश्य ज्ञातव्य तीन बातें––संसार में संसारी जीवों पर संकट ही संकट छाये नजर आ रहे हैं, और सभी को यह आकांक्षा है कि मुझपर कोई संकट न रहे तो इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये तीन बातों का निर्णय आवश्यक है। संकट क्या है। संकट कहाँ नहीं है और संकट के मिटने का उपाय क्या है? जब तक सही मालूम न पड़े कि यह कहलाता है संकट, तो उस संकट को मिटाने की आकांक्षा ही कैसे बनेगी? और जब तब यह न मालूम हो कि संकट कहाँ नहीं है तो जहाँ संकट नहीं वहाँ पहुंचने का प्रयास कैसे किया जा सकेगा? और संकटों के मिटने का उपाय ही ज्ञात नहीं है तो संकटों के दूर करने का उपाय कैसे किया जा सकेगा? कारण कि जो संकटों से मुक्ति चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि वे इन तीन बातों का निर्णय कर लें। इस लोक में संकट क्या है? संकट किसे कहते हैं और यह संकट कहाँ नहीं है और इन संकटों से दूर होने का उपाय क्या है? इन तीन बातों का विवरण इस निबन्ध में किया गया है।

संकट का रूपण––अब पहले यह सोचो कि संकट क्या है, हम क्या हैं? उपयोग स्वरूप। मेरा काम जानने का है, जानने के अतिरिक्त और कुछ काम कर नहीं पाते। यह तो अज्ञान है, भ्रम है कि मैंने मकान बनाया, दुकान बनायी, लड़कों को पढ़ाया या जो–जो भी विकल्प किया, विकल्प ही है, जीव तो अमूर्त है, उपयोगरूप है, वह इन मूर्त बाह्य पदार्थों पर कर क्या सकेगा? जैसे आकाश कहीं परपदार्थों को चलाता नहीं और परपदार्थों के चलने से आकाश चलता नहीं, आकाश तो बाह्य पदार्थों से निराला ही स्वरूप रखता है, इसी प्रकार इन सब बाह्य पदार्थो से निराला ही मेरा स्वरूप है उपयोग रूप। तो यह बाह्य पदार्थों में कुछ नहीं कर सकता। यह तों अपना उपयोग परिणमन करता है। तो उपयोग का परिणमन जब विकल्परूप होता है, विकल्प किया, कल्पना किया कि मेरा यह अच्छा, यह बुरा, तो ज्ञानकी ही तो कोई प्रकार की परिणति बनी। तो जब ज्ञानका विकल्परूप परिणमन होता है तब वही संकट कहलाता है। भले ही यह जीव उस ज्ञानविकल्परूप परिणन से अनभिज्ञ है और उसे संकट समझ नहीं पाता तथा उस विकल्परूप परिणमन में जो बाह्य पदार्थ आश्रयभूत हुआ उस बाह्य पदार्थ के रहने, न रहने या किसी प्रकार परिणमने से यह संकट समझता है। वास्तव में तो उपयोग का ही विकल्परूपसे परिणमन हो जाना संकट कहलाता है।

विकल्परूपसे परिणमन की निष्पत्ति का कारण––अब इस बात पर विचार करे कि ज्ञान का विकल्परूप परिणमन होता क्यों है? जब ज्ञान ज्ञान है, एक ज्योति है, एक प्रतिभास होने रूप इसमें विकल्प और संकट क्यों बन जाते हैं? तो पहले यह जानना होगा कि यह जीव मात्र अपने आपके निमित्त से यह विकल्परूप या संकटरूप नहीं बनता, क्योंकि वस्तुमें यह स्वभाव ही नहीं है कि कोई वस्तु अपने आपसे अपने में परकी अपेक्षा न करके विकल्परूप परिणम जाए, ऐसा वस्तुमें विकार का स्वरूप नहीं हैं, तो यह समझना होगा कि मुझमें किसी अन्य पदार्थ का या अन्य भावका सम्पर्क जुड़ गया, सम्बन्ध बन गया,

जिससे कि यह विकल्पजाल उठता है तो उस सम्बन्ध के भी दो किस्म हैं––एक तो किसी परवस्तु का सम्बन्ध और दूसरा है अपने उपयोग में किसी प्रतिफलनका, माया का सम्पर्क। तो देखो यहाँ जो अनादिकाल से कर्मबन्धन चले आये, इस जीवने पूर्वकाल में जो कर्म बांधा उस कर्म का तो है इसके साथ संयोग सम्बन्ध। यह हुआ परद्रव्यों का सम्पर्क। और उस कर्मका जब अनुभाग खिलता है तो उस अनुभाग का प्रतिफलन हुआ उपयोग में तो अब कर्मविपाक के प्रतिफलन का सम्पर्क जुड़ गया उपयोग में, बस यह है मूल कारण कि जीव के विकल्परूप संकट उत्पन्न होते हैं।

अब यहाँ दो बातें निरखनी हैं कि मेरा स्वभाव तो है प्रतिफलन उपयोग, प्रतिबिम्ब, विकल्प संकट से रहित और कर्म उपाधिका सम्बन्ध है। इस कारण ये सारी विपत्तियाँ चल रही हैं। जब इस प्रकार देखते हैं कि मैं तो हूं अविकारस्वरूप और इसमें कर्मविपाकका प्रतिफलन हुआ है तो मार्ग मिलता है कि यह प्रतिफलन तो परभाव है। उससे उपेक्षा करके निज अविकार स्वभावको निरखना चाहिए। यह बात मिलती है, संकट कैसे होता है इसका निर्णय वाले ज्ञानमें? अच्छा तो संकट तो हुआ इस तरह के कर्मविपाक का प्रतिफलन। और उस प्रतिफलन का उपयोग में सम्पर्क जुड़ा, उपयोग ने नहीं जोड़ा सम्पर्क, किन्तु जुड़ गया। जैसे अजीव अजीव पदार्थों में कोई पदार्थ अपना सम्बन्ध जोड़ता नहीं, किन्तु जुड़ जाता है। तो यों उपयोग में कर्मविपाक के प्रतिफलन का सम्पर्क जुड़ा तब ज्ञान में विकल्परूप संकट बन गया।

संकट से विविक्त धाम का दिग्दर्शन––अब यहाँ देखिये कि यह संकट कहाँ नहीं है? यदि यह विश्वास हो कि यह संकट न रहे, ऐसी भी स्थिति बनती है तब तो संकट न रहे इसका उपाय किया जा सकता। तो है ऐसी स्थिति कि जहाँ विकल्परूप संकट नहीं होते। देखो ऐसी बात दो जगह में दिखती है––एक कार्यसमयसार अरहंतसिद्ध भगवानमें, वहाँ विकल्परूप संकट नहीं, मगर भगवान का आलम्बन तो हम नहीं कर सकते, क्योंकि वे परपदार्थ हैं। तो दूसरी बात देखिये अपने निजमें निज बस हुआ अन्त प्रकाशमान कारण समयसार। निज सहज ज्ञानस्वरूप मात्र का जानन जब होता है तब समयसारका परिचय होता है तो वहाँ रह जाता है मात्र जाननरूप परिणमन। तो ऐसे अपने स्वभावके अवलबन से होने वाले उपयोग के परिणमन में कोई संकट नहीं है। देखो जहाँ संकट नहीं है वहाँ अपनी गति हो सकती है। ज्ञान द्वारा ही तो ज्ञानस्वरूप प्रतिभासित होता है कि यह मैं सहज ज्ञानस्वरूप अपने आपके सत्त्वके ही कारण खुद जो बन रहा है उस स्वरूपमें विकार नहीं है, कष्ट नहीं है, प्रतिफलन नहीं है। वहाँ तो केवल एक जाननरूप वृत्ति चलती है। देखो भले ही उपयोग में विकल्प कष्ट चल रहा है, मगर उसकी यहाँ मना ही की जा रही है। दृष्टिबल ही तो है ऐसा। जब अन्तर्दृष्टि करके अपने आपमें सहज ज्ञानस्वरूप का अवलोकन हुआ तो उसमें नियमसे संकटरहित स्थिति होती है।

संकट से छुटकारा पाने के उपाय में कर्तव्य––यहाँ तक समझें कि संकट क्या है और संकट कहाँ नहीं है? इन दो बातों को जानकर अपने को क्या करना चाहिए कि संकट वाली स्थिति से हटकर संकटरहित स्थिति में पहुंचे, ज्ञानकी चेष्टा, ज्ञानका व्यापार, यों कर्मविपाक और ज्ञानवृत्ति का भेदविज्ञान करना–यह है उपाय संकटों के दूर करने का। इस उपाय को करने का नाम है अमृतपान करना। कर्मविपाक अजीव है और ज्ञानवृत्ति निज चेतना की वृत्ति है। इन दोनों में तो बहुत अन्तर है। उस अन्तर को समझें और उस अन्तर का ज्ञान में प्रयोग करें तो संसार के विकल्पजन्य संकट हटते हैं और निःसंकट आत्मस्वरूपमें अपना प्रवेश होता है, यह कहलाता है अमृतपान। इस आत्ममग्नतारूप अमृत के पीने से, इस भेदविज्ञान के करने से स्पष्ट अन्तर आता है और आपके स्वरूपका

आलम्बन मिलता है। वह अमृतपान ही कहलायेगा जिसका पान करके जीव अमर हो जाता है। तो वह अमृत कहीं बाहर नहीं रखा, कोई फलसा या पानी सा हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि हो कोई ऐसा अमृतफल जिसको खाने से अमर हो सकते तो जब उसे खाया तो पहले तो वह ही बरबाद हुआ, मिटा, उसकी दुर्दशा हुई, तो जो स्वयं ही नष्ट हो वह मुझे क्या अमर कर सकेगा? पहले वह अमृत फल अपने आपको तो अमर करले, फिर दूसरे को अमर करने की बात बने। तो वह नहीं है अमृत। अमृत है अपने भीतर का ज्ञान जगे तो वही कहलाया अमृतपान। ऐसा अमृतपान करके उपयोग के विकल्परूप संकटको समाप्त कर देना चाहिए।

(70)

मुझे तो सिद्ध ही होना है, ऐसे निर्णय से संतोष मार्गपर विहार होने लगता है। परपदार्थ व परभावकी उपेक्षा होनेपर संतोष सुतराम् ही हो जाता है, साथ कुछ रहता नहीं संतोषबल से शान्त हो लो तो बुद्धिमानी है।

ज्ञानी का सिद्ध होने का प्रतिज्ञापन––यह जीव ऐसी स्थिति चाहता है कि जिसमें संतोष मिले, अपने संतोष को पाने के लिए ही जीव नाना प्रकार की चेष्टायें करता है, सो किया तो है सब कुछ, लेकिन संतोष तो न मिला, ऐसे सबके अपने अपने अनुभव बता रहे होंगे। बहुत बहुत चेष्टायें कर लेने पर भी संतोष प्राप्त न हुआ तब फिर कौन सा काम करना चाहिए जिससे कि संतोष प्राप्त हो? प्राप्त भी न हो, किन्तु संतोष मार्गपर चलने तो लगें, इतना ही कोई ज्ञानप्रकाश हो तो उस प्रकाश से अपने को सत्पथ मिलेगा। तो संतोषमार्गपर चलने के लिए क्या पौरुष चाहिए? सीधी बात यह है कि अपने में यह निर्णय होना चाहिए कि मुझे तो सिद्ध ही होना है। मुझे क्या होना है–इसकी बात हर एक जीव में बनी रहती है। रोजकी बात, महीने भर बाद की बात, वर्षों बाद की बात चित्त में अभी से समाई रहती है कि मुझे यह बनना है। अच्छा तो पहले संसार की सारी स्थितियों के बारे में विचार करलें के मुझे यह बनना है और उसका फल भी देख लो क्या संतोष मिल जायगा? न मिलेगा और सब जरा अपने भीतर में अपने इस अन्दर में पायी हुई प्रभुतासम्पन्न निज समयसार को देख लो और उसके दृढ़ निरखनसे बनते हैं सिद्ध भगवान। जैसे यहाँ यह अकेला स्वरूप है वैसे ही वह सिद्धालयमें अकेला स्वरूप है। सिद्ध होने में ही संकट मिटता है, संकट न रहे तब ही संतोष मिलता है तो यह निर्णय बनायें कि मुझे तो सिद्ध होना है और कुछ नहीं होना है और किसी फंदमें नहीं रहना है। मुझे तो सिद्ध ही होना है, ऐसा निर्णय जब आ जाता है तब उस जीव का संतोषमार्गपर विहार होने लगता है। सही मार्ग पर ले जाना ही एक सही उद्देश्य को पा लेनेकी निशानी है। चलना सरल हो जायगा जब हमें किसी मार्गपर चलना है। यह निर्णय बन जाय कि मार्ग यही है, उस पर जितना चलेंगे उतना ही संकट मुक्त होते जायेंगे और उतना ही दूर संसार होता जायगा। तो यह निर्णय बनायें पहले कि मुझे तो सिद्ध ही होना है। देखो इसके खिलाफ लोगों की कितनी भावनायें वासनायें रहती हैं? मुझे तो ऐसा सम्पन्न होना है, मुझे तो बाल–बच्चों वाला होना है, कितनी ही बातें चित्त में अज्ञानी जनों के बसी रहती हैं। तो जैसे अज्ञानी जन अपने आपमें बड़ी दृढ़ता के साथ अपने आशय के अनुरूप संकल्प बनाते हैं, पर्यायको आपा मानते हैं तो वे ऐसा मानते तो मानने दो, किन्तु ज्ञानी पुरुष तो अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान सहज स्वभावरूपसे अपना निर्णय रखते हैं और विकास की याने सिद्ध होने की भावना रखते हैं तो उसका संतोष मार्गपर विहार होने लगता।

संतोष का साधन पर व परभाव की उपेक्षा––अब देखिये, संतोष मार्गपर आये ही हैं कि सब कुछ अनांकुलता की विधि दिख गई और जब संतोष मार्गपर विहार होने लगा तो

इस जीवकासम्यक्त्व दृढ़ हो जाता है। संतोष होता किस तरह है उसकी विधि एक है, जो परपदार्थ हैं अथवा परभाव हैं उनकी उपेक्षा हो जाय, ये मेरे नहीं, मेरे हितरूप नहीं, ऐसे पर और परभाव के विषय में उपेक्षा जग जाय तो संतोष स्वयं हो जाता है, पर और परभावकी उपेक्षा होनेसे संतोष क्यों होता है? यों होता है कि असंतोष का बीज वही था? पर पदार्थ की ओर लगाव करना और परभावकी ओर लगाव करना, यह ही संतोष में बाधक था। जहाँ यह लगाव दूर किया कि जीव में संतोष स्वयं स्वतः आ जाता है। असंतोष नहीं वहाँ संतोष है। संतोष नहीं वहाँ असंतोष है। यह स्थिति तो हुई साधारणतया गृहस्थजनों की और जहाँ उपेक्षा हुई वहाँ संतोष है, यह घटना बनती है बुद्धिमान जनों की।

अच्छा पर और परभावके लिए उपेक्षा क्यों नहीं करते? जिनसे हम परेशान हैं उनसे हमउ पेक्षा क्यों नहीं करते? करना चाहिए उपेक्षा। तब यह समझमें आयगी कि अनर्थ परपदार्थ में लगने से है। उनका लगाव मिटायें, संतोष स्वतः हो जायगा, और मोटी बात भी तो निरखते जावो, जब दुनिया के समागम में आये हुए पदार्थों में कुछ भी साथ नहीं रहना है तो क्यों नहीं संतोष करके शान्ति पाने की बुद्धिमानी में चलते? कल्पना से अपना लिया है कि यह मेरा है, अब इतना धन हो गया, इतनी बात हो गई, पर वस्तुतः इस जीव का सम्बन्ध नहीं है किसी से कुछ भी। यह तो अपने आपमें ही कल्पनायें करता और दुःखी होता है, साथ कुछ रहना तो है नहीं, कुछ दिन और जी लें, कुछ दिन और मौज करलें, मगर कुछ भी वस्तु सदा नहीं रहती और निजके स्वरूपमें किसी प्रकार की आकुलता नहीं है। तब हे अन्तःप्रभु, क्यों नहीं सन्तोष बल लगाते? सन्तोष लायें, शान्त होवें, इसी में अपनी बुद्धिमानी है, इसके लिए करें परपदार्थ और परभावसे उपेक्षा और उपेक्षा तब ही बनेगी जब अपना यह निर्णय बन जाय कि मुझे कुछ नहीं करना है, सिर्फ सिद्धभगवान होना है। सबसे निराला जो अपना ज्ञानस्वरूप है उसकी उपासना में ही सतत रहना चाहिए, यह निर्णय बनायें कि मुझे सिद्ध होना है और ये बीच के निर्णय मत रखें कि मुझे धनिक होना, विद्यावान होना, प्रतिष्ठावान होना आदिक विकल्प न रखें। मुझे तो सिद्ध ही होना है, यह एक परिज्ञान अपना रहेगा तो प्रोग्राम अनुरूप अपनी वृत्ति चलेगी, और यह मुक्ति स्वयं अपने आप होगी। कोई दूसरा मुक्ति दिलाने न आयगा। भगवान का स्मरण तो सदा मुक्त ज्ञायक स्वभावका परिचय पाने के लिए है। सन्तोष मिलेगा, साता मिलेगी, शान्ति मिलेगी तो अपने स्वभाव में 'यह मैं हुं, ज्ञानमात्र हूं' ऐसा अपने आप का निर्णय बनाये तो शान्ति मिलेगी।

(71)

कोई भी जीव वस्तुतः परपदार्थ से लागव कर ही नहीं सकता है। उपयोग में प्रतिफलित कर्मविपाक से ही लगाव बनाया जाता है। यह तो निजके घर की बात है, अपने स्वरूप को सम्हाल लो, सब सम्हल गया।

निज में विभाव के लगाव से निज की विडम्बना––हम आप संसारी जीव जो कुछ कष्ट में नजर आ रहे हैं तो ऐसा ही मालूम होता है कि हम किसी बाहरी चीज में अपना उपयोग लगाते हैं और कष्ट ही होता है याने जितने भी कष्ट हैं वे हम बाहरी पदार्थों में लगाव किए हैं इसका कष्ट है। किसी प्रकार का लगाव न हो, कोई भी बाह्य पदार्थ चित्त में न बसे तो क्या कोई कष्ट का रूप बन सकता है? कष्ट जब मनता है तो किसी न किसी बाहरी पदार्थ के विकल्प में कष्ट बनता है। न हो विकल्प तो कष्ट नहीं, ऐसा यद्यपि नजर आ रहा, फिर भी परमार्थदृष्टि से देखें तो किसी भी बाह्य पदार्थ में मेरा लगाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि भिन्न द्रव्य में भिन्न का लगाव नहीं बनता। मैं चेतन हूं, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हूं। बाहरी पदार्थ वे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है। मेरा उन पदार्थों

में लगाव कभी सम्भव नहीं है, फिर भी जो बोल जाते हैं कि बाह्य पदार्थ में लगाव रखने से कष्ट है। उसका अर्थ है कि बाह्य पदार्थ के बारे में अपने में विकल्प करके कष्ट किया जाता है। तो वास्तव में मेरा किसी बाह्य पदार्थ में लगाव नहीं ही सकता। तब फिर हमारा कहीं लगाव है क्या है या है ही नहीं। हाँ लगाव तो है, पर बाहरी पदार्थ में लगाव नहीं बनता। तो कहाँ है लागव? कर्म का उदय हुआ, कर्म में अनुभाग खिला, और उसका प्रतिफलन, प्रतिबम्ब उपयोग में आये तो हम लगाव रखते हैं उपयोग के प्रतिफलन से। सो यह भी लगाव हम जानकर नहीं करते, किन्तु ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि कर्म के अनुभाग का उपयोग में प्रतिफलन हुआ तो उसका प्रभाव अपने आपमें होता है, यों उपयोग लगता है। यहाँ एक बात और समझ लेनी है, भीतर में दो बातें हुईं––कर्मविपाक और कर्मविपाकका प्रतिफलन। सो विकार का लगाव तो प्रतिफलन में है, पर कर्मविपाक में नहीं, और उस प्रतिफलन में बुद्धिपूर्वक नहीं, किन्तु निमित्त उपादान में जितना सम्बन्ध होता है उस नाते से उस प्रतिफलन में लगाव है। बस जहाँ यह लगाव है वहां ही इस जीवको कष्ट होता है। यह लगाव कैसे मिटे?

निज की संभाल से निज की विडम्बना की समाप्ति––देखो किसी की बात कही जा रही है? क्या यह दूसरे गाँव की या दूसरे घर की बात कही जा रही है? अरे यह तो अपने खास निज घर की बात है, शरीर की भी बात नहीं है। शरीर भी पर घर है, पर निज के जीव के आत्मप्रदेश हैं वह निज घर की बात है। शरीर भी परघर है, पर उसके जो आत्मप्रदेश हैं वह निज घर की बात है। यहां ही प्रतिफलन है, यहां ही उपयोग का लगाव है, यहां ही तो परिणामका भोगना है, सब कुछ यहां हो रहा है। अपराध भी मुझमें, फल भी मुझमें, सर्व कुछ मेरे निज प्रदेश में हो रहा। तो जब यह अपने निज घर की ही बात है तो यहां क्यों न अपनी संभाल कर लूँ? घर को संभाल करना तो सरल है ना, परघर की संभाल नहीं कर सकते, पर अपने घरकी संभाल तो बन सकती। तो अपनाघर है अपने जीवका प्रदेश, जीवका स्वरूप, जीवका निज क्षेत्र। तो यहां ही अपनी संभालकर लीजिए। मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसा निर्णय करीं। इस ज्ञानस्वरूपमें ही अपना अनुभव करना, ऐसी संभाल अगर बन सकी तो समझ लीजिए कि सब संभल गया और एक अपने आपके स्वरूपकी संभाल न बने तब समझो कि मैंने कुछ भी नहीं संभाल पाया। तो अपना यह निर्णय बनायें कि मैं किसी बाह्य पदार्थ में लगता नहीं, किन्तु अपने से ही कषाय बना बनाकर मैं दुःखी होता हूं। सो कल्पना को छोड़ें और स्वयं सहज जो अपने में ज्ञानानन्दका अनुभव हुआ बस वही रहे तो वही संसार के समस्त संकटों के नष्ट करने का उपाय है।

(72)

ज्ञान में खेद असम्भव है, बाह्य से खेद आता नहीं। खेद तो उपयोग में प्रतिफलित कषाय के आग्रह से ही है। कषाय का आग्रह न करो, स्वरूपका आग्रह करो, खेद सब समाप्त।

अकषाय आत्मस्वरूपके मननसे खेदका समापन––खुद–खुदका तो अनुभव सब करते हैं, मगर यह तो बताओ कि खुदको पाला पोषा किसने है, खुद को उत्पन्न किसने किया, खुद पर छाया, छत्रछाया किसकी है? इस विषय में कुछ विचार तो करें। देखो ज्ञानमें खेद तो सम्भव नहीं, याने आत्मा में, आत्मस्वरूपमें खेद सम्भव नहीं है। वह तो प्रभुस्वरूप सो वह जानता रहे, देखता रहे, प्रतिभासता रहे, इतना ही काम है। तो जैसे खेदसे खिन्न रहते हैं लोग, जिसे खेदसे विडम्बना, आपत्ति और एक समस्या मानते हैं लोग वह खेद ज्ञानमें तो सम्भव है नहीं, और बाह्य से खेद आता नहीं, दोनों बातों को समझ लीजिए। मेरे आत्मा का जो स्वभाव है, स्वरूप है, प्रतिभासमात्र ज्ञानस्वरूप उसमें तो खेद है ही नहीं और बाहरी

पदार्थो से खेद आता नहीं। किसी ने देखा हो कभी किसी किसी बाह्य पदार्थ से खेद निकलकर जीव में आया हो और यह जीव उससे खिन्न हो रहा हो, ऐसा किसी ने देखा हो तो बताओ। होता ही नहीं। मैं ही स्वयं खेदरूप परिणाम जाता हूँ, अज्ञानरूप परिणम जाता हूँ। मगर मेरे स्वरूपमें खेद नहीं, स्वभावमें खेद है नहीं, और बाहर से खेद आता नहीं, तब समझने के लिए क्या समस्या उपस्थित होती है कि फिर यह खेद है क्या चीज? इसकी जड़ कहाँ है? हाँ नहीं है, कहीं जड़ नहीं है, कोई खास चीज नहीं है, फिर खेद का निर्माण कैसे हुआ? तो यों बना खेद कि जो कर्मोदय आते हैं उनमें कषायें जगती हैं, वे कषायें आत्मा में झलकीं और उस कषाय का कर लिया इस जीवने आग्रह। यह ही मैं हूं। इस भावसे ही मेरा बड़प्पन है। ऐसा इस जीवने कषाय में कर लिया एक अपनायत तो बस कल्पनासे यह उपयोग खेदरूप परिणम जाता है। तब यह खेद न रहे और आत्मा शान्त विश्राम में रहे, उसका उपाय है कुछ क्या है? हाँ उपाय। कषायों का आग्रह मत कर स्वरूपका आग्रह करें, आग्रह मायने हठ। आग्रह मायने उसको ही पकड़कर रह जाना। कषाय जगी, किसकी कषाय थी, किसका कषाय परिणाम था मूलमें? कर्मका। सो वह कर्म कहीं स्वरूप रूपसे कर्म नहीं है, किन्तु हमारे ही विभावका निमित्त पाकर वह कर्म बँध गया था। कब? खरबों वर्ष पहले और वे अनगिनते वर्ष पहले से बँधे–बँधे पड़े, और आज उनका उदय हुआ, विपाक झलका, तो वह क्या है? कषाय प्रकृति में कषाय थी, वह कषाय झलकी। उस कषायका इस जीवने कर लिया आग्रह। यह ही मैं हूँ, अज्ञानी जीव का कैसा आग्रह रहता है पर्याय में कि उसने एक क्षण भी तो तका नहीं कि यह हूं मैं विशुद्ध ज्ञानस्वरूप। तब लें तो सम्यग्दर्शन हो जाय, तो यह जीव अब तक कषायों का आग्रह करता आया, कषायों को नहीं छोड़ना चाहा। जैसे बिल्ली कोई शिकार कर ले, चूहा पकड़ ले तो लोग उसपर डंडा भी बरसाते, पर वह चूहे को नहीं छोड़ती, ऐसे ही संसारी जीवों ने कषायों का आग्रह करके एक दुःख पाया है और उस दुःख में इस पर डंडे बरषते हैं मायने अनेक विडम्बनायें विपत्तियाँ आती हैं, फिर यह मोही जीव कषायों का आग्रह किए है, कषायों को छोड़ नहीं सकता। यह ही विपत्ति का कारण है। कष्ट का कारण है कषाय छोड़ दें तो कष्ट न रहेगा। लेकिन जब अज्ञान छाया है। यह समझ बनाये हैं कि यह मेरा अमुक है, इसको मैं जानता हूं। ये सब मुझे पहचानते हैं। मेरे रंग में भंग न हो, ऐसा सोचकर जो कषायों का आग्रह किया जा रहा बस इसी से दुःख है। कषायों का आग्रह तज दें, स्वरूपका आग्रह करें, अर्थात् मैं क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायों रूप हूं ऐसा अपना अनुभव मत बनायें, मैं इन विकारों से भी रहित केवलज्ञानमात्र हूँ, यह भावना दृढ़ करें।

(73)

संकट तो है, मगर बहुत बड़ी उल्झन हो तो हिम्मत हारो। उल्झन तो अन्दर में बहुत नहीं, सिर्फ अभिमुखता के जरासे फेरकी है। प्रतिफलित कर्मविपाक के अभिमुख न होकर स्वभाव के अभिमुख होओ, उल्झन सब खत्म।

संकटरहित निज स्वरूपकी अभिमुखता में उलझनों की समाप्ति––सब जीवों को कष्टसे, संकट से दूर होने की बात मनमें पड़ी है। सभी सोचते कि कष्ट दूर हो, और उसके लिए प्रयत्न भी करते, मगर कष्ट दूर नहीं हो पाता, इसका कारण है? कारण तो वही है कि कर्म कर्मोदय में आये, उसका प्रतिफलन हुआ और यह जीव ज्ञानस्वरूपसे चिगा और मलीमस परिणति को अपनाता है, संकट बनते हैं। सो देखो संकट तो है, सब जीव अपने में कोई न कोई संकट लिए हुए हैं, किसी को सुख समृद्धि है तो भी वह संकट मानता है। किसी को कष्ट है, क्लेश है तो वह भी संकट मानता है। तो संकट तो है इस

संसार में, मगर यह संकट कोई बहुत बड़ी उल्झन नहीं है, अगर वह बहुंत बहुत बड़ी उलझन होती तो हिम्मत हारो कि अब मैं क्या कर सकता हूँ, मगर संकट का होना कोई बड़ी उल्झन नहीं। कैसे उल्झन नहीं सो परख लो अंदर में। उल्झन कहां है यहाँ बहुत? सिर्फ उपयोग की अभिमुखता पर आधारित है संकट, यह सब बड़ी उल्झन कुछ नहीं, उपयोग को बाहर में रखें, अभिमुख करें तब ही है उल्झन और अपने स्वरूपकी ओर अभिमुख करें तो उल्झन सब समाप्त हो जाती है तो कुछ बड़ी उल्झन तो नहीं है। कितना सरल काम है––इस उपयोग को बाहर में घुमावें तो संकट है, उल्झन है और अपने स्वरूपमें लगावें तो कष्टका काम नहीं, उल्झन कुछ है ही नहीं। तो अपनी उल्झन कोई खास नहीं है। हम आपमें केवल एक ज्ञानको अभिमुख करने भरकी कला है मूल में, तब फिर क्यों न अपने आपमें समाकर इस उल्झन को समाप्त कर दें। हो क्या रहा है अन्दर में कि यह विकार प्रतिफलित कर्मविपाक की ओर ही अभिमुख है याने उसके विषयभूत बाहरी पदार्थों में यह उपयोग लदा हुआ है। सो यही उल्झन है। कर्मविपाक जो कि आत्मा में झलका उस ओर मत बढ़ें, वहाँ उपयोग न लगावें, वहाँ अभिमुखता न हो और स्वभाव में अभिमुखता आये तो सारी उल्झन समाप्त हो जाती है, क्योंकि उल्झन कोई बाहर से नहीं आयी। भीतर में ही राग किया, द्वेष किया, इष्टबुद्धि की, किसी को अनिष्ट माना, ऐसा जब मैं अखंड ज्ञायकस्वरूप होकर भी धीरता नहीं रख पाता, बाहरी पदार्थों में उपयोग जोड़ते हैं, यही है अपने पर संकट और उल्झन। संकटरहित निज स्वरूपको संभालें तो उल्झन समाप्त।

संकटों में मूल भ्रम––देखो–जब तक भ्रम है तब तक संकट है। जहाँ भ्रम नहीं है वहां संकट नहीं रह सकता। जैसे एक दृष्टान्त लो––एक कुम्हारका गधा गुम गया था, वह अपने गधे को ढूँढ़ने निकला। उसी दिन हुआ क्या कि कुछ थोड़ी बरसात हो रही थी तो एक कच्चे घर में पुरुष बात कर रहे थे। घर में पानी टपक रहा था, चू रहा था। उसके बारे में बात कर रहे थे कि देखो उतना हमें शेर का डर नहीं है जितना हमें टपके का डर है। पानी टपक रहा या। यह बात सुन ली एक शेर ने कि हमसे बड़ा कोई टपका हुआ करता है, जिससे लोग तो डरते हैं और हम नहीं डरते। सो शेर कुछ भय खा गया कि टपका तो कोई मुझ से भी बड़ी चीज है। कहीं यह टपका मुझपर न आ जाय। तों यों घबड़ाया हुआ शेर बैठा हुआ रात्रिको 9–10 बजे और उसी समय वह कुम्हार अपने गधे को खोजता हुआ चला। डंडा हाथ में था, रस्सी भी साथ में लिए था। सो जैसे ही कुम्हार को कुछ नजर आया अंधेर में कि यह तो मालूम होता है कि गधा है, सो वह तो निःशंक होकर चला गया और उसके कान पकड़े। था तो शेर पर समझा गधा। जब समझा कि गधा है तो अब डर काहे का रहा? सो उसके कान पकड़े और शेर यों समझ बैठा कि लो मुझपर अब टपका आ गया, सो डरके मारे जैसा कुम्हार नचाये सो नचे। रस्सी से बांधा और चला। पहुंच गया जहाँ बहुत से गधे बंधा करते थे, वहां जाकर बँध गया, कायर बन गया और जहां कुछ उजेला हुआ और शेरने देखा कि अरे मैं तो यहां गधों के बीच में बंधा हुआ हूँ, ये तो सब गधे हैं, सो उसको ऐसा बल जगा कि भीतर की रस्सी–पस्सी सब तोड़कर छोड़कर छलंग मारकर जंगल में चला गया तो जैसे टपके का भ्रम लगने से शेर जैसा शूर भी कुम्हार के वश में पहुंच जाता है, ऐसे ही विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी परमात्मस्वरूप होने पर भी भ्रमवश यह अनेक विपत्तियां मानता है और दुःखी होता है। सो जितने भी दुःख होते हैं ये दुःख कोई उल्झन नहीं हैं। जब तक अपने स्वरूपको नहीं संभाला तभी तक ये उल्झनें कहलाती हैं। जहाँ अपना अनुभव किया कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, वहाँ फिर इसको कष्ट नहीं रहता। तो करने का काम यही है अहर्निश, इसीका उद्यम बनायें कि ऐसा

अनुभव जगे कि मैं तो सिर्फ ज्ञानमात्र हूं। जिस बच्चे पर संकट आता तो उसे माँ की खबर आ जाती और माँ की ही ओर भागता है, ऐसे ही जब जब भी अपने पर संकट आये तब तब अपने स्वरूपकी दृष्टि दें और उस स्वरूपकी ही शरण में पहुंचे तो संकट तो बाहर दुःख तो है और जब अन्तर में एक ज्ञानस्वरूप अपने आपको निरखा तो वहाँ कोई संकट नहीं। ऐसा ही अनुभव बने कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानघन हूँ, मै। सहज आनन्दमय हूँ, ऐसे अपने उस दर्शन ज्ञान चारित्र के विषय में कुछ चिन्तन करें, कष्ट दूर हो जायगा। तो देखो अपने आपमें हम पर कष्ट आये या आनन्द में हम रमें, यह जरासे फेरका फर्क है। इसमें कोई ज्यादह फेर की बात नहीं। बैट्री से अगर पूरब को उजेला है और उसे पश्चिम को करना है तो फर्क बहुत आयगा, फेर बनेगा बहुत, मगर आत्मा में उपयोग के फेर के लिये क्षेत्रान्तर का फेर नहीं बनता। कुछ जरा सा ही फेर है अभिमुखता का। तो जरा से फेर को समाप्त करें, अपने में अपना ज्ञानबल प्रकट करें, ये सब उल्झनें समाप्त हो जायेगी। इसमें चित्त देने के लिए मनुष्य जीवन नहीं है, किन्तु अपने स्वरूपका निर्णय करके उस ही में मग्न होने के लिए यह जीवन है।

(74)

श्राग तो दबी आग है जिससे अंदर–अंदर तो जलते रहते, बाहर मौज मानते। अन्दर की जलन व बाहर की मौज के कारण रागसे दोनों ओर से प्रगति में रुकावट रहती है। 'राग त्यागि पहुंचूँ निज धाम। आकुलता का फिर क्या काम?'

राग द्वेष की आग––अब यहाँ देखो जगत के जीव परेशान हो रहे हैं तो राग और द्वेष से। जब द्वेष पैदा होता है अन्तर में तो यह जीव बहुत संतप्त होता, झुलसे जाता और जब राग होता है किसी चीज के प्रति तो यह नहीं समझ पाता कि मैं झुलस रहा हूं, क्षुब्ध हो रहा हूं और हो रहा है दुःखी। तो बड़े दुःखों में भी मुकाबला बनायें कि जिस दुःख को हम दुःख मान लें और दुःख भोग रहे हों वह दुःख बड़ा है या जिस दुःखको हम दुःख ही नहीं समझ पा रहे हैं और दुःख में ही रम रहे हैं वह दुःख बड़ा है संसार का सुख दुःख ही है। उसको दुःख न मान सके कोई अज्ञानी और उस ही में लिप्त रहा करे तो यह तो दुःख भोगने से बुरी बला है। तो यहाँ यह बात जाननी है कि क्लेश होते हैं राग से और द्वेषसे, मगर राग तो है दबी आग और द्वेष है खुली ज्वाला। तो राग दबी आग है, तो इससे यह जीव अन्दर ही अन्दर झुलसता रहता है। इससे क्या स्थिति बनती है कि यह जीव बाहर में तो मौज मानते है और अन्दर में इसको बड़ी जलन उत्पन्न होती, आकुलता रहती, व्यग्रता रहती, हम दुःखी रहें और अपने को दुःखी न मालूम करें ऐसी स्थिति तो बड़ी भयंकर होती है। ऐसा हो सकता है क्या? हाँ होता ही तो है। जगत के जीवों को ऐसी बात बनती ही तो रहती है जैसे कि मिर्च से जीभ जल रही है और फिर भी मिर्च खाने में कष्ट नहीं मानते, उमंग रखते हैं और अधिक मिर्च की चाह करते हैं। यों ही समझ लो कि संसार के सुखों का जितना भोगना है वह सब है कष्ट क्लेश, पर उसे क्लेश नहीं मानते और उस ही सुख को पाने की तरस लगाये रहते हैं। तो देखो किसी के रागभावकी पकड़ हो, राग हो रहा हो तो दोनों ओर से इसके मोक्षमार्ग की रुकावट है। कैसी रुकावट कि राग होने पर बाहर में मौज मानते, सो बाहर से रुकावट हो गई। अन्दर में यह जल रहा है, व्यग्र हो रहा है सो यह अन्दर से मोक्षमार्ग की रुकावट है।

समता मृत सेवन से राग आग का शमन––रागभाव यह सचमुच आग है, यह जीवको जलाता रहता है। उसकी औषधि है समतारूपी अमृत। तो अमृत का पान करके इस राग के संताप को दूर कर दिया जाय तो फिर जीवको कष्टका नाम न रहेगा। भावना भायें––'राग त्यागि पहुंचूँ निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम?' राग को छोड़कर जो

मेरे में कर्मकृत विकार झलकता है उसकी अपनायत तजकर ज्ञान में आस्था न रखकर अगर यह मैं अपने धाम में पहुंचूँ याने मेरे स्वरूपमें अपने आप जो एक सहज प्रतिभास है उससे ही 'यह मैं हूं, ऐसा अनुभव करता रहूं तो वहाँ आकुलता का फिर क्या काम रहता है? हम करते हैं राग और दुखी होते हैं और राम को छोड़ नहीं सकते। बच्चों के कारण भी तो बहुत दुःख होता है कि नहीं सुबह से शाम तक? और देखो तब ही बच्चे को पीटते भी रहते हैं, झल्लाते भी रहते हैं, गाली देते रहते हैं, कष्ट ही कष्ट तो पाते हैं। पर भीतर में राग। अगर राम न हो और ऐसा कष्ट मिले तो बच्चे को छोड़ देने में किसे हिचकिचाहट होती है दुःखी भी होते जाते और राग भी करते जाते, यह स्थिति होती है मोह दशा में। तो जब तक राग का परिहार न होगा, अपने आपके ज्ञान प्रकाश का अनुभव न होगा तब तक यह जीव अपने खास आराम में महल में नहीं पहुंच सकता। याने आत्मा की विशुद्ध परिणति रूप जो आनंदधाम हैं वहाँ नहीं पहुंचता और आकुलता भोगता रहता है। तो एक यह निर्णय बनावें कि मैं तो राग को छोड़कर अपने शान्तिधाम में पहुंचूँगा और मुझे अन्य किसी भी प्रकार की आवश्यकता नहीं है। सो इस दबी राग आग से छुटकारा पाकर अपने में अन्तः प्रकाशमान सह जज्ञानानन्द अमृत का पान करें और समग्र आकुलताओं से अपने को हटा लें। यह काम किया जा सके इस मनुष्यभवमें तो बुद्धिमानी है, और राग द्वेष मोह ये ही करते रहे, जैसे गधे, कुत्ते, सूकर आदि कर रहे हैं तो उससे इस मनुष्यभवमें कौनसी विलक्षणता समझी जाय? इसलिए निर्णय बनायें कि 'राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम।'

(75)

न इकतरफा क्रोध करो, न दुतरफा क्रोध करो, क्रोध करो ही नहीं। क्रोध से बुद्धि बिगड़ी है, बिगड़ी बुद्धि में विपदा आती है। अपने अविकार शान्तस्वरूपको ही अपना सर्वस्व समझकर इसी अन्तस्तत्त्व की भक्ति करो।

कषायों के आग्रह से हुई परेशानी से शान्ति विघात––आत्मा की भलाई शान्तिमें है और शान्ति मिलती है मुक्तिमें, अनाकुलता में और अनाकुलता का उपाय है अपने विशुद्ध सर्वविशुद्ध अर्थात् समस्त पर और परभावों से निराला जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपमें 'यह मैं हूँ' ऐसी भावना, ऐसा ज्ञान, ऐसा ही उपयोग बना रहे तो इस रत्नत्रय के प्रताप से भव–भवके बाँधे हुए कर्म दूर हो जाते और मुक्ति प्राप्त होती है, पर जो आत्मज्ञान, आत्माचरण की धुन बनाये है उसका जब पहले विषयवासना के वातावरण थे तो वह वातावरण बदलता है और व्यवहार चारित्र के वातावरण आते हैं अब जो अनिवारित है, आता ही है उसके प्रति विवाद कर लें और मूल में उद्देश्य को भूल जायें, एक तो यह जीवकी मुक्ति के मार्ग में विघ्न है। दूसरे तत्त्व को भूल जायेंः तीर्थ और तत्त्व–ये दो जब तक चलते रहेंगे तब तक सन्मार्ग मिलेगा। यदि तीर्थ को मिटा दें तो तत्त्व की पात्रता न रहेगी। तत्त्व को मिटा दें तो तीर्थ न चल सकेगा। जिसमें कि अनेक जीवों के कल्याण होने की सम्भावना हो। हाँ तो देखो अपने व्यवहार आचरण में चलते हुए, भीतर में अपने स्वरूपको निरखते हुए एक शान्ति में अपनी प्रगति करना, भगवान महावीर और अनेक तीर्थकर मुनिराज निर्वाण को प्राप्त हुए तो उनका आत्मा अब सदा के लिए शान्त निराकुल कल्याणमय हो जाता है, यही चीज हम आपको हो सकती है, पर इसमें कषाय का आग्रह कर लिया, इस कारण यह संसार में रुलता है। कषाय का आग्रह किया, क्रोधका आग्रह, क्रोधसे दुःखी होते जाते और उस क्रोध को ही पसन्द करते मानका आग्रह, जो मैंने समझा सो ठीक, मैं ही महान्, शेष सब तुच्छ। तो अपने आपकी पर्याय में अहंबुद्धि करके मानका आग्रह किया जाता है––छल, कपट, मायासे दुःखी हो रहे हैं कपटों की वजह से और उन

कपटों का जाल ही गूंथा जाता है। और लोभ का रंग कितना कि कोई धर्मप्रसंग हो अथवा कोई दीन दुःखी तड़फ रहा हो, ऐसा देखकर भी और पाये हुए फाल्तू पैसे का त्याग न कर सके, यह है लोभ का रंग। जिसको जितना पैसा मिला है वह फाल्तू है, मुफ्त है, आत्मा का उससे सम्बन्ध नहीं है। यह तो पूर्वकृत पुण्य कर्म का, कर्मविपाक का सम्बन्ध हो, जो समागम मिला उसमें क्या आत्मबुद्धि करना? तो यों यह जीव कषायों के आग्रह से परेशान है।

समाज पर वर्तमान दो संकट––कषायों के आग्रह की परेशानी कब छूटे? जब आत्मा में सद्बुद्धि आये, सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो, सुबुद्धि आये तो कषायों का आग्रह छूटेगा। यह बात मानकर चलें कि मेरा जिम्मेदार केवल मैं ही हूँ, अगल–बगल संग साथी दोस्ती आदिक का चक्कर न लगायें, क्योंकि मेरा कोई दूसरा मददगार नहीं। खूद के किए हुए कर्मोंका फल खुदको ही भोगना पड़ता है। तब अपने आपपर दया करके कषायों का आग्रह छोड़ना चाहिए। देखो आज समाजपर दो संकट छाये हैं एक तो छाया है संकट जिसे कहते हैं दहेज वह है लौकिक विरूप, जिसकी वजहसे समाज परेशान है। सभी घर–घर परेशान हैं। मगर वह बढ़ता ही जाता है। यह है लोभ के रंग की प्रकृति। दूसरा संकट छाया हैं यह कि कोई जैन साधुसंतजन व्रत लेवें, नियम लेवें तो उसे पापी कहकर घृणा करना, ऐसी कुबुद्धिक फैलाने वाला एक विभाग बन गया, यह उससे भी बड़ा संकट है। इन दो संकटों से समाज परेशान क्या, बरबाद होने वाला है। तो कुछ थोड़ा विचार करें, लोभ का रंग त्यागें। जो मिलता है सो भाग्य से मिलता है, जो नहीं मिलता सो नहीं मिलता। किसी दूसरे के देने से कहीं धन अधिक नहीं बढ़ जाता और दूसरा संकट टाल, मान कषाय का त्याग करें। गुरु, साधु संत व्रती तपस्वी समाज में न हों तो समाज में कोई आदर्श न मिलेगा और फिर ऐसे ही भटकते रहेंगे। तो ऐसे समय में भाई जो धर्म के विरुद्ध आग्रह करते हैं तो गृहस्थ होकर उसका तो कुछ उपाय करना ही पड़ेगा, मगर क्रोध के वशीभूत होकर उपाय न करें।

क्रोध परिहार की उपयोगिता––धर्म के विघात के विरुद्ध अपना उपाय तो बनावें, किन्तु किसी भी समय क्रोध न करना। न एक तरफ से क्रोध करें, दूसरा अन्याय करते हैं धर्म के विरुद्ध धर्मका विनाश करना चाहते हैं तो भी क्रोध न करें। शान्ति से जो उचित है वह अपना उपाय करें। प्रथम तो ऐसी भावना करें कि विरोधी जनों से सद्बुद्धि जगे ताकि उनके आत्मा का कल्याण ही और भावी जो अनेक संतानें होंगी उनका भी कल्याण हो। क्रोध जीव की बरबादी करने वाला भाव है। क्रोध किसी समय मत करें, विवके करें, विवके से अपने आप की रक्षा, समाज की रक्षा, धर्मकी रक्षा का उपाय करें, एक तो होता है आधार में धर्मका अनुराग, जो आधार हो वही प्रसंग कहलाता है। तो धर्म के प्रेम से, धर्म के अनुराग में आकर सब कुछ करें। क्रोध भी आयगा, किन्तु धर्म प्रसंग के आधार में है वह। पर मूल में एक क्रोध का ही लक्ष्य बनाकर मत करें। अपना जगत में कोई बैरी नहीं है। सर्व जीव समान हैं, पर जब कुबुद्धि छा जाती है किसी पर तो उसको उल्टा ही उल्टा सूझता है। फिर देव, शास्त्र, गुरुका विनय नहीं रहता है। अपने आपकी पर्याय का अभिमान हो जाता है, तो यह सब कर्म की लाला है। किसी जीव का अपराध नहीं है वह अपने स्वभावसे, ऐसा जानकर भीतर में सबसके प्रति क्षमा रखें और हाँ धर्म का विछोह हो, धर्मका नाश हो, विध्वंस हो तो वहाँ अपने कर्तव्य का पालन करें, क्योंकि धर्म के विध्वंश के समय कर्तव्य का पालन न करें यह कहलाता है कायरता और क्रोध मूल में रखकर कोई बात करे तो वह कहलाता है अविवेक। न तो अविवेक बनावें और न कायरता बनावें। मूल में क्रोध न करें, क्योंकि भीतर में यदि क्रोध का अंधेरा छा गया तो उसमें बुद्धि बिगड़ती है और बुद्धि

बिगड़ने में विपदा आती है। तो कषायों से बचने का उपाय क्या है? तो मूल उपाय है अवकार शान्तस्वरूपको ही अपना सर्वस्व समझें, उससे प्रति रखें और उस अंतस्तत्व की भक्ति करें।

(76)

इष्ट के अलाभ में होने वाले विपदा से इष्टलाभ में होने वाला मौज अधिक भयंकर है। विषाद में तो आत्मप्रभु की सुध रह सकती, मौत में प्रभु की सुध नहीं रहती। जहाँ आत्मप्रभु की सुध नहीं वहाँ भव–भव में रुलाने वाला कर्मबन्ध होता है।

इष्टलाभजन्य विषाद से इष्टलाभजन्य मौज की अधिक भयंकरता––देखो अनादिकाल से भटकते भटकते आज हम मनुष्यभवमें आये, इससे पहले अनेक भव पाये, सभी भवों में विषयों के साधन मिले, उन कषायों के साधनों में इष्ट बुद्धिकी, उन विषयों के साधनों में उपयोग लगा कर मौज माना, वही करते आये भव–भवमें और इस इष्टबुद्धि में बाधा हुई तो क्रोध किया, बस यही रागद्वेष की संतति में अनन्त भव बिता डाले, इष्ट न मिले तो खेद किया, इष्ट मिले तो मौज किया, बस ये दो ही व्यापार अनादि से इस जीव के चले आये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य व्यवसाय कुछ सीख ही नहीं पाया, भले ही मुखसे बोले, अमुक व्यापार करते, ये सैकड़ों तरह के धंधे, मगर सैकड़ों तरह के धंधे नहीं कर रहा यह। यह तो दो ही धंधों में लगा है। यह जीव ही समय रात दिन कोई अपनी मनचाही चीज मिल जाय तो मौज मानता और मनमानी चीज में बाधा आये तो विषाद मानता, बस ये ही दो धंधे करता आया यह। तो इसमें बतलावो कौनसा धंधा बढ़िया है जिसमें इस जीवको नफा मिलता हो? इष्ट का लाभ मिले, मौज मिले यह धंधा अच्छा है क्या? अथवा इष्ट चीज न मिले, विषाद हो रहा, यह धंधा अच्छा है। प्रायः करके लोग जल्दी में यह कह सकते हैं कि इष्ट का लाभ मिले, शान्ति आये आनन्द मिले, मौज मिले, यह धंधा अच्छा है, और इष्ट न मिले, वहाँ विषाद रहे यह धंधा अच्छा नहीं लेकिन विचार करके समझें तो दोनों ही धंधे नुकसान के हैं इस जीव के लिये। इष्ट चीज के मिलने से मौज मानते हैं यह भी नुकसान वाला धंधा है और इष्ट के न मिलने से विषाद हो यह भी धंधा नुकसान का है, क्योंकि आकुलता दोनों में है। मौज की आकुलता तो ऐसी भयानक है कि आकुलित होते जोते और आकुलता का पता नहीं पाड़ते और विषाद का धंधा प्रकट आकुलता का धंधा है। फिर भी यदि मुकाबला करें तो इष्ट चीज न मिलने से होने वाले विषाद के धंधे से बुरा है इष्ट के लाभ होने पर होने वाले मौज का धंधा क्योंकि मौज के धंधे में प्रभु की सुध नहीं रहती, आत्मा की सुध नहीं रहती। जहाँ ज्ञान की, आत्मा की सुध न रहे वह धंधा बहुत विकट भयंकर है, भव–भवमें रुलाने वाला है, अनेक दुर्गतियों में जन्म लेने का कारण है और इष्ट के अलाभ में जो विषाद हुआ उस विषाद के समय में इस जीव को प्रभु की सुध होती है।

इष्ट लाभ में मौजमस्त होने के कारण प्रभुता की बेसुधी का महान् उत्पादत––अच्छा थोड़ा मोटी बात यहीं की विचार लो––किसी गृहस्थ को यदि घरके कोई झंझट लद गए, कोई विपदा आ गई तो देखो मन्दिर में आकर प्रभुमूर्ति को देखकर कैसा अनुराग बनता है? एक लगन हो जाती। होती है इस भावसे कि हे प्रभु मेरा दुःख मिटा दो, दुःख आने पर आते तो हैं मन्दिर में, बड़ी भक्ति में लगते तो हैं। कोई विरले ही होते हैं ऐसे कि जो सुख में प्रभु भक्ति में बहुत समय बितायें। जो सुख में भी प्रभु भक्ति में अपना समय बिताये ऐसा पुरुष धन्य है। प्रायः करके यह देखा जाता कि लोग दुःख आने पर प्रभु के गुणगान में भारी समय देते हैं और सुख आ जाय, बाधा मिट जाय तो प्रभु की सुध भी नहीं लेते। तो देखो जो ज्ञानकी सुध कराये, प्रभुकी सुध करावे, कठिन कर्मबंधन को रोक दे, ऐसा जो विषाद का धंधा है वह तो कुछ अच्छा है, पर इष्ट चीज के मिलने पर जो मौज माना जाता

है वह मौजका धंधा इस जीव को अच्छा नहीं। जो लोग मौज में मस्त रहे हैं उनको बड़े बुरे दिन देखने पड़ते हैं, क्योंकि मौज रहता कब तक? किसी भी तरह का मौज मान लें तो वह मौज कब तक रहेगा? चीज मिटेगी, तुम मिटोगे, वियोग होगा, कल्पना जगेगी और पहले मौज पाया उसका स्मरण होगा, तो जो वर्षों मौज पाया है उस सबकी कसर 5–7 मिनट में निकल जायेगी। इतना विषाद होगा, इतना संक्लेष होगा कि वह सारे मौज में मस्त होने की कसर 5 मिनट में अतिसंक्लेशरूप में निखर जायगी। मौज में मस्त होना भला नहीं है। इस मौज के साधन को मानो यह कर्मविपाक है, कर्म लीला है। समागम मिला है मुझको फंसाने के लिये, तो देखो इष्ट के न मिलने पर होने वाले विषाद से कहीं बुरा है इष्ट के मिलने पर होने वाला मौज। मोह में ज्ञानकी सुध नहीं, अपनी सुध नहीं, प्रभु की सुध नहीं रहती। वहाँ विकट क्रर्मबन्ध होता है।

पाप से दूर रहने में ही लाभ––देखो हम चाहे छुपकर पाप करें, प्रकट पाप करें, जहाँ दुर्वासना है, दुर्भावना है वहाँ कर्मबन्ध अवश्य है और जो कर्म बंध जाते हैं वे भोगे बिना नहीं टलते हैं। किसी बिरले महात्मा संतका अधिक समाधिभाव बन जाय तो भले ही कर्म संक्रान्त होकर निर्जरा को प्राप्त हो जायें, मगर यह तो समझो लाखों में एक की बात, किन्तु जो कम बाँधे हैं वे कर्म भोगने अवश्य पड़ते हैं। मोही पुरुष यह मानते हैं कि मुझको तो बहुत मौज है, दुःख आ ही नहीं सकता, क्योंकि मैं बहुत ही भला हूँ, बढ़िया हूं, सुख है पुण्य का उदय है, मगर कलका भी भरोसा नहीं कि यह पुण्य टिकेगा या नहीं। पता नहीं कब कैसी विपत्ति आ जाय, कुछ से कुछ हो जाय, इसलिये कर्मबन्ध से अवश्य डरो। औश्र कभी भी पाप भाव, विषयों का भाव मत करो विषयों को देखकर हर्ष न मानी, उन विषयों को देखकर पापमयी भावके समर्थन के भाव मत बनाओ, नही ंतो विकट कर्मबन्ध होगा और उसका फल इसको ही भोगना पड़ेगा। सर्व जीवों में मित्रता का भाव रखें, भीतर में सब जीवों का स्वरूप एक समान समझें, स्वरूपकी भूल न करें। संसार में कुछ भी चीज उपादेय नहीं है जिसके लिए मायाचार छल कपट बनाया जाय और लोभ के परिहार करने में तो ऐसे कौतूहली बनें कि जरूरत समझें, आवश्यक समझे ंतो उसका परित्याग करें धर्मके काम और जीवों के उपकार के लिये। एक ऐसा निःसंग बनें भीतर में कि कुछ विचार मत करें कि मैं इसको त्याग दूंगा तो मेरे को कमी पड़ जायगी। जैसे बहुतसे खेल देखे वैसे ही एक यह भी खेल देख लो, मरने पर तो छूट ही जाता है, जरा जिन्दगी में ही उसका खेल बना लो। उसके लोभ त्याग की मौज मानने की और न जाने क्या क्या बातें गुजर सकती है? क्या मैं दुःखी हो सकता हूँ, अथवा नहीं, ये सारी बातें देख तो डालो, मरने पर छूटेगा तो वह तो विवश होकर छूटेगा, पर अपने जीवन में इतना उदारता का भाव लावो कि जिसका सुफल इसी भवमें मिले, भविष्य भी अच्छा बने।

सदभावनाओं के कषायरंग तज कर शानतस्वरूपमें मग्न होने का संदेश––देखो–– कषायों का रंग त्यागकर अपने आपके अविकार स्वरूपको निरखकर अपने को शानत बनावें। चार भावनायें जो आचार्य संतों ने कहा है––1–मैत्रीभाव, 2–प्रमोदभाव, 3–कारुण्यभाव और 4–माध्यस्थ्यभाव, इन भावनाओं का पूरा पालन करें। सर्वजीवों को जब भी देखें तब एकबार यह जरूर सोचलें कि इसका सहजस्वरूप वही है जो मेरा है। गुणियों को देखकर, संयम, व्रत, पालनकरनहार को देखकर प्रमोद लावे, हर्ष लावें, मार्ग तो यही है, इसके विपरीत अन्याय करें, पाप करें–अथवा गुणी जनों को देखकर गाली दें घृणा करें तो इससे बड़ा विकट कर्मबन्ध होता है। भले ही कुछ पुण्य का उदय हो सो अभी पता नहीं पड़ता, लेकिन जब कर्मोंदय आयगा तब सब सामने आयेगा और पछताएगा। व्यर्थ की क्रियायें हैं, खोटी क्रियायें हैं जब एक अजैन साधु को देखकर आप गाली नहीं दे सकते,

उन्हें पापी नहीं कह सकते और बल्कि उनके हाथ भी जोड़ने लगते और एक यहाँ जैन व्रती, त्यागी, साधुसंत कोई हो उससे नाक भौं सिकोड़ना, घृणा करना, पापी कहना, निरन्तर चित्त में यह कैसे दुःखी हो, यह कैसे टले आदि खोटी–खोटी भावनायें बनाना और ऐसी भावनाओं में सहयोग देना, भला सोचो तो सही कि यह अपने लिये कितनी कलंक की बात है? पश्चिमी अत्यात्मकी खोटी वासना में न बह जावे, क्रोधभाव न लायें, गुणियों को देखकर हर्ष मानें, कोई न करे तो न करे मगर खुद की जिम्मेदारी तो समझें। खुदका किया हुआ खुदको ही भोगना पड़ता है। दीन दुखियों को देखकर करुणाभाव चित्तमें लायें, दया लायें। यदि बन सके तो उसका दुःख दूर करें। जो ऐसा भाव भी बना रहा हो तो वह भी कुछ शानत परिणाम में आयेगा और जो अविवेकी है, कुबुद्धि जिनके छायी हुई है उनमें माध्यस्थभाव रखें, संसार से विरक्ति लावें शरीर से वैराग्य लायें, संसार का स्वभाव विचारें, ऐसे कुछ शुद्ध चिन्तन में आवें और पाये हुए इस दुर्लभ मानवजीवन को सफल करें। इगर हमने इस जीवन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र और इनके आराधक महान पुरुष संतों की आस्था की तो हम इस जीवन को पवित्र बना सकेगे और यदि हमने रत्नत्रय और रत्नत्रय के धारक पुरुषों के प्रति विरोध किया, विद्वेष किया तो जैसे अनेक भव गुजार डाले व्यर्थ, ऐसे ही यह भव भी व्यर्थ गुजर जायगा।

(77)

समस्त बाह्य पदार्थों से उपयोग का एकदम कटाव कर दो। उपयोग में ज्ञानमात्र अंतः सहजस्वरूप ही प्रतिभासने दो। भव–भव में क्लेश सहते रहना अच्छा नहीं, ज्ञानमग्न होकर भवरहित हो जाओ।

(78)

द्वेष वाला व्यवहार विपत्ति करता है, राग वाला व्यवहार विडम्बना करता है। विपत्ति और विडम्बना दोनों ही संक्लेशहेतु होने से अहित हैं। अन्तस्तत्त्व को निरखो, रागद्वेष से हटो, ज्ञानमग्न होओ, यह समाधि ही सत्य सम्पदा है।

।। सहजानन्द ज्ञानामृत प्रवचन समाप्त।।